हिन्दी सन्त साहित्य

डॉ· त्रिलोकी नारायण दीक्षित

सन्त साहित्य अपनी विभिन्न विशेषताओं के कारण हिन्दी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। लोक-संस्कृति का इसमें अतीव सजीव चित्रण उपलब्ध है। मानवतावादी तत्त्व के सुष्ठु एवं सुन्दर चित्रण में तो सन्त-साहित्य अद्वितीय ही है। सन्त-दर्शन की विवेचना की ओर तो अनेक विद्वानों का ध्यान गया है, परन्तु उनकी काव्य-कला का सम्यक् मूल्यांकन अभी तक नहीं हो पाया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित ने इसी दिशा में एक स्तुत्य प्रयत्न किया है। इस ग्रन्थ में सन्तों का काव्यादर्श, सन्त काव्य में अप्रस्तुत योजना, कल्पना-तत्त्व, सन्तों की भाषा, उनकी प्रतीक-योजना आदि पर आलोचनात्मक दृष्टि से विवेचन किया गया है।

मूल्य : ९.०० रुपये

हिन्दी सन्त-साहित्य

हिन्दी सन्त-साहित्य

त्रिलोकीनारायण दीक्षित
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०,
प्रोफेसर, भारतीय भाषा विभाग,
मास्को विश्वविद्यालय,
मास्को

राजकमल

राजकमल प्रकाशन

प्रथम संस्करण, १९६३

मूल्य ९)

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली–६
शाखा—लिंक हाउस, मथुरा रोड, नई दिल्ली–१
साइन्स कालेज के सामने, पटना–६
मुद्रक : ओमप्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, ५८४५–१८

सन्त-काव्य एवं सन्त-दर्शन

के

मर्मज्ञ आचार्य

डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी

को

सादर, सप्रेम, समर्पित

जो ऊगै सो अत्थवै, फूलै सो कुम्हिलाय।
जो चुनिये सो ढहि परै, जामै सो मरि जाय॥ कबीर

बड़ा भया तो क्या भया जैसे पेड़ खजूर।
पंछी को छाया नहीं, फल लागै अति दूर॥ कबीर

मारग चलते जो गिरै, ताको नाहीं दोस।
कह कबीर बैठा रहै, ताके सिर करड़े कोस॥ कबीर

भोरे भोरे तन करै, वंडै करि कुरबाण।
मीठा कौड़ा ना लगै, दादू तौहूँ साँण॥ दादू

जो तेरे घट प्रेम है, तो कहि कहि न सुनाव।
अंतरजामी जानिहै, अंतरगत का भाव॥ मलूकदास

साध पुरुष देखी कहैं, सुनी कहै नहिं कोय।
कानों सुनी सो झूठ सब, देखो सांची होय॥ दरियासाहब

समझ विचारे बोलना, समझ विचारे चाल।
समझ विचारे जागना, समझ विचारे ख्याल॥ गरीबदास

पलटू यहि संसार में, कोउ नाहीं हीत।
सोऊ वैरी होत है, जाको दीजै प्रीत॥ पलटूसाहब

बड़े बड़ाई में भुले, छोटे हैं सरदार।
पलटू मीठो कूच जल, समुंद पड़ा है खार॥ पलटूसाहब

पलटू मैं रोवन लगा, जरौ जगत की रीति।
जहँ देखौं तहँ कपट है, कासों कीजै प्रीति॥ पलटूसाहब

प्राक्कथन

सन्त-साहित्य अपनी विभिन्न विशेषताओं के कारण हिन्दी-साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सरलता, सरसता, स्वाभाविकता और अकृत्रिमता की दृष्टि में यह अद्वितीय है। लोक-संस्कृति का इसमें सजीव चित्रण सम्प्राप्त होता है। मानवतावादी तत्व का जितना सुष्ठु एवं सुन्दर चित्रण सन्त-साहित्य में है, वैसा हिन्दी-साहित्य में अन्यत्र नहीं। सन्तों की अहिंसा भावना, निर्गुण राम तथा नामादि की महत्ता ने महात्मा गान्धी को भी अत्यधिक प्रभावित किया। सन्त-काव्य में उपनिषदों का ज्ञान अत्यन्त सरल भाषा, सुबोध अप्रस्तुत योजना तथा सुचारु शैली में अभिव्यक्त हुआ है। साधना, सिद्धान्त तथा संस्कृति का अध्ययन करनेवाले विद्वानों के लिए इस साहित्य में महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होगी। प्रसन्नता की बात है कि सन्त-दर्शन का अध्ययन अनेक सूत्रों के द्वारा आजकल सम्पन्न हो रहा है। इस दिशा के अग्रदूत थे डॉ० पीताम्बरदत्त वडथ्वाल। उनके अथक परिश्रम से यह पथ परिष्कृत हो गया। आज प्रायः प्रत्येक विश्वविद्यालय में सन्त-साहित्य पर अनुसन्धान कार्य हो रहा है। डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० रामकुमार वर्मा, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, डॉ० विनयमोहन शर्मा, प्रभृति विद्वान इस दिशा में बहुत महत्वपूर्ण योगदान कर रहे हैं। आशा है, भविष्य में अनेक अन्य अभावों की पूर्ति हो सकेगी।

सन्त-दर्शन की विवेचन की ओर विद्वानों का ध्यान विशेष रूप से गया है। परन्तु काव्य-कला की दृष्टि से सन्तों की कविता का मूल्यांकन सम्यक् रूप से नहीं हो पाया है। प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणयन इसी दृष्टि से किया गया है। इसमें सन्त-मत या सन्त-दर्शन का विवेचन करके काव्य-कला की दृष्टि से सन्तों के साहित्य का विवेचन हुआ है। यहाँ सन्तों के काव्यादर्श, सन्त-काव्य में अप्रस्तुत योजना, कल्पना-तत्व, सन्तों की भाषा, सन्तों की प्रतीक योजना आदि का आलोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत करना लेखक का दृष्टिकोण रहा है। आशा है कि इन विषयों की ओर विद्वानों का ध्यान जायगा और भविष्य में उनकी रचनात्मक प्रतिभा इस क्षेत्र को भी आलोकित करेगी।

इस पुस्तक की रचना प्रायः ५ वर्ष पूर्व हो चुकी थी। इसे पाठकों तक पहुँचाने का समस्त श्रेय श्री ओंप्रकाश जी को है। एतदर्थ उन्हें अनेकानेक धन्यवाद।

डॉ० सावित्री शुक्ल, डॉ० हरस्वरूप माथुर, डॉ० शान्तिस्वरूप त्रिपाठी, श्री राजेन्द्रप्रसाद श्रीवास्तव, श्रीमती उषा भार्गव ने समय-समय पर सहायता देकर इस ग्रन्थ को सर्वाङ्गीण सम्पन्न बनाने में सहायता दी। लेखक उनके प्रति कृतज्ञ है।

मास्को विश्वविद्यालय,
मास्को
१ मई, १९६३ ई०

—त्रिलोकीनारायण दीक्षित

सूची

प्रथम परिच्छेद

समकालीन परिस्थितियाँ

मानव का निर्माण एवं विकास समाज में होता है। समाज के वातावरण द्वारा वह प्रभावित होता है। समाज पर उन तात्कालिक राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। कवि समाज का सर्वाधिक अनुभवशील एवं चेतनशील प्राणी होता है। उस पर सब परिस्थितियों का प्रभाव सर्वाधिक होता है तथा उसकी प्रतिक्रिया उसकी रचनाओं में परिलक्षित एवं प्रतिबिम्बित होती है। अतः किसी साहित्यकार की कृतियों का अध्ययन करने हेतु उस समय की परिस्थितियों का अध्ययन करना अत्यावश्यक है।

राजनीतिक परिस्थितियाँ

तेरहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक अनेक निर्गुण-सन्त-कवियों का आविर्भाव हुआ, जिनमें से कबीर, दादू, नानक, सुन्दरदास, मलूकदास, जगजीवन साहब, भीखा साहब, बुल्ला साहब, दरिया साहब, यारी साहब तथा चरनदास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन कवियों की रचनाओं पर इन पाँच सौ वर्षों की परिस्थितियों का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

इन पाँच सौ वर्षों में भारत पर अत्यधिक आक्रमण हुए। फलस्वरूप भारतवर्ष की राजनीति का एक निश्चित रूप स्थिर न हो सका। यह युग अशान्ति तथा असंगतियों का युग था।

तेरहवीं शती से पूर्व भारत पर अरबों के अनेक आक्रमण हुए। खलीफ़ा उमर ने सन् ६३६-३७ में बम्बई के पास, मुहम्मद बिन कासिम ने ७१२ ई० में तथा सुबुक्तगीन ने सन् ९७६ के लगभग हमगान व सीस्तान की सीमा पर आक्रमण किया और जयपाल से घोर संघर्ष हुआ। उसने अतुल धनराशि लूटी एवं पेशावर को अपनी सीमा में मिला लिया। इन आक्रमणों से तुर्कों को ज्ञात हो गया कि भारत समृद्धिशाली एवं युद्धकला में अकुशल देश है। सुबुक्तगीन के बेटे महमूद गज़नवी ने भारत पर सत्रह आक्रमण किये। प्रथम एवं द्वितीय आक्रमण उसने सीमावर्ती नगरों पर तथा भटिंडा पर किये तथा हिन्दू-संस्कृति

को विनष्ट करने का हर प्रकार से प्रयास किया। तृतीय व चतुर्थ आक्रमण सन १००६ में मीरा और मुल्तान पर किये। तदनन्तर उसने सन् १००८, १००९ ई० में भारतवर्ष पर भीषण आक्रमण किये। इसका षष्टम आक्रमण (जिसमें आनन्दपाल से इसका भीषण युद्ध हुआ) भारत के इतिहास में परिवर्तनकारी अभियान था। तत्पश्चात् इसने थानेश्वर, कन्नौज, मथुरा, ग्वालियर आदि पर अनेक आक्रमण किए एवं रक्तपात किया। सन् १०२५ ई० में इसने अन्तिम तथा भयानक आक्रमण सोमनाथ के मन्दिर पर किया। इससे महमूद गज़नवी को अतुल धनराशि प्राप्त हुई और उसने भारतीय जनता को विनष्ट करने का हर प्रकार से प्रयत्न किया और भारतीय संस्कृति को नष्ट करने में कोई प्रयास अवशिष्ट न रखा।

इसके अनन्तर मुहम्मद ग़ोरी के रूप में भारत का दुर्भाग्य उदय हुआ। इसने सन् ११७५ में मुल्तान एवं गुजरात पर आक्रमण किया। सन् ११८३ तथा ११९१ ई० में उसने पंजाब, सिन्ध तथा सरहिन्द आदि प्रदेशों पर अधिकार किया। सन् ११९३ एवं ११९४ ई० में उसने क्रमशः पृथ्वीराज और जयपाल को बुरी तरह पराजित किया।

भारत पर सन् १२०६ से १२१० ई० तक गुलाम-वंश के बादशाह कुतुबुद्दीन ने राज्य किया। गुलाम-वंश के राज्य-काल में ही चंगेज़ख़ाँ का विनाशकारी आक्रमण हुआ। इस वंश के शासकों में बलबन अत्यन्त कठोर शासक था।

इसके पश्चात् खिलजी-वंश का उदय हुआ। इसका प्रमुख शासक अलाउद्दीन बहुत क्रूर व्यक्ति था। हिन्दुओं का उसने पूर्ण रूप से विनाश करने का प्रयत्न किया। वह धर्मान्ध था, परन्तु इस्लाम के धर्माधिकारियों पर भी उसने अपना प्रभुत्व जमाया, जिससे मुस्लिम-साम्राज्य की जड़ें और भी दृढ़ हो गईं। उसने १२९६ ई० में देवगिरि तथा दौलताबाद पर आक्रमण करके उन्हें भलीभाँति लूटा। सन् १२९८ ई० में दिल्ली पर मुग़ल सरदार ख्वाजा का आक्रमण हुआ। उसने अन्य कई राज्यों को भी पराजित किया।

खिलजी-वंश के अनन्तर भारतवर्ष पर तुग़लक-वंश का राज्य हुआ। इसके शासक फ़िरोज तुग़लक ने हिन्दुओं के प्रति धार्मिक कट्टरता का व्यवहार किया यद्यपि उसकी माता हिन्दू थी। फ़िरोज़शाह तुग़लक के पश्चात् कोई भी योग्य शासक इस वंश में नहीं हुआ। इस वंश के अन्तिम शासक के समय में तैमूरलंग का भारत पर आक्रमण हुआ। उसका यह आक्रमण इस्लाम धर्म के प्रचार तथा मूर्तियों के उन्मूलन हेतु था। पंजाब से दिल्ली तक उसने अत्यन्त

भीषण अत्याचार किए तथा असंख्य हिन्दुओं को मृत्यु के मुख में झोंका। यह विनाशकारी आक्रमण भीषण अकाल तथा अराजकता छोड़ गया।

राजधानी पर कुछ दिनों वज़ीर इकबालखाँ का अधिकार रहा। तत्पश्चात् सल्तनत लोदी-वंश के हाथ में आ गई। बहलोल लोदी के पश्चात् उसकी हिन्दू सुनार पत्नी का पुत्र सिकन्दर शाह गद्दी पर बैठा। यह कट्टर मुसलमान तथा हिन्दुओं का घोर विरोधी था। इसने पवित्र नदियों में स्नान का निषेध कर दिया तथा मन्दिरों को ध्वस्त करने में अत्यन्त रुचि प्रदर्शित की।

संत-कबीर इन्हीं के समकालीन थे। कबीर पर इसने हाथी छुड़वाया तथा गंगा में उन्हें डुबाने का प्रयत्न किया। यह निरंकुश सुल्तान था। इसने १,५०० हिन्दुओं की एक दिन में हत्या करवा डाली तथा उन पर मनमाने अत्याचार किये।

इस वंश के अन्तिम शासक इब्राहीम लोदी का बाबर से पानीपत का प्रथम युद्ध हुआ और सत्ता मुगल वंश के हाथों में आ गई। बाबर ने भी इस्लाम के प्रचार के लिए हिन्दुओं के सिर कटवा-कटवाकर ढेर लगवा दिए। हिन्दुओं के प्रति वह बड़ा ही कटु तथा विषम था।

बाबर के बाद हुमायूँ शासक हुआ। शेरशाह सूरी ने हुमायूँ को हरा दिया और स्वयं भारतवर्ष का शासक बन बैठा। यह बहुत न्यायप्रिय तथा धर्म-निरपेक्ष बादशाह था। प्रजा में यह सर्वप्रिय शासक था। इसकी राजनीति अति उत्तम थी। इसके राज्यकाल में प्रजा में सर्वत्र शान्ति थी। इस काल में सूफ़ी कवि जायसी का आविर्भाव हुआ जिसने 'पद्मावत' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की।

शेरशाह के उत्तराधिकारी योग्य न होने के कारण, हुमायूँ फिर से शासक बन गया। हुमायूँ के बाद अकबर शासक हुआ। अकबर ने हिन्दुओं को उच्च पद दिये तथा राजपूत स्त्रियों से विवाह किये। इतिहासकारों का कथन है कि वह हिन्दुओं के प्रति उदार तथा नीति में सहानुभूतिपूर्ण था।

मथुरादास ने अपने धार्मिक ग्रन्थ में अकबर की धर्मसहिष्णु नीति का परिचय दिया है। उसने हिन्दुओं एवं मुसलमानों को समानाधिकार प्रदान किये। उसका शासन सब जातियों एवं धर्मों का सम्मिलित शासन था।

अकबर के पश्चात् उसका पुत्र जहाँगीर सिंहासनारूढ़ हुआ। उसकी धार्मिक नीति अकबर के समान ही थी, फिर भी वह मुसलमानों का थोड़ा पक्षपात अवश्य करता था। जो लोग मुसलमान हो जाते थे उन्हें वह अधिक सम्मान प्रदान करता था। सामान्यतया वह अकबर की तुलना में हिन्दुओं के प्रति किंचित् कठोर था।

सन् १६२६ ई० में शाहजहाँ गद्दी पर बैठा। वह हिन्दू माता का पुत्र होने पर भी इस्लाम का पक्षपाती था। उसने हिन्दुओं पर अनेक कर लगा दिए। उच्चपद केवल मुसलमानों को ही प्रदान किये। यह देखकर मुसलमान कर्मचारियों ने भी हिन्दुओं को उत्पीड़ित करना आरम्भ कर दिया। शाहजहाँ ने जुझारसिंह के परिवार को मुसलमान बना लिया। निर्धनों पर वह दया करता था। शाहजहाँ की धार्मिक नीति किंचित् संकुचित एवं अनुदार थी। कालान्तर में शाहजहाँ को कैद करके उसके बेटे औरंगज़ेब ने सल्तनत का शासन-भार स्वयं सँभाला। वह कट्टर मुसलमान एवं हिन्दुओं का उत्पीड़क था। उसने हिन्दुओं पर जज़िया कर लगा दिया तथा सहस्रों मन्दिरों को नष्ट करवा दिया। उसके राज्यकाल में हिन्दू अपने त्यौहार भी नहीं मना पाते थे। उनसे उच्चपद भी छीन लिये गए। इस दमन-नीति की प्रतिक्रिया सिक्खों में हुई। औरंगज़ेब ने गुरु तेगबहादुर-जैसे संत को प्राणदण्ड दिया। औरंगज़ेब का राज्यकाल हिन्दुओं के जीवन की अत्यन्त करुण गाथा है। उनके पुस्तकालय जला दिए गए, धर्मशालाएँ नष्ट कर दी गईं, उनका जीवन विडम्बना बन गया।

औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद उसका बेटा बहादुरशाह सत्ताधिकारी हुआ। पाँच साल इसका सिक्खों से युद्ध चलता रहा। बहादुरशाह की मृत्यु के बाद अनेक वर्षों के संघर्ष के अनन्तर उसका बेटा मुहम्मदशाह बादशाह बना। १७३९ ई० में पर्शिया के सुल्तान नादिरशाह का भारत पर आक्रमण हुआ। नादिरशाह भारतवर्ष में विनाश, संहार, शोषण, उत्पीड़न तथा लूट-मार का सन्देश लेकर आया। नादिरशाह ने मुहम्मदशाह को परास्त किया एवं कत्ले-आम का आदेश दिया। इससे मुगलों की शक्ति अति क्षीण हो गई।

सन् १७४३ और १७५१ ई० में मराठों ने मालवा, उड़ीसा व बंगाल पर अधिकार कर लिया। अहमदशाह दुर्रानी के चतुर्थ आक्रमण में मराठे पराजित हुए। मराठा शक्ति क्षीण होते ही अंग्रेज़ी जाति की शक्ति का प्रसार होने लगा। सन् १७७४ से १७८५ ई० तक गवर्नर-जनरल लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति को कार्यान्वित किया।

इस तरह इन पाँच सौ वर्षों का भारतवर्ष का इतिहास घोर अशान्ति एवं अनिश्चित परिस्थितियों का इतिहास है। दिल्ली के सिंहासन पर अनेक वंश आये एवं अतीत में लीन हो गए। प्रत्येक वंश अपनी मान्यताएँ संस्थापित करता हुआ शून्य में मिल गया। इस अशान्ति तथा कोलाहलपूर्ण वातावरण का सन्त कवियों पर व्यापक प्रभाव पड़ा। वे इस चतुर्दिक् अशान्ति से व्यथित हो गए।

इसीलिए उन्होंने प्रेम, शान्ति, सदाचार तथा विश्वबन्धुत्व का सन्देश जनता में प्रसारित किया।

सामाजिक परिस्थितियाँ

समाज जनता की समष्टि की दूसरी संज्ञा है। समाज का उत्थान अथवा पतन, जनता का उत्थान अथवा पतन है। समाज की उन्नति जनता की उन्नति है। जन-जीवन की प्रतिच्छाया समाज को आच्छादित करती है। देश की परिस्थितियों से सामाजिक परिस्थितियों का निर्माण होता है। इन पाँच सौ वर्षों की अनिश्चित राजनीतिक परिस्थितियों से जन-जीवन शोषण, उत्पीड़न तथा अत्याचारों की करुण गाथा बन गया।

मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण से लेकर ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के संस्थापन तक भारतीय जीवन निरन्तर उत्पीड़ित होता रहा। अतः इन पाँच सौ वर्षों में भारत की सामाजिक परिस्थितियाँ भी शोचनीय रहीं।

सल्तनत-काल में शासकों की इच्छा ही सर्वोपरि थी। हिन्दुओं का अस्तित्व उस समय भी सुरक्षित न था। अत्याचारों तथा उत्पीड़न के नैराश्य ने हिन्दुओं के धार्मिक विश्वास की जड़ों को हिला दिया। हिन्दू और मुसलमान कभी एक न हो सके क्योंकि उनके सिद्धान्तों में भेद था। इसलिए समाज दो वर्गों में विभाजित था—(१) मुसलमानी-समाज, (२) हिन्दू-समाज।

मुसलमानी-समाज

मध्य-युग में विलासिता का राज्य था। प्रजा की श्रम से अर्जित कमाई सुल्तानों तथा अमीरों के ठाठ-बाट तथा विलास पर व्यय होती थी। प्रजा का हितैषी कोई भी न था। प्रजा पूर्णतया उपेक्षित तथा दरिद्रता से अभिशप्त जीवन व्यतीत कर रही थी। योग्य मुसलमान शासक-वर्ग में मिल जाते थे तथा साधारण मुसलमानों के लिए खानकाह खुले थे जिनमें उनके हेतु भोजन की व्यवस्था थी। इसलिए मुसलमानों को कुछ भी परिश्रम अथवा व्यवसाय नहीं करना पड़ता था। विलासिता मुस्लिम-समाज की अभिन्न अंग बन गई थी। मध्य-युग असमानता का समय था। सुन्नी तथा शिया मुसलमानों में धार्मिक एवं सामाजिक भेद था। मुसलमानों में दास-प्रथा का प्रचलन था। अनेक दासों का क्रय-विक्रय प्रतिवर्ष होता रहता था। राजकीय दासों की संख्या बहुत अधिक थी। जिस व्यक्ति के पास अधिक दास होते थे, वह अधिक धनी व्यक्ति माना जाता था। दासों की दशा अति शोचनीय थी। दासियों को तो काम-क्रीड़ा का साधन भी बनाया जाता था। व्यभिचार का बोलबाला था। इस युग में हरम में अधिक-से-अधिक सुन्दरियों को रखने का प्रचलन था।

अकबर के हरम में ५,००० से अधिक सुन्दरियाँ थीं। लोग वेश्याओं और नर्तकियों से मनोरंजन करते थे। वेश्याओं के यहाँ राजकुमारों को अदब तथा कायदे की शिक्षा दी जाती थी। मांस-भक्षण का प्रचलन था। रंग-बिरंगे कपड़े पहनने की प्रवृत्ति इस काल में थी। रेशम और मलमल का प्रयोग अधिक होता था।

इस युग में समाज तीन वर्गों में विभक्त था। प्रथम था उच्च-वर्ग, जिसमें राज-कर्मचारी तथा अधिकारी-वर्ग का उल्लेख होता था। यह वर्ग अपना समय मांस, मदिरा एवं नारी के साथ क्रीड़ा करने में ही व्यतीत करता था। द्वितीय वर्ग में मध्यवर्ती स्थिति के लोग थे। इन लोगों में उच्च-वर्ग के सभी दोष विद्यमान थे। अतः यह वर्ग भी निकम्मा हो चुका था। तृतीय वर्ग मजदूरों का था। यह वर्ग दिन-भर कठोर परिश्रम करता था, परन्तु फिर भी भरपेट भोजन या तन ढकने को कपड़ा उन्हें नहीं नसीब था। यह अभिशप्त वर्ग था। इस वर्ग का जीवन कष्टमय था। इनके भाग्य में छप्पर से ढके हुए मकान थे। ये आधी रोटी खाकर और आधी धोती पहनकर जीवन-यापन करते थे। अभियानों और आक्रमणों के फलतः इनका जीवन विषम ही बना रहता था। ये भाग्य और भगवान् से हर प्रकार वंचित तथा पीड़ित रहते थे।

हिन्दू सामाजिक जीवन

हिन्दू-समाज चार वर्णों में विभक्त था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनमें से ब्राह्मण-वर्ग उच्च माना जाता था। परन्तु इस वर्ग में बहुत चारित्रिक दोष आ गए थे। यह निम्न-वर्गों का शोषण करने में संलग्न रहता था। प्रत्येक वर्ण पथभ्रष्ट और कर्तव्य-च्युत् हो गया था। सब बाह्याचारों में संलग्न थे। हिन्दुओं में मूर्ति-पूजा प्रचलित थी। देवताओं की मान्यता, पूजा एवं अनुष्ठानों में अन्धविश्वास का बहुत आधिक्य था। मध्य-युग में जाति-व्यवस्था बहुत कड़ी थी। बाह्याडंबर व्यापक थे। इन्हीं कारणों से हिन्दू सभ्यता प्रगति न कर सकी और पतन के गर्त में गिरती गई। शूलपाणि उपाध्याय, कमलाकर भट्ट, नीलकंठ भट्ट इत्यादि के ग्रन्थों में हिन्दुओं का कट्टर व जटिल रूप मिलता है। हिन्दू समय-समय पर अत्याचारों का विरोध भी करते थे। परन्तु राज्य मुसलमानों का ही था, अतः मनमाने अत्याचार होते जा रहे थे। धर्म के नाम पर रक्तपात होता रहना साधारण बात थी। हिंदुओं का जीवित रहना एक समस्या वन गई थी। हिंदुओं के समाज पर चारों ओर से आक्रमण हो रहे थे।

इस युग का हिन्दू-समाज तीन वर्गों में विभाजित था—

(१) प्रथम वर्ग राजाओं व धनिकों का था, जो वीरता के स्थान पर विलासिता को अपनाये हुए था। पराधीनता में भी वह मगन था। (२) द्वितीय वर्ग साधारणजन का था, जो परवश होकर मुस्लिम-समाज में मिलने को बाध्य था। (३) तृतीय वर्ग में पंडित-वर्ग आता है जो जाति-पाँति के कटु परिणामों को जान चुका था और समाज के स्तर को ऊपर उठाने में प्रयत्नशील था।

मध्य-युगीन समाज रूढ़िवादिता तथा अन्धविश्वासों से अभिशप्त था। ये अन्धविश्वास दोनों वर्गों को ग्रसित किए हुए थे। हिन्दुओं के साथ अत्यन्त कठोर व्यवहार होता था। समाज में असमानता थी। हीन प्रवृत्तियाँ जनता को दबाये हुए थीं। स्त्रियों की अवस्था और भी विकृत एवं शोचनीय थी।

नारी की समस्या

मध्य-युग में नारी की दशा अत्यन्त हीन थी। उस समय अन्य वस्तुओं के सदृश नारी भी संपत्ति समझी जाती थी। उसे केवल भोग की सामग्री समझा जाता था। सुन्दर नारियों के लिए विकट युद्धों का आयोजन होता था। इसी कारण परदे तथा बाल-विवाह की प्रथाएँ चल पड़ीं। राजपूतों में तो कन्या की हत्या तक कर डालने की प्रथा थी। नारी का कामुक रूप ही मध्य-युग में देखा जाता था। इसी कारण उस समय के संत कवियों ने इन्द्रियों को जीतने की प्रेरणा दी। कर्म एवं वचन में सामंजस्य स्थापित किया। जगत् की क्षणभंगुरता की ओर जनता का ध्यान दिलाते हुए मुक्ति का संदेश दिया।

ऐसी विषम परिस्थितियों में सुधार का कार्य किसी सम्राट् द्वारा ही सम्पन्न हो सकता था। शासकों में सर्वप्रथम अकबर ने समाज में समानता लाने का प्रयास किया। उसने हिन्दू तथा मुसलमान दोनों वर्गों को संकुचित दायरे से बाहर निकालकर एकता का संदेश देने का प्रयास किया। उसने गोवध एवं सती-प्रथा को रोका। मद्यपान एवं वेश्यावृत्ति पर अंकुश लगाया। उसने एक नवीन राष्ट्र स्थापित करने की चेष्टा की। हिन्दुओं एवं मुसलमानों में अन्तर्जातीय विवाह प्रारम्भ किये। परन्तु उसके उत्तराधिकारी यह सब न कर सके। उनकी नीति का दायरा संकुचित था।

राजनीति, समाज एवं धर्म परस्पर सम्बन्धित हैं। जैसे-जैसे राजनीति में परिवर्तन होता गया, समाज भी परिवर्तित होता गया। सन् १३०० से लेकर १४०० ई० तक राजनीतिक परिस्थितियों के साथ-साथ सामाजिक परिस्थितियाँ भी बदलती रहीं। यदि कोई शासक कुछ सुधार करता भी, तो उसके प्रयास स्थायी नहीं रह पाते थे। हिन्दुओं को कई प्रकार की परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। कोई शासक एक तरह के नियम बनाता था तो दूसरा अपने राज्य-काल में उन्हें

छिन्न-भिन्न कर देता था। उच्च-वर्ग निम्न-वर्ग पर अत्याचार करता था। महत्त्वाकांक्षाओं की कहीं सीमा न थी। उस समय का समाज महत्त्वाकांक्षा की डोर में जकड़ा हुआ था। प्राचीन रूढ़ियाँ उसे शृंखलाबद्ध किए हुए थीं। जनता के चारों ओर अन्धकारमयी रात्रि का आवरण था। इसी अन्धकार में निर्गुण-संत-कवियों ने ज्ञान की ज्योति का प्रकाश दिखाया। मानव को कर्त्तव्य की ओर प्रेरित करके समाज में सुचारुता लाने का प्रयत्न किया।

किसी समाज की संस्कृति ही उसके उत्थान का कारण बनती है। समाज एवं संस्कृति का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। समाज की परिस्थितियाँ बिगड़ने से संस्कृति का भी ह्रास हो जाता है। संस्कृति जन-जीवन का परिष्कार करती है।

सांस्कृतिक परिस्थितियाँ

भारत में मुसलमानों के आगमन से पहले एक ही संस्कृति थी। तत्पश्चात् प्रस्तुत संस्कृति दो धाराओं में विभाजित हो गई। संत-कवियों ने इन दो धाराओं में एकात्मकता स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होंने कहा कि मनुष्य-मनुष्य एक हैं। धर्म ने हमारे मध्य एक भित्ति खड़ी कर दी है। उन्होंने प्रेम और सहानुभूति का संदेश मानव को दिया।

सन् १३०० से १४०० ई० तक देश यवन-संस्कृति से प्रभावित रहा। हिन्दुओं में परस्पर फूट थी। भाई भाई के विरुद्ध मुसलमानों को आमन्त्रित करता था। हिन्दू मुसलमान एक-दूसरे के रक्त के प्यासे हो रहे थे।

मुट्ठी-भर मुसलमान बहुसंख्यक हिन्दू जाति पर राज्य करते रहे एवं मनमाने अत्याचार करते रहे, जिससे एक-दूसरे के प्रति उत्तरोत्तर घृणा बढ़ती गई। हिन्दू मूर्ति-पूजक थे, मुसलमान मूर्ति-भंजक थे। उस युग में दो संस्कृतियाँ विद्यमान थीं—

(१) मध्य-युग में हिन्दू-संस्कृति।
(२) मध्य-युग में मुस्लिम-संस्कृति।

मध्य-युग में हिन्दू-संस्कृति

यह युग हिन्दुओं में परस्पर वैमनस्य और फूट का युग था। अन्ध-विश्वास एवं साहसहीनताके कारण हिन्दू-संस्कृति शिथिल हो चुकी थी।

इस काल में विभिन्न अपभ्रंशों का विकास हुआ और प्रचुर मात्रा में साहित्य-रचना हुई। इस समय के मुख्य कवि विद्यापति, कबीर, तुलसी, मीरा, सूर, दादू, केशव आदि थे। इसी समय बंगाल में कृत्तिवास, चंडीदास, संस्कृत में जयदेव, मराठी में ज्ञानदेव, तुकाराम, रामदास जैसे प्रसिद्ध कवि हुए। राजस्थानी भाषा में चन्दवरदाई-कृत 'पृथ्वीराजरासो' और जगनिक-कृत 'आल्हा'

जैसी प्रसिद्ध रचनाएँ हुईं। इस युग में अनेक टीकाएँ व टिप्पणियाँ लिखी गईं; उदाहरणार्थ भर्तृहरि की पातंजलि के महाभाष्य पर टिप्पणी। इस समय अनेक शब्दकोषों की रचना हुई। कोष-रचयिताओं में हेमचन्द्र, पुरुषोत्तमदेव तथा यादव भट्ट उल्लेखनीय हैं। 'न्याय' पर उद्योत्कर, उदयनाचार्य, वाचस्पति मिश्र ने प्रसिद्ध रचनाएँ कीं। इस युग में सांख्य-योग, पूर्व-मीमांसा एवं वेदान्त-दर्शन पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गए।

इसी युग में 'शिशुपालवध', 'नलोदय' आदि भक्ति-काव्य-ग्रन्थ लिखे गए। शृंगार, नीति एवं वैराग्य-शतकों की रचना भी हुई। 'ऋतुसंहार', 'मुद्राराक्षस' जैसे प्रसिद्ध नाटक तथा 'वृहत्-कथामंजरी', 'दशकुमारचरित्र', 'वासवदत्ता', 'हर्षचरित' जैसी कथाओं की रचना भी इसी काल में हुई।

विज्ञान पर भी इस काल में महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हुईं। भाष्कराचार्य ने खगोल-विद्या पर 'सिद्धान्त-शिरोमणि' ग्रन्थ की रचना की। ब्रह्मगुप्त, श्रीधर एवं ब्रह्मदेव जैसे अनेक महान् लेखक हुए। गणित-शास्त्र में आर्यभट्ट, भाष्कराचार्य तथा वाचस्पति मिश्र विशेष प्रसिद्ध हुए। आयुर्वेद में 'अष्टांग-संग्रह', 'माधव निदान', 'चिकित्सा-सार-संग्रह' एवं 'शारङ्गधर संहिता' जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना हुई। प्रेम, भाषा-विज्ञान एवं शल्य-चिकित्सा पर भी अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ इस युग में लिखे गए। इस समय कृषि-विज्ञान पर भी ग्रन्थ लिखे गए, जिनमें से 'कृष्ण-संग्रह' एवं 'प्राकृतप्रकाश' उल्लेखनीय हैं।

दर्शन एवं धर्म

विश्वविश्रुत आचार्य शंकर इसी युग के दार्शनिक थे, जो हिन्दू-धर्म के आधारस्तम्भ माने जाते हैं। उन्होंने वेदान्त पर प्रसिद्ध ग्रन्थ रचे। इसी समय में अन्य कई विचारक हुए, जिनमें रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य एवं निम्बार्काचार्य आदि प्रमुख हैं। इस युग में राम, कृष्ण, विष्णु, शिव, दुर्गा, चंडी, उमा, लक्ष्मी आदि का पूजन होता था। बलि-प्रथा का भी प्रचलन था।

कला

इस युग में कला की भी प्रचुर उन्नति हुई। तत्कालीन कला की अभिव्यक्ति मन्दिरों एवं मूर्तियों में हुई। मूर्ति-निर्माण एवं मन्दिरों के निर्माण की कला में विशेष उन्नति हुई।

राजपूत-चित्रकारी

यवनों के आक्रमणों के पश्चात् १५वीं शती में पहाड़ी-चित्रकारी एवं राजपूत-चित्रकारी का आविर्भाव हुआ। इस समय तक कागज का प्रचलन होने के कारण कागज पर चित्रकारी होने लगी थी। राजपूत-कला मुगलों के संरक्षण में उन्नति करती गई। इसके प्रचार-क्षेत्र मालवा, मेवाड़, उदयपुर, अजमेर, जयपुर, जोधपुर, बीकानेर,

कोटा, दतिया, किशनगढ़ तथा नाथद्वारा थे। इससे पहले गुजराती-कला अपने शिखर पर थी। १७वीं शती में राजपूत-चित्रकला अपने पूरे यौवन पर थी। अधिकतर कृष्ण-लीला, नायिका-भेद, शिकार के दृश्य, यात्रा, समारोह आदि विषयों पर चित्रांकन होता था। राजपूत-कला की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) मौलिक शक्ति एवं वीरता।

(२) व्यक्त भावों की सरलता एवं प्रत्यक्षता।

(३) परम्परागत तात्पर्य।

(४) आह्लाद एवं चमत्कार।

(५) सजावट।

इसके साथ ही पहाड़ी-चित्रकला का विकास काश्मीर में हुआ। इसमें भी सजीवता थी। १४वीं शती में दोनों कलाएँ पतन के गर्त में विलीन हो गईं।

नृत्य एवं संगीत

मध्य-युग नृत्य एवं संगीत की उन्नति का युग भी था। कथक-नृत्य, देवदासियों के भरत-नाट्यम् एवं मणिपुरी नृत्यों का विकास हुआ।

संगीत में कई राग-रागनियाँ प्रचलित हुईं। तबला, सितार, सारंगी आदि वाद्यों की रचना हुई। इस काल में कोहल, दन्तिल, सारंगदेव, बाबा हरिदास, दामोदर, ओहोबल, व्यंकटमुखी आदि ने संगीत-ग्रन्थों की रचनाएँ कीं। वाल-वलय की नई विधियाँ निकाली गईं। इस समय कई शासक संगीतज्ञ हुए, जिनमें से गोपाल नायक, बैजू बावरा, तानसेन, बाबा हरिदास, अदारंग, सदारंग एवं नायक बख्श प्रमुख हैं। इस कला का पतन औरंगज़ेब के शासनकाल में आरम्भ हो गया।

निर्माण-कला

मध्य-युग में मन्दिर-निर्माण-कला की विशेष उन्नति हुई। इनको विमान भी कहा जाता था। ये ऊपर से स्तूपाकार बने होते थे। राजपूताना, मध्य-भारत, गुजरात एवं आबू पर्वत के मन्दिर दर्शनीय हैं। जोधपुर का महा-मन्दिर, आबू पर्वत का विमला-मन्दिर कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इसी प्रकार बम्बई का अमरनाथ मन्दिर तथा ग्वालियर का सासबहू मन्दिर कला की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। इस युग के काश्मीर के मन्दिरों की कला तो सर्वांगपूर्ण है।

जाति-प्रथा

मध्य-युग में हिन्दू-समाज चार जातियों में विभाजित था। ब्राह्मण-जाति सर्वोत्कृष्ट थी। इनका राजाओं के यहाँ भी मान था। इनका काम विद्या पढ़ना या अध्ययन होता था। ये शास्त्रों का

अध्ययन करते रहते थे। इनके अनन्तर क्षत्रिय थे, जिनका कार्य प्रमुखतया शासन एवं युद्ध करना था। वर्ण-व्यवस्था की दृष्टि से तृतीय स्थान में वैश्य-जाति थी, जिसका मुख्य कार्य वाणिज्य-व्यापार करना था। हिन्दू-समाज में चतुर्थ जाति शूद्र थी। इसका धर्म सब जातियों की सेवा करना था। कायस्थ एक अन्य प्रकार की जाति थी। ये जातियाँ प्रायः परस्पर विवाह-सम्बन्ध भी कर लेती थीं। समाज में स्त्रियों का सम्मान था। मदालसा, लक्ष्मी, सुभद्रा, इन्द्रलेखा जैसी कवयित्रियाँ इस युग में हुईं।

मध्य-युग में मुस्लिम-संस्कृति

मध्य-युग मुस्लिम-संस्कृति का युग था। इसके प्रचार के कारण सर्वत्र अशान्ति, भ्रष्टाचार व अत्याचार का फैलाव था। शासकों की संस्कृति होने के कारण इसमें अनेक दोष परिव्याप्त थे। इस संस्कृति की विशेषता थी असहिष्णुता। धार्मिक क्षेत्र में मुसलमान बड़े ही असहिष्णु थे।

इस युग में फ़ारसी में प्रचुर साहित्य की रचना हुई। इसमें धर्मनिरपेक्ष गद्य की रचना हुई। सुल्तान विद्वानों को समुचित सम्मान प्रदान करते थे।

साहित्य

दिल्ली विद्वानों का केन्द्र बन गया था। इस समय विद्यालयों, विश्वविद्यालयों एवं पुस्तकालयों की स्थापना हुई। विश्वविद्यालय जालंधर, दिल्ली, फ़िरोज़ाबाद एवं जौनपुर में थे। कलाकौशल की शिक्षा के लिए कारख़ाने थे। इस समय उत्कृष्ट फ़ारसी-साहित्य की रचना हुई, जिनमें 'हसन निज़ामी', 'ताजुल मआसिर', 'तबकत-ई-नासीरी', 'तारीख़-ई-फ़िरोज़शाही', 'फ़तह-अस-सलातीन' उल्लेखनीय हैं। इस समय प्रचुर कथा-साहित्य भी रचा गया। उच्च कोटि के ग्रन्थों में 'जवामी-उलहिकाया', 'मत्ला-उल-अनकर', 'तफ़ायत-नसीह', 'फ़तवा-ई-जहान्दारी', 'फ़िग़-इ-फ़िरोज़शाही' उल्लेखनीय हैं। अनेक यात्रियों ने यात्रा-विवरण भी लिखे। इन यात्रियों में मार्को-पोलो, इब्नबतूता, माह्यान, कोन्टी, सिदीअली-रईस प्रमुख हैं।

इस काल में पाठशालाओं में धार्मिक शिक्षा अनिवार्य थी। हर पाठशाला में एक मस्जिद होती थी। मुग़ल-काल में पाठशाला में कुरान की पाँच आयतों का कंठाग्र करना अनिवार्य था। अकबर एवं जहाँगीर विद्वानों का आदर करते थे। अकबर के दरबार में अबुलफ़ज़ल, मुल्ला दाऊद, फ़ैज़ी सरहिंदी, अबुलबकी, अब्दुर्रहीम, मुहम्मद हुसैन, नाज़री तथा शिराज़ जैसे प्रसिद्ध साहित्यिक थे। जहाँगीर के दरबार में ग़यासबेग, नकीबख़ाँ, मुतामिदख़ाँ, नियामुतुल्लाह आदि प्रसिद्ध विद्वान् थे। इनके द्वारा साहित्य की ख़ूब रचना हुई।

औरंगज़ेब के राज्य-काल में यह प्रगति क्षीण हो गई, पर गुप्त रूप से कुछ रचनाएँ फिर भी हुईं।

औरंगज़ेब की मृत्यु के पश्चात् साहित्य में क्रमशः अश्लीलता का समावेश होता गया।

मुग़ल-वंश के काल में काव्य ने बहुत प्रगति की। बाबर, हुमायूँ एवं अकबर स्वयं कवि थे। जहाँगीर भी साहित्यिक रुचि-सम्पन्न था। शाहजहाँ ने भी कला एवं साहित्य को प्रेरणा दी। इस काल में अबुलफ़ज़ल, मुहम्मद सलीह, मुहम्मद वारिस प्रमुख कवि थे। ग़जल व कसीदा में काव्य-रचना हुई। 'पादशाहनामा', 'शाहजहाँनामा' व 'अमल-इ-सलीह' आदि ऐतिहासिक ग्रंथ भी लिखे गए।

नृत्य एवं संगीत

इस काल में नृत्य का स्तर बहुत गिर चुका था और नृत्य विलासिता में परिणत हो चुका था। परन्तु संगीत की इस युग में बहुत प्रगति हुई। संगीतज्ञों को प्रोत्साहन मिला। फ़िरोज़ तुग़लक प्रसिद्ध संगीतज्ञ था। राजा मानसिंह तो ध्रुवपद के रचयिता माने जाते हैं, उन्होंने कई राग भी बनाए। मुग़लों ने भी संगीत को प्रोत्साहित किया। अकबर के समकालीन बाजबहादुर, हरिदास, रामदास, सुमानखाँ, दाऊद धारी, मियाँ नानक प्रसिद्ध संगीतज्ञ थे। बाबर, हुमायूँ और अकबर स्वयं संगीत-प्रेमी थे। तानसेन अकबर के दरबार का प्रसिद्ध गायक था। जहाँगीर एवं शाहजहाँ के शासन-काल में भी कई प्रसिद्ध संगीतज्ञ हुए। औरंगज़ेब को संगीत से घृणा थी।

निर्माण-कला

इस युग में भव्य भवनों का निर्माण हुआ। मुग़ल-काल में इस कला की विशेष उन्नति हुई। अकबर हिन्दू-निर्माण-शैली का पक्षपाती था। आगरा में जहाँगीरी महल इस शैली का ज्वलन्त उदाहरण है। दीवान-आम, पंचमहल, सिकन्दरा, अकबर की समाधि एवं जोधाबाई का महल भी इसी शैली के सुन्दर उदाहरण हैं। मुस्लिम-निर्माण-कला का सौंदर्य ताजमहल के रूप में मुखरित हो उठा। शाहजहाँ के पश्चात् इमारतों पर पाश्चात्य प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा।

चित्र-कला

चित्र-कला का विकास इस युग में बहुत नहीं हुआ, क्योंकि मुसलमान इसे मूर्ति-पूजा से सम्बन्धित मानते थे। मुग़ल इस कला को फ़ारस से लाए थे। हुमायूँ फ़ारस से दो चित्रकार लाया था। जहाँगीर भी चित्रकला का प्रेमी था। शाहजहाँ भी चित्रकला में रुचि रखता था। परन्तु औरंगज़ेब के समय में सब कलाएँ विलीन हो गईं।

आर्थिक परिस्थितियाँ

धन की आवश्यकता जीवन के हर पक्ष में होती है। देश की आर्थिक परिस्थितियों का प्रभाव तात्कालिक परिस्थितियों पर पड़ता है। किसी देश की उन्नति के लिए धन नितान्त आवश्यक है।

मध्य-युग में आर्थिक परिस्थितियाँ बहुत ही शोचनीय थीं। आक्रमणों और लूट-मार ने जन-जीवन खोखला कर दिया था। अकाल और भुखमरी ने रही-सही शक्ति को भी विनष्ट कर दिया था। ऐसे समय में आर्थिक स्थिति क्या हो सकती थी !

इन आक्रमणों से पूर्व यह देश अति समृद्धिशाली था। यहाँ दूध और घी की नदियाँ बहा करती थीं। परन्तु रक्तपात एवं अत्याचारों ने इस देश को उजाड़ दिया। महमूद गज़नवी एवं मुहम्मद ग़ोरी के आक्रमणों ने भारत को सर्वाधिक क्षति पहुँचाई। उनके अनन्तर जितने वंश भारत के सिंहासन पर आये सबने भारत का शोषण ही किया।

फ़िरोज़ तुग़लक के शासन-काल में बहुत भारी अकाल पड़ा। सहस्रों व्यक्तियों ने अकाल से पीड़ित होकर आत्महत्या की। ऐसा ही अकाल मुहम्मद तुग़लक के शासन-काल में पड़ा। जनता भूख से प्राण दे रही थी। पर शासन-अधिकारी कोड़े मार-मारकर जनता से कर वसूल कर रहे थे। यातायात के साधन न होने से जनता की और भी दुर्दशा होती थी। दुर्भिक्ष के समय अनाज का भाव भी बढ़ जाता था। फ़िरोफ़ तुग़लक ने दशा सुधारने की चेष्टा की, परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् दशा और भी गिर गई।

इन दिनों व्यापार स्थल एवं जल-मार्ग द्वारा होता था। परन्तु हिन्दू-जनता तब भी पीड़ित ही थी। उसका कार्य परिश्रम करना-भर था।

सन् १३९८ ई० में तैमूर का भयानक आक्रमण भारत पर हुआ। हिन्दुओं को पराजित करके उनको खूब लूटा गया। खेती-वारी पूर्णतया नष्ट कर दी गई। इस आक्रमण ने भारत की स्थिति पर तुषारपात किया।

बाबर एवं हुमायूँ के समय की आर्थिक स्थिति कुछ निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। परन्तु अकबर के समय भारत की आर्थिक दशा अच्छी थी।

मुग़ल-युग में भारत के प्रसिद्ध नगर आगरा, फ़तेहपुर, लाहौर, बुरहानपुर, पटना, राजमहल, बर्दवान, हुगली, ढाका आदि थे।

सन् १५७७ ई० में अकबर ने टकसालें खुलवाईं एवं उनके दारोगा नियुक्त किये। उन टकसालों में एक तौल तथा माप के सिक्के बनवाये। वस्तुओं के भाव नियत किये। यह सब जनता की सुविधा के हेतु था। इस युग में भारत अपने रेशमी कपड़ों के लिए प्रसिद्ध था और व्यावसायिक दृष्टि से भी समृद्ध था।

भारत के मुख्य वस्त्र-व्यवसाय-केन्द्र पटना, बनारस, गुजरात तथा खानदेश आदि थे।

सन् १५५५ तथा १५५६ ई० में बियाना के समीपवर्ती प्रदेशों में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। इसके विषय में बदायूनी ने लिखा है कि लोग मानव-माँस तक खाने को तत्पर हो गए थे। इसके अनन्तर फिर दो दुर्भिक्ष पड़े तथा महामारी का प्रकोप भी हुआ। ये दुर्भिक्ष बाबर, हुमायूँ तथा अकबर के शासन-काल में पड़े। शाहजहाँ के समय गुजरात में भयानक दुर्भिक्ष पड़ा। ऐसे अनेक दुर्भिक्षों का सामना भारत की निरीह जनता को करना पड़ा। इन दुर्भिक्षों ने मानव का जी भरकर शोषण किया। मानव, मानव न रहकर दानव बन गया।

मुग़ल-काल में अन्न-समस्या मुख्य थी, जिसे सुलझाने का प्रयत्न मुगल-शासकों ने किया। परन्तु उससे उच्च-वर्ग का ही लाभ हुआ। निम्न-वर्ग आद्योपांत पीड़ित ही रहा। समाज में विषमता तथा जटिलता आ गई। इस प्रकार दासता की भावना को प्रोत्साहन मिला।

हिन्दुओं की आर्थिक स्थिति बहुत ही शोचनीय थी। उनकी आधी आय तो कर देने में चली जाती थी जो उच्च-वर्ग की विलासिता में व्यय होता था। उच्च-वर्ग तो शासक के समान ही विलास में रत रहता था। मध्य-वर्ग भी सुखी था। शासकों द्वारा निम्न-वर्ग का शोषण होता जा रहा था। अकबर के समय में निम्न-वर्ग भी सुखी था। जहाँगीर के काल में मज़दूरों से बेगार ली जाती थी। उनको एक समय भी पेट-भर भोजन प्राप्त नहीं होता था।

जनता की आर्थिक दशा अकबर के समय में तो अच्छी थी। शाहजहाँ भी स्वयं आर्थिक विभाग की देख-भाल करता था। परन्तु औरंगज़ेब के समय में जनता की दशा बहुत हीन हो गई। औरंगज़ेब हिन्दुओं से कर भी बहुत लेता था। उसकी फ़ौजें जनता की खेती को रौंदती हुई अग्रसर होती जाती थीं। जनता में त्राहि-त्राहि मची हुई थी। भ्रष्टाचार का आधिक्य था।

अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ के समय व्यापार ने समुचित उन्नति की। परन्तु औरंगज़ेब के समय में इसका भी ह्रास हो गया। उसके शासन-काल में व्यापारियों का जीवन विषम हो गया था। उनकी सुरक्षा का प्रबन्ध नहीं था। करों की वृद्धि ने व्यापार का सर्वथा नाश कर दिया। हिन्दू व्यापारियों की दशा तो और भी हीन थी।

औरंगज़ेब के पश्चात् कई शासक भारत के राजसिंहासन पर आसीन हुए, परन्तु कोई भी स्थिर न रह सका। उन बादशाहों के नाम थे : बहादुरशाह, जहाँदार, फर्रुख़सियर, मुहम्मदशाह, अहमदशाह, आलमगीर सानी, शाह आलम।

इस कारण भारतीय शासन की स्थिति ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना तक अस्थिर रही।

सन् १७०७ से १७५९ ई० तक भारत की आर्थिक दशा विकृत होती गई। बहादुरशाह को कई युद्ध करने पड़े। सिक्खों, मराठों तथा सैयदों के कारण निरन्तर युद्ध होते रहे। सन् १७३९ में नादिरशाह ने आक्रमण किया, जिससे देश की अवस्था और भी बिगड़ गई। तत्पश्चात् अहमदशाह दुर्रानी के चार भयानक आक्रमणों ने तो जनता की कमर ही तोड़ दी और उसे हर प्रकार से अशक्त कर दिया। समाज की स्थिति विषम से विषमतर होती गई। व्यापार का तो सर्वनाश ही हो गया। संत-कवि चरनदास ने इसका चित्रण बहुत सुन्दर ढंग से किया है।

मुग़ल-काल में उच्चवर्ग अपनी विलासिता में डूबा हुआ यह भूल जाता था कि निम्न-वर्ग के प्रति भी उनका कुछ दायित्व है। उच्च-वर्ग स्वार्थी और लम्पट था। जनता में भेद-भाव उत्पन्न हो गया। भारत का निम्न-वर्ग तो सर्वथा कंगाल हो गया। कबीर ने जनता को संतोष का संदेश दिया। उन्होंने कहा कि संतोष ही श्रेष्ठ धन है।

संत-कवियों ने तृष्णा को त्याज्य बताया। उन्होंने बारम्बार बताया कि शान्ति का मार्ग तृष्णा के त्याग में ही निहित है। उन्होंने यह भी बताया कि किसी का शोषण करना असंगत है। संतों के अनुसार धन अभिशाप है, वरदान नहीं।

मध्य-युग में जनता एक ओर तो उच्च-वर्ग का शिकार बनी हुई थी, दूसरी ओर दुर्भिक्ष की चक्की में पिस रही थी। इसी कारण संत-कवियों ने ईश्वर-प्रेम का मार्ग बताया।

समाज, धर्म और साहित्य परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। एक की क्षति होने से दूसरों पर भी उसका प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। १३वीं शती से १४वीं शती तक भारतवर्ष पर मुसलमानों के निरन्तर आक्रमण होते रहे और हिन्दुओं को नारकीय यंत्रणा मिलती रही। इस यातना से छुटकारा पाने के लिए असंख्य हिन्दुओं ने इस्लाम धर्म अंगीकार कर लिया।

धार्मिक परिस्थितियाँ

यह समय हिन्दू-समाज के लिए अभिशप्त युग था। अनेक शासकों ने हर प्रकार से हिन्दुओं को पददलित तथा पीड़ित किया। उस समय शोषण, उत्पीड़न तथा दमन की प्रबलता थी। विनाश का ताण्डव-नृत्य चल रहा था। समाज में प्रत्येक दिशा से कराहने की आवाज़ आ रही थी।

तुग़लक-वंश तो विशेषतया अस्थिर स्वभाव का था। इस काल में मानव-जीवन की नौका डगमगाती रही। मुहम्मद तुग़लक तो सर्वथा क्रूर एवं महत्त्वाकांक्षी था। सन् १३९८ में तैमूर के विनाशकारी आक्रमण ने तो हिन्दू-संस्कृति को विनष्ट कर दिया। तैमूर क्रूरता तथा विनाश की प्रतिमूर्ति था।

उसके पश्चात् भारत की भाग्यडोर क्रमशः ख़िज़्रख़ाँ, मुबारकशाह, बहलोल लोदी के हाथों में आई। इतिहासकारों के मतानुसार ख़िज़्रख़ाँ तो अच्छा शासक था, परन्तु मुबारकशाह अस्थिर प्रकृति का व्यक्ति था। सिकन्दर लोदी हिन्दू-विरोधी शासक था। न जाने कितने हिन्दुओं की उसने हत्या करवा डाली! वह नृशंस शासक था। कबीर उसी के समकालीन थे। कबीर ने देश की विकृत परिस्थितियाँ देखीं। जनता को पतन के गर्त में गिरते देखा तथा उन्होंने मानव को दानव बनते देखा। भवानी, काली, शक्ति आदि की उपासना में हिन्दू-समाज अपना मन बहला रहा था। सर्वत्र कृत्रिमता का आवरण था। धर्म का पवित्र रूप असत्य तथा अन्धविश्वासों के आवरण से आच्छादित था। नरबलि तथा पशुबलि में ही जनता अपना उद्धार मानने लगी थी। कबीर ने इन सबकी कटु आलोचना की। उस समय के योगी भी भोग-लिप्सा में लिप्त थे, तथा उनके गुरु भी अहंकारी थे। धर्म का वास्तविक रूप विलीन हो गया था। उसका स्थान मिथ्या-दंभ एवं अत्याचार ने ले लिया था। हिन्दू पत्थरों को पूजते थे, तो मुसलमान पीर-औलियों के निर्देशन में थे। साधु लोग धूर्त और पाखंडी हो गए थे। विलास और वैभव ही उनका क्षेत्र बन गया था। धर्म के नाम पर अत्याचार हो रहा था। कबीर ने इस सबका विरोध किया। कबीर मूर्ति-पूजा, नमाज़, बाँग आदि को ढकोसला-मात्र मानते थे। कबीर ने धर्म के नाम पर किए जाने वाले मिथ्या आडम्बर के विरुद्ध बहुत कुछ कहा। वे अद्वैतवादी थे। उनकी दृष्टि में राम रहीम में कोई भेद नहीं था।

बाबर एवं हुमायूँ के समय में हिन्दू जनता भाँति-भाँति के करों में जकड़ी हुई थी। बाबर धर्म के विषय में बहुत कट्टर था। उसके शासन-काल में हिन्दू जनता का जीवन कष्टमय रहा।

अकबर की धार्मिक नीति उदार थी। वह धार्मिक नीति की दृष्टि से पक्षपात रहित था। अपने तीस वर्ष के शासन-काल में उसने हिन्दू जनता को किंचित् मात्र भी कष्ट नहीं दिया। उसकी कई हिन्दू राज्यमहिषियाँ थीं। वे धर्म के क्षेत्र में स्वतन्त्र थीं। अकबर ने जज़िया कर, तीर्थ-यात्रा कर भी हटा लिया था। उसने हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थों का स्वपठनार्थ अनुवाद कराया। उसने हिन्दू बन्दियों को बलात् मुसलमान नहीं बनाया। उसके राज्य में गोवध का भी निषेध था।

जहाँगीर की धार्मिक-नीति भी अकबर के समान ही थी, परन्तु स्वभावतः वह मुसलमानों का पक्षपात करता था। अकबर के समान उसने उदार हृदय नहीं पाया था। उसने अनेक बार युद्ध में हिन्दू मन्दिरों को गिरवाया। इस्लाम-धर्म स्वीकार करने वाले हिन्दुओं को वह पुरस्कृत करता था। उसकी धार्मिक नीति कुछ संकुचित थी।

धार्मिक नीति की दृष्टि से शाहजहाँ हिन्दुओं के प्रति उदार नहीं था, परन्तु फिर भी औरंगज़ेब की भाँति क्रूर भी नहीं था। यद्यपि उसकी माता एवं दादी हिन्दू राजपूत स्त्रियाँ थीं, तथापि वह हिन्दुओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण नहीं था। गरीबों के प्रति वह दयालु था। हिन्दू तीर्थ-यात्रियों पर उसने फिर से कर लगाये। हिन्दुओं से उच्च-पद छीन लिये गए। जुझारसिंह तथा उसकी पत्नी के प्रति उसका व्यवहार, हिन्दुओं के प्रति उसकी घृणा दर्शाती है। उसके राज्यकाल में हिन्दुओं का सामाजिक जीवन भी कष्टमय था।

औरंगज़ेब कट्टर मुसलमान तथा इस्लाम का अनुयायी था। हिन्दुओं के प्रति वह बहुत क्रूर था। हिन्दुओं से उसने फ़ौज के पद भी छीन लिए। इस्लाम के अनुसार उसने हिन्दुओं पर जज़िया-कर लगा दिया। कर देने में असमर्थ हिन्दू मुसलमान होने लगे। औरंगज़ेब ने राज्य के समस्त मन्दिर नष्ट करवा दिए। इन सबका वर्णन औरंगज़ेब के समकालीन कवि सथुरादास की 'मलूक-परिचई' तथा भूषण के काव्य में मिलता है। वर्तमान इतिहासकार भी इन तथ्यों से सहमत हैं। कवि सथुरादास ने गुरु तेगबहादुर के वध का भी वर्णन किया है। औरंगज़ेब ने हिन्दुओं के धार्मिक कृत्यों पर प्रतिबन्ध लगा दिए। औरंगज़ेब की मृत्यु के समय हिन्दुओं की स्थिति अत्यन्त हीन थी। औरंगज़ेब के बाद बहादुरशाह बादशाह बना। उसके राज्य-काल में सिक्खों एवं राजपूतों के साथ युद्ध ही चलता रहा।

उसके पश्चात् सात वर्ष तक निरन्तर कलह के बाद जहाँदार सिंहासनारूढ़ हुआ। उसको बन्दी बनाकर १९ जनवरी १७१५ को फर्रुखसियर गद्दी पर बैठा। २४ अप्रैल १७७९ ई० को उसकी भी हत्या कर दी गई। उसके पश्चात् २४ सितम्बर १७७९ ई० में मुहम्मदशाह के हाथ में राज्य की बागडोर आई। इसके शासन-काल में नादिरशाह तथा अहमदशाह के चार विनाशकारी आक्रमण हुए। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना तक भारत की दशा अस्थिर ही रही।

चरनदास के युग में तृष्णा में भटकी हुई जनता दंभ एवं पाखंडों में लगी हुई थी। साधु इन्द्रिय-भक्त बन गए थे। योगी भी पथभ्रष्ट हो चुके थे। धर्म का रूप जटाजूट एवं तिलक ही रह गया था। पंडित लोग मुक्ति पाने के

मिथ्या साधनों में रत थे। यह बाह्याचारों का युग था। समाज अन्धविश्वासों का केन्द्र-स्थल बना हुआ था। समाज अधोगति के गर्त में पड़ा कराह रहा था।

इन सब परिस्थितियों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि इन ५०० वर्षों में भारत की कितनी हीन दशा थी। हिन्दू संत-कवियों ने समाज को सन्मार्ग पर लाने के लिए निर्गुण-ब्रह्म की उपासना का मार्ग प्रदर्शित किया और परस्पर एकता लाने का प्रयत्न किया।

द्वितीय परिच्छेद

सन्त-मत एवं सन्त-साहित्य

संत-मत तथा सन्त-कवि

हिन्दी के संत-कवियों की परम्परा कोमलकांत पदावली के गायक, गीतगोविन्द' के अमर रचयिता संत जयदेव से प्रारम्भ होती है। जयदेव का समय सन् ११७९ माना जाता है। जयदेव के अनन्तर देश की ह्रासमान परिस्थितियों के साथ समय-समय पर अनेक सन्तों का आविर्भाव हुआ। इन सन्तों ने अपने युग की विषमताओं को दूर करके एक स्वस्थ और कल्याणकारी समाज-स्थापना का प्रयत्न किया। इन सन्तों में भाव-साम्य, विचार और चिन्तन-ऐक्य उपलब्ध होता है, फिर भी उनमें मौलिकता सर्वत्र विद्यमान है। हिन्दी के संतों की परम्पराएँ बड़ी महान्, बड़ी उच्च और बड़ी भव्य हैं। इनके साहित्य में लोक-कल्याण की भावना सर्वत्र प्रमुख और सजीव है। समाज की सेवा इन्होंने निष्पक्ष और निःस्वार्थ भावना से की। 'कबिरा खड़ा बज़ार में चाहत सबकी खैर, ना काहू से दोस्ती ना काहू से बैर' इस भावना का एक सुन्दर उदाहरण है। सन्तों के साहित्य और आविर्भाव-काल को काल-क्रमानुसार तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

१. पूर्वकालीन-संत, २. मध्ययुगीन-संत, ३. आधुनिक-युगीन-संत। इन सभी समयों और सभी कवियों में कबीर का व्यक्तित्व बड़ा ही महान् है। मौलिकता और अभिव्यंजना-शैली की दृष्टि से कबीर हिन्दी-साहित्य के अद्वितीय महा-कवि हैं। नानक, दादू, मलूक, सुन्दरदास, दरिया द्वै, बुल्लासाहब, यारीसाहब, चरनदास, सहजो, दयाबाई, मीरा आदि कवि और कवयित्रियाँ इसी महान् व्यक्तित्व की परम्परा में अवतीर्ण हुए और अपने युग की जनता को कल्याणकारी ज्योति का दर्शन कराया। इन्होंने 'करनी' एवं 'कथनी' के ऐक्य के द्वारा एक नवीन जीवन-दर्शन की स्थापना की जो सर्वथा स्पृहणीय रहा है और रहेगा।

'गीत-गोविन्द' के रचयिता जयदेव की प्रसिद्धि (सन् ११७९-१२०४)

अन्य जयदेवों की अपेक्षाकृत सर्वोपरि है। आपने बंगाल के सेन-वंशी राजा लक्ष्मणसेन के दरबारी कवि के रूप में रहकर विशेष ख्याति

(१) संत जयदेव

प्राप्त की। इसका प्रमाण 'श्री जयदेव सहचरेण महाराज लक्ष्मण सेन मंत्रिवरेणोमापतिधरेण' है। चंदवरदायी की पंक्ति 'जयदेव अहं कवी कविन्रायं, जिनै केल कित्ती गोविन्द गाय' से उनका पूर्ववर्ती या समसामयिक होना ही प्रमाणित होता है। अतः आपका जीवनकाल वि० संवत् की १३वीं शताब्दी में हम रख सकते हैं।

बंगाल के वीरभूम ज़िले में 'किंदुबिल्व' का 'गीतगोविंद' में उल्लेख है। कुछ लोग उड़ीसा प्रान्त के 'केन्दुली-सासन' गाँव बतलाते हैं क्योंकि यह प्रान्त बौद्धों के सहजयान तथा वज्रयान का केन्द्र भी रह चुका है और जयदेव को 'सहजयान' से प्रभावित भी कहते हैं। अतः दोनों प्रान्तों से आपका सम्बन्ध प्रकट होता है। कुछ लोग कवि जयदेव को राजा कार्माणव (सं० ११९९-१२१३ ई०) तथा अन्य उन्हें राजा पुरुषोत्तम देव (सं० १२२७-१२३७) का समकालीन मानते हैं। इस प्रकार हम इस कवि का जीवनकाल विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में ठहरा सकते हैं।

जयदेव ने अपनी रचना के अन्त में पिता का नाम भोजदेव और माता का नाम राधादेवी दिया है। 'भक्तमाल' में वर्णित अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाओं के आधार पर कहा जाता है कि जगन्नाथजी की प्रेरणा से एक ब्राह्मण अपनी कन्या को इनकी पर्णकुटी में छोड़ गया, जिससे विवाह कर अपना सुखपूर्ण जीवन व्यतीत किया। इसी समय 'गीत-गोविन्द' में संगृहीत पदों की रचना की, जिसके फलस्वरूप आपकी प्रतिष्ठा उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। इनकी स्त्री पद्मावती का इनके वियोग में मर जाना तथा पुनः इनके द्वारा जलाया जाना आदि अनेक घटनाएँ इनके जीवनवृत्त से सम्बन्धित कही जाती हैं, जिनसे इनका एक परम सहिष्णु होना सिद्ध होता है।

इनका एकमात्र काव्य-ग्रन्थ 'गीत-गोविन्द' अपने शब्द-सौन्दर्य, पद-लालित्य एवं संगीत-माधुर्य के लिए संस्कृत-साहित्य में अद्वितीय माना जाता है। डॉ० पिशल-जैसे विद्वानों का मत है कि यह रचना संस्कृत की अपेक्षाकृत प्राकृत तथा लोकभाषाओं का अधिक अनुसरण करती है। अतः आपकी रचना मूलतः अन्य भाषा में होकर, बाद में संस्कृत में अनुवादित की गई, परन्तु गीतों की आलंकारिक भाषा, ग्रंथ की वर्णन-शैली अथवा अन्त्यानुप्रासों के प्रयोग, संस्कृत-काव्य में भी प्राप्य थे। 'गीत-गोविन्द' में शृंगार के साथ भक्ति का पुट पाया जाता है। परन्तु शृंगार-रस के बाहुल्य तथा कला-प्रदर्शन की विशेषता के कारण

भक्ति-भावना अस्पष्ट रह गई है। यद्यपि कबीर ने 'भगति के प्रेमि इनही है जाना' कहा है, परन्तु ऐसी काव्य-शक्ति के अतिरिक्त अन्य बातें भी अपेक्षित हैं।

'आदिग्रन्थ' में संग्रहीत जयदेव के दो पदों में क्रमशः उपदेश तथा योग-साधना का उल्लेख हुआ है। प्रथम में राम-नाम, सदाचरण के साथ-साथ मनसा, वाचा एवं कर्मणा से की जानेवाली 'हरि भगत निज निहकेवला' अर्थात् अनन्य भक्ति का महत्त्व दरशाते हुए योग, यज्ञ एवं दानादि से भक्ति को श्रेष्ठ बतलाया गया है। इनकी भाषा 'पंडिताऊ' कही जा सकती है। नाथपंथ तथा सिद्धों के बौद्ध-मत से प्रभावित शब्दावली की शैली संतों के 'सबदों' की भाँति है।

महत्त्व

प्रचलित है कि जयदेव निम्बार्क-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। कुछ व्यक्तियों का कथन है कि ये विष्णु-स्वामी के सम्प्रदाय में दीक्षित थे। सूक्ष्मतः विचार करने पर जयदेव-जैसे कुछ वैष्णवों की रचनाओं में सहज-यानियों के 'प्रज्ञा' एवं 'उपाय' नामक तत्त्व ही राधा एवं कृष्ण के रूप धारण कर अद्वय की दशा में अपने ढंग से मिल जाते हैं और उनकी 'महासुख' वाली अन्तिम स्थिति यहाँपर 'अलौकिक प्रेम' में रूपान्तरित हो जाती है। इसीका परिणाम आगे 'वारकरी सम्प्रदाय' के अभंगों में स्पष्टतः लक्षित हुआ। आपने एक महत्त्वपूर्ण संधि-काल में उत्पन्न होकर ऐसे मार्ग का प्रदर्शन किया, जो सन्त मत के लिए आदर्श बना।

सन्त सदना

सदना के जन्म-स्थान का ठीक-ठीक निश्चय नहीं हो पाया, पर इनका जीवनकाल १४वीं शताब्दी का अन्तिम भाग माना जाता है। यह जाति के कसाई माने जाते हैं, पर इनको स्वतः जीव-हिंसा से घृणा थी। अपनी जीविका चलाने के लिए ये अन्य कसाइयों से मांस लेकर बेचा करते थे। इस प्रकार इन्होंने अन्य सन्तों को भाँति अपने पैतृक व्यवसाय का परित्याग नहीं किया। इनके विषय में लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि अज्ञानवश इनके तौल-बटखरों में एक बार शालिग्राम की एक मूर्ति सम्मिलित हो गई थी, जिसे एक साधु ने देख लिया और इन्हें फटकारा, साथ ही उसे छीनकर अपने पूजन-गृह में ले गया। रात में ब्राह्मण को स्वप्न हुआ कि शालिग्राम को इसके पूजन-गृह की अपेक्षा इनकी दूकान में ही रहना अधिक पसन्द है। अतएव उसे विवश होकर उक्त शिला इन्हें लौटा देनी पड़ी। इसी प्रकार इनसे सम्बन्धित जगन्नाथपुरी की यात्रा-सम्बन्धी अनेक घटनाएँ तथा चमत्कारपूर्ण कथाएँ प्रचलित हैं।

सिखों के गुरु अर्जुनदेव द्वारा सम्पादित 'आदिग्रन्थ' में आपका एक पद आया है जिसमें इनके आर्तभाव, आत्मनिवेदन का प्रदर्शन तथा दैन्य-भाव एवं

एकान्तनिष्ठा भी है। छः पदों का संग्रह 'सन्त-गाथा' में मिलता है, जिसमें 'कृष्णावतार' की भक्ति लक्षित हुई है। इनकी भाषा में फारसी-अरबी के शब्द होने से ये पश्चिमी प्रान्त के कहे जाते हैं। पर इन पदों में वह भाव-गाम्भीर्य और सन्तमत में निर्दिष्ट विचार नहीं हैं, अतः सम्भव है ये किसी अन्य सदना द्वारा रचित हों। सदना पन्थ की डॉ० ग्रियर्सन ने चर्चा की है और उनके अनुयायियों का बनारस में होना बतलाया है। इनका समय ईसा की १७वीं शताब्दी में कहा गया है, पर यह अनुमान असंगत है।

सन्त लालदेद कश्मीर-निवासिनी, मेहतर जाति की होने पर भी उच्च विचारवाली, शैव सम्प्रदाय का अनुसरण करने वाली पर धार्मिक मतभेदों से दूर रहनेवाली स्त्री थी। इसके सिद्धान्त सरल एवं समन्वयात्मक थे। इसका समय ईसा की चौदहवीं शताब्दी अथवा प्रायः वही था, जो सन्त सदना एवं नामदेवका था और इसके अनुयायी पश्चिमोत्तर भारत में यत्र-तत्र पाए जाते हैं। आपके पदों का संग्रह 'लल्लावाक्यानि' नाम से प्रकाशित है। आपकी रचनाओं के विषय शैवों की योग साधनासे सम्बन्धित है। आप 'लल्ला योगिनी' नाम से भी प्रसिद्ध थीं। डॉ० ग्रियर्सन के अनुसार कबीरदास आपसे प्रभावित थे।

सन्त लालदेद

वेणी का समय सन्दिग्ध है। सिक्खों के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव के एक पद द्वारा स्पष्ट होता है कि इन्हें सद्गुरु द्वारा ज्ञान का प्रकाश उपलब्ध हुआ था। आदिग्रन्थ में आपके पदों का संग्रह प्राप्त होता है, जिसकी भाषा द्वारा आप कबीर से भी प्राचीन जान पड़ते हैं। पदों के प्रचार से आपको पश्चिमी प्रान्त का निवासी कहा जाता है। इनके पदों पर नाथयोगी-सम्प्रदाय एवं सन्तमत की गहरी छाप है। इनके नाम पर चलाये गए किसी पन्थ का अभी तक पता नहीं चला तथा 'शून्यमहलिया' आदि का विस्तृत वर्णन भी इनके पदों में प्राप्त होता है। विशेष रचनाएँ न प्राप्त होने पर भी सन्त मत के प्रथम प्रवर्तकों में समादृत हो सकते हैं।

सन्त वेणी

आदिग्रन्थ में संगृहीत तीन पदों में योग-साधना की चर्चा है, 'जीवन्मुक्त' का आदर्श है तथा मुख्य उद्देश्य 'आतम तनु' की अनुभूति है। इसी प्रकार अगम्य दूसम हार तथा 'शून्य महलिया' आदि का विस्तृत वर्णन भी इनके पदों में प्राप्त होता है।

दक्षिण-भारत में उक्त नामधारी अनेक सन्त हुए हैं। अतएव उक्त प्रमुख सन्त नामदेव के विषय में निश्चित रूप से जीवनी एवं रचना-सम्बन्धी तथ्यों को

संगृहीत कर प्रामाणिक परिचय देना सन्देहास्पद ही है।

सन्त नामदेव उनकी कुछ रचनाएँ मराठी अभंगों के बड़े-बड़े ग्रन्थों में मिलती हैं और 'आदिग्रन्थ' में संगृहीत कुछ पदों को भी उनकी कृति बताया जाता है, किन्तु 'आदिग्रन्थ' में संगृहीत पद वाले नामदेव का प्रामाणिक परिचय सन्दिग्ध है। दक्षिण भारत के ज्ञानदेव के समकालीन नामदेव एक महान् सन्त हो गए हैं, परन्तु आपके आविर्भाव-काल के विषय में सन्देह है।

'आदिग्रन्थ' में संगृहीत नामदेव की रचनाओं तथा महाराष्ट्र सन्त रचित अभंगों की तुलना दोनों के एक ही होने का प्रमाण देती है। दोनों ने 'विट्ठल' को इष्टदेव मानकर 'भक्ति-प्रदर्शन' किया है। दोनों में व्यक्तिगत प्रसंग, पदों के भावों पर नाथपन्थानुमोदित योगधारा की छाप समान रूप से है।

'सन्त-पंचायतन' के प्रसिद्ध महापुरुष नामदेव इसी समुदाय के सन्त 'तुकाराम' के आध्यात्मिक आदर्श भी थे। आपसे कबीरादि उत्तर-भारत के सन्त अत्यधिक प्रभावित हुए। अतः आप उत्तर-भारत तथा महाराष्ट्र के सन्तों के पथ-प्रदर्शक कहे जाते हैं। आपकी माता का नाम गोनाबाई तथा पिता का दामा शेट तथा जन्म का समय कार्तिक सुदी ११ सं० १३२६ कहा जाता है। इनकी धर्मपत्नी का नाम राजबाई और चार सन्तानों का नारायण, महादेव, गोविन्द, विट्ठल तथा कन्या का लिंबाबाई कहा जाता है। युवावस्था में आपका डाकू होना भी कहा जाता है, पर एक नारी पर करुणा कर वे यह कार्य छोड़ पण्ढरपुर चले गए। आपके गुरु विसोवा खेचर नामक संत थे। कुछ सन्त ज्ञानेश्वर को भी आपका गुरु बताते हैं। पर पूर्व मत के प्रमाण विशेष हैं। आपने ज्ञानदेव के साथ तीर्थ-यात्राएँ कीं, जिनका उल्लेख 'तीर्थावली' नाम से प्रसिद्ध है। तीर्थ-यात्रा के पश्चात् ही ज्ञानदेव का देहावसान हो जाने से दक्षिण से उदासीन हो पंजाबप्रान्त की ओर भ्रमण करते रहे तथा 'घोमन' गाँव में बस गए, यहीं अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं तथा यहीं आपकी मृत्यु हो गई। आचार्य सेन के मतानुसार वहीं उनके तथा उनके शिष्यों का मठ स्थापित हो गया तथा 'बाबा नामदेव का सम्प्रदाय' नाम से प्रसिद्ध हुआ। विलियम कुक ने इसकी एक शाखा को 'नामदेव-पंथी' बतलाया है, तथा यह भी कहा गया है कि ये एकेश्वरवादी, कर्मकाण्ड-विरोधी तथा अपने को नामदेव-वंशी भी कहते हैं। आपके अनुयायी सिख कहे जा सकते हैं। कारण, आपकी अनेक रचनाएँ 'आदिग्रंथ' में संगृहीत हैं और आपका मत सिख. धर्म के

सिद्धान्तों से मिलता है। आपके हिन्दू अनुयायी विशेषकर जालन्धर, गुरुदासपुर और हिसार में आज भी पाए जाते हैं।

सदा संकीर्तन में निमग्न रहने के कारण इनका कुटुम्ब दरिद्रता से अभिशप्त रहा। अतः भगवद्भजन के साथ-साथ काम-काज करना भी आपने अपना सिद्धान्त माना। सन्त नामदेव के विषय में प्राप्त अन्तर्साक्ष्यों के आधार पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनको अपने गृहस्थ-जीवन के प्रति कदाचित पूर्ण विरक्ति कभी भी नहीं रही।

सन्त नामदेव अपने जीवन के अन्तिम काल तक अत्यधिक ख्याति प्राप्त कर चुके थे। उनकी रचनाओं का अधिक प्रचार हो जाने के कारण, उनमें अनेक परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक था। यद्यपि नामदेव की समस्त रचनाओं की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है, किन्तु उनके 'आदि-ग्रन्थ' में संग्रहीत पदों तथा मराठी संग्रहों में पाए जानेवाली कतिपय रचनाओं पर ही सन्तोष करना पड़ेगा। 'आदिग्रन्थ' के अन्तर्गत आये हुए उनके पदों की कुल संख्या ६२ है और मराठी-संग्रह में संग्रहीत हिन्दी-पद प्रायः १०२ तक पाए जाते हैं। आपके विचार महाराष्ट्र के 'वारकरी-सम्प्रदाय' से प्रभावित थे। इस सम्प्रदाय के सन्तों में निर्गुण सर्वात्मस्वरूप, अद्वैत-ब्रह्म के प्रति पूर्ण-निष्ठा तथा सगुण-मूर्ति के समक्ष कीर्तनादि भी प्राप्त होता है। इसमें ऊँच-नीच की भेद-भावना न थी।

सन्त नामदेव ने अपने 'गोविन्द' को व्यापक, पूरक, मणियों के भीतर ओतप्रोत धागे की भाँति सर्वान्तर्यामी माना है, तथा सर्वत्र 'बीठल' का ही दर्शन कर पूर्ण आनन्द की प्राप्ति की है। आपके भावुकतापूर्ण पदों में 'राम' के प्रति अनन्य भक्ति का प्रदर्शन है, तथा उस एक राम-भक्ति को अपनाकर अन्य की उपासना भी व्यर्थ कही है। उनके अनुसार 'उस सनेही राम' के मिलते ही पारस के स्पर्श के समान सब-कुछ कंचन हो जाता है। अहंभाव का भ्रम जब दूर हो जाता है, फिर तो 'ठाकुर' एवं 'जन' एक ही हो जाते हैं। इस प्रकार आप सर्वात्मवाद और अद्वैतवाद दोनों विचार के हैं तथा भक्ति का स्वरूप शुद्ध निर्गुण भक्ति है जिसमें 'नाम-साधना' का विशेष महत्त्व है। उन्होंने उस साधना की सम्भावना को गुरु-कृपा पर अवलम्बित माना है। उससे मानसिक दृढ़ता तथा फिर 'मुरारि' की प्राप्ति, और इस प्रकार संसार-सागर से पार जाना सरल हो जाता है।

नामदेव की मृत्यु संवत् १४०७ में पंढरपुर में कही जाती है। आपका समस्त जीवन भक्ति-रसाप्लावित था तथा पूर्णतः उत्तरीभारत के सन्तों के अग्रणी होने योग्य थे।

सन्त त्रिलोचन

आप सन्त नामदेव के समकालीन थे। प्रियादास के अनुसार ये वैश्य वंशोत्पन्न तथा साधु-भक्त थे। आपका नाम भूत, भविष्य एवं वर्तमान के ज्ञाता होने के अनुरूप ही था। 'आदिग्रन्थ' में संग्रहीत चार पद तथा प्रश्नोत्तर हैं। सन्त-मत के अनुसार आदर्श-जीवन का सारा रूप इनके नामदेव से किये प्रश्नोत्तरों में निहित है। इनके पदों में एकाध में मराठी भाषा के भी कुछ चिह्न लक्षित होते हैं। इनकी भाषा मूलतः हिन्दी ही है। आपने मराठी में भी पद-रचना की। उनकी रचनाएँ मध्यम श्रेणी की हैं। उपलब्ध चार पदों में से प्रथम में माया-मोह का प्रभाव दिखाकर उसकी व्यर्थता, दूसरे में झूठे संन्यासियों की आलोचना तथा उनको चेतावनी, अन्तकाल के स्मरण तथा अन्तिम में कर्म की अमिट रेखा का प्रभाव दरशाया है, तथा सर्वत्र भगवन्नामस्मरण का ही महत्त्व कहा है। कहा जाता है कि अन्तिम पद की रचना इन्होंने उस समय की थी, जब ये भक्ति-मार्ग में अधिक अग्रसर होकर सांसारिकता के प्रति विरक्त हो गए थे और अनेक आर्थिक संकटों के बीच होकर गुजर रहे थे।

कबीरदास

विक्रम की नवीं शताब्दी के लगभग आरम्भ होने वाला समय वस्तुस्थिति के पर्यवेक्षण एवं मूल्यांकन का युग था। पूर्वोल्लिखित सन्तों की आलोचना और मत एक ही प्रकार से उग्र न था और न उन सबने एक ही प्रकार से अपने मूल मतों को सुधारना ही चाहा था। स्वामी शंकराचार्य ने अपने समय के अवैदिक मतों को अमान्य ठहराया तथा परवर्ती भक्ति-प्रचारक आचार्यों ने भी प्रायः इसी पद्धति का अनुसरण किया। वेदादि धर्मग्रन्थों के प्रति इन सबकी आस्था निरन्तर बनी रही और ये सदा उनकी प्रभाशयता का दम्भ भरते रहे। बौद्धों एवं जैनों के सुधारक सम्प्रदायों, नाथ-योगी-सम्प्रदाय तथा वैष्णव-सहजिया लोगों को भी वेदादि प्रामाण्य ग्रन्थों की आवश्यकता न रही। 'वारकरी-सम्प्रदाय' ने मध्यम मार्ग का अवलम्ब ग्रहण किया। इस प्रकार सुधारक सम्प्रदायों के दो भिन्न-भिन्न दल हो गए। प्रथम पूर्वनिर्दिष्ट आदर्शानुसार व्यवस्था कर परिवर्तनकर्ता द्वितीय स्वतन्त्र ढंग से सर्वमान्य रूप देने का प्रयत्न करने वाले थे। द्वितीय दल ने मानव-शरीर को ही सत्य का सर्वश्रेष्ठ मन्दिर समझा। इस भावना ने प्राचीन धर्म-ग्रन्थों एवं चिरकालीन रूढ़ियों पर निर्भर रहने से रोका तथा हृदय की शुद्धता एवं सत्य पर अटल विश्वास रखने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार आत्मविश्वास, आत्म-गौरव तथा स्वावलम्बन की प्रवृत्ति को दृढ़ता मिली तथा परमुखापेक्षिता के स्वभाव का परिवर्तन भी हुआ।

परमतत्त्व के स्वरूप के सम्बन्ध में स्वामी शंकराचार्य ने आत्मज्ञान की साधना को सर्वश्रेष्ठ ठहराया, भक्ति-प्रचारक परकालीन आचार्यों ने अलौकिक भगवान् की कल्पना की तथा सहजयानी बौद्धों ने सत्य, शून्य की अद्वयता स्पष्ट करते हुए महासुखमय 'सहज' का आरोप किया। वैष्णव सहजिया ने 'सहज' को प्रेमपात्र मान उपलब्ध करना अपना ध्येय समझा। यह प्रेम-भावना सूफी के 'इश्क हक़ीक़ी' से भी प्रभावित रही और इन्हीं का संश्लिष्ट रूप कबीर का विरह-गर्भित प्रेम बना।

स्वामी शंकराचार्य एवं भक्ति-प्रचारक आचार्यों ने संस्कृत भाषा व्यवहृत की। किन्तु सहजयानी बौद्ध, जैन, मुनि, नाथ, योगी व सहजिया वैष्णवों की प्रवृत्ति इसके विरुद्ध दिशा की ओर काम करती हुई दीख पड़ी। उन्होंने अपनी स्वतन्त्र रचनाओं में तत्कालीन प्रचलित जन-भाषाओं को ही अपनी अभिव्यक्ति एवं भाव-प्रकाशन का माध्यम बनाया। प्रथम में प्रामाणिक एवं मान्य ग्रन्थों के उद्धरण तथा द्वितीय में निजी अनुभव तथा साधारण संकेतों पर आधारित दृष्टान्तों एवं रूपकों का उपयोग हुआ।

भारतवर्ष में ९वीं से १५वीं शताब्दी का युग संक्रान्ति-काल था। देश पर गजनी, गोरी आदि के आक्रमण, गुलाम, खिलजी तथा तुगलक आदि वंशों के सुल्तानों का शासन रहा। इसी समय बौद्ध-धर्म का ह्रास हुआ, सूफी सम्प्रदाय का प्रचार हुआ। प्रायः इसी समय शंकराचार्य एवं कुमारिल भट्ट-जैसे विरोधी प्रचारकों के प्रयत्नों द्वारा बौद्ध-धर्म प्रायः निर्बल-सा हो गया और जैन-धर्म तथा शैव एवं वैष्णव सम्प्रदायों के भीतर भिन्न-भिन्न संगठन हो रहे थे। सुल्तानों के स्वेच्छाचारी शासन में संघर्ष युग में उचित मार्ग दिखलाने का कार्य परस्पर-विरोधिनी प्रवृत्तियों में समन्वय कर स्थायी एवं सार्वभौम आदर्श रख सकने वाला कर सकता था। नामदेवजी ने 'वारकरी-सम्प्रदाय' से सम्बन्धित होने पर भी, स्वतन्त्र मत तथा स्वानुभूति पर आधारित उपदेश दिये और लोकप्रिय बने। वे अपने पदों को प्रायः करताल के साथ गाया करते थे और उनकी तल्लीनता तथा भावुकता उपस्थित श्रोताओं को मुग्ध कर लेती थी, जिसके कारण नामदेव का प्रभाव समस्त उत्तर भारत, राजस्थान, पंजाब और बंगाल तक व्याप्त हो गया। कबीर भी आपके पदों से प्रभावित हुए।

बौद्धों एवं जैनियों का प्रचार अपेक्षाकृत कम तथा सूफी का अधिक हुआ तथा वैष्णव-सहजिया सम्प्रदाय के कवि चंडीदास अपने माधुर्यपूर्ण पदों द्वारा मन्त्रमुग्ध कर रहे थे। इसी परम्परा में कबीर ने साम्प्रदायिक भावना से मुक्त होकर सर्वमान्य बनने का प्रयास किया।

कबीर का परिचय देनेवाली उपलब्ध सामग्री द्वारा यह पता चलता है, कि प्राचीन रचनाओं में आप एक 'भक्त-विशेष' के रूप में ही व्यक्त हुए हैं। कुछ साहित्य में आप 'सत्य कबीर' के रूप में आते हैं तथा आपसे सम्बन्धित अनेकानेक चमत्कारपूर्ण घटनाओं का संग्रह उपलब्ध होता है। यदि एक ओर वह भक्त एवं अवतारी सन्त कहे जाते हैं, तो दूसरी ओर धार्मिक नेता एवं सुधारक। आपकी मृत्यु के सम्बन्ध में भी अनेक मत हैं। कबीरपंथियों के आधार पर आप अलौकिक पुरुष थे। कबीर की जाति जुलाहा होने की पुष्टि अनेक महापुरुषों तथा स्वयं उनकी उक्ति द्वारा होती है। आपकी रचनाओं में यत्र-तत्र पाए जाने वाले मुसलमानी संस्कारों द्वारा प्रभावित कार्यों आदि के उल्लेख द्वारा भी यह सिद्ध होता है कि आपकी विचारधारा पर मुसलमानी संस्कृति की छाप स्पष्ट थी। हिन्दुओं के उच्चतम आध्यात्मिक विचारों के प्रबल समर्थक होने से मूलतः इस्लाम-धर्मी होने में सन्देह भी है। डॉ० बड़थ्वाल के शब्दों में, "मेरी समझ से कबीर भी किसी प्राचीन तथा कोरी किन्तु तत्कालीन जुलाहा कुल के थे, जो मुसलमान होने के पहले जोगियों का अनुयायी था।" यहसम्भव है कि जुगी कहलाने वाली जाति पहले नाथमत की अनुयायिनी रही होगी और किसी-न-किसी कारण मुसलमानी प्रभाव में आकर धर्मान्तर ग्रहण किया होगा। अथ यावत् उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर हम उन्हें केवल जुलाहा और सम्भवतः इस्लामी धर्मानुयायी जुलाहे कुल का ही बालक मान सकते हैं। कबीर साहब की रचनाओं में प्राप्त भिन्न-भिन्न मतों एवं संस्कारों का सामंजस्य इनके धर्मान्तरित कुल मात्र के ही सहारे न करके इनकी परिस्थिति, पर्यटन, सत्संग, प्रतिभा तथा अन्य कारणों के बल पर भी न्यायसंगत रूप से किया जा सकता है।

कबीर साहब का जीवन-वृत्त

'ज्ञान-सागर' में इनके पोषक पिता 'नीरू' को पूर्व-जन्म का ब्राह्मण बताया गया है। 'गुरुग्रन्थ साहिब' में 'हमारे कुल कउने राम कहिओ। जबकी माला लई नियूते तब ते सुख न भइयो' द्वारा आपकी माता का मुसलमानिन (नीमा) होना कहा जा सकता है। 'पिता हमारो बहु गोसाईं। तिसु पिता पहिहउ किउ जाईं' द्वारा इनके पिता जितेन्द्रिय का गोसाईं होना भी कहा जा सकता है, पर इसका अभिप्राय परमेश्वर से भी लिया जा सकता है।

शिक्षा-दीक्षा के विषय में 'मसि कागद छूयो नहीं कलम गह्यो नहिं हाथ' ही प्रसिद्ध है। कबीर-पंथियों की धारणा है 'पाँच बरस के जब भये कासी माँझ कबीर। गरीब दास अजब कला, ज्ञान ध्यान गुण सीर।' सर्वसाधारण की धारणा 'रामानन्द' को इनका गुरु बताती है, क्योंकि वे तत्कालीन महान् धार्मिक

नेता एवं सुधारक थे। अतः इनके सम्पर्क में आप अवश्य आए होंगे। मौ० गुलाम 'सरवर' ने शेख कबीर जोलाहा को शेख तकी का उत्तराधिकारी और चेला बताया है। परन्तु ये कबीर के समकालीन सिद्ध नहीं होते और न उनके पीर ही। उक्त नाम के दूसरे झूँसीवाले शेख तकी नाम से प्रसिद्ध हैं। परन्तु कबीर उनके शिष्य थे, इसका भी कोई प्रमाण नहीं है। 'गोमतीतीर वासी पीताम्बर पीर' की प्रशंसा कबीर ने अवश्य अपनी रचना में की है, परन्तु इससे उनका गुरु होना सिद्ध नहीं होता। आपकी रचनाओं में गुरु-महिमा आदि का विस्तृत उल्लेख पढ़कर यह प्रकट होता है कि आपने किसी एक व्यक्ति से दीक्षित न होकर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से सत्संग-लाभ किया और ज्ञानोपलब्धि की।

आपकी कृतियाँ अधिकतर मौखिक होने के कारण परिवर्तित होती रहीं। यह प्रसिद्ध है कि सं० १५२१ में आपके शिष्य धर्मदास ने 'बीजक' नामक आपकी रचनाओं का संग्रह किया। इस प्रामाणिक पाठ की भाषा का सम्यक् निरीक्षण करने पर उक्त संग्रह की प्राचीनता संदेह में पड़ जाती है। 'गुरु-ग्रन्थ-साहिब' में संगृहीत आपके लगभग सवा दो सौ पद एवं ढाई सौ 'सलोक' तथा साखियों को वास्तविक रचना कहा जा सकता है। आपकी रचनाओं का दूसरा संग्रह काशी ना० प्र० सभा द्वारा प्रकाशित 'कबीर-ग्रंथावली' है। इसमें भी अनेकों परिवर्द्धन व परिवर्तन हैं, फिर भी इसकी भाषा और बेसुधरे रूप से इसकी प्राचीनता एवं प्रामाणिकता सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त इसी सभा की एक महत्त्वपूर्ण प्रति 'व्याना प्रति' नाम से प्रसिद्ध है।

वैष्णवों के प्रति प्रदर्शित श्रद्धा, राम, हरी, नारायण, मुकुन्द आदि प्रयुक्त शब्द-बाहुल्य से इनका रामानन्द का शिष्य होने का अनुमान किया जाता है।

कबीर साहब का मत

परन्तु तीर्थ, व्रत, भेष, मूर्तिपूजा आदि के प्रति अनास्था लक्षित होने से विरोधी भाव भी दिखाई पड़ता है। निर्गुण ब्रह्म के महत्त्व का प्रतिपादन करने से ये निर्गुणोपासक अधिक कहे जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ इन्हें वारकरी-सम्प्रदाय का, कुछ शुद्धविचारक एवं दार्शनिक मानते हैं। कबीर में शांकर अद्वैतवाद तत्त्व पाकर वेदान्ती, कुछ विद्वान् नाथपन्थी और कुछ केवल सच्चे सुधारक-मात्र कहते हैं। इसके विपरीत 'जोति से सृष्टि की उत्पत्ति बताना, 'गोर' अंबर, चौदह चन्दा आदि इस्लामी भाव-प्रदर्शक बातों के उल्लेख आदि करने से आपको सूफीसम्प्रदाय के शेख तकी का शिष्य बताते हैं। अस्तु, बहुत से विद्वानों का यह कथन है कि आपने हिन्दू-धर्म से अद्वैत सिद्धान्त, वैष्णव-सम्प्रदाय की भक्तिमयी उपासना, कर्मवाद, जन्मान्तरवाद, बौद्ध-धर्म से शून्यवाद, अहिंसा, मध्यम-

मार्ग, इस्लाम-धर्म से एकेश्वरवाद, भ्रातृभाव और सूफी सम्प्रदाय से प्रेम-भावना को लेकर सारग्राही सम्मिश्रण कर नया सर्वग्राह्य पन्थ चलाने का प्रयास किया।

कबीर के समय में धर्म के क्षेत्र में केवल हिन्दू-मुसलमान ही नहीं बल्कि यती, जोगी, संन्यासी, शाक्त, जैन, शेख एवं काज़ी सर्वत्र अपनी-अपनी डफली अपना-अपना राग अलाप रहे थे। सामाजिक क्षेत्र में भी अछूत समस्या वृहद् रूप धारण कर रही थी। धर्म-ग्रन्थों के आधार पर सामाजिक विशृंखलता के साथ-साथ अगणित वाह्याचारों एवं विधानों का प्रपंच बढ़कर वास्तविक तत्त्व को प्रकट होने ही न देता था। कबीर ने सभी समस्याओं के मूल हितैषी उपाय 'सत्यान्वेषण' में लगकर शान्ति प्राप्त की। कबीर की सत्यान्वेषण-पद्धति निगमन विधि-परक न होकर पूर्णतः व्याप्तिविधि-परक है। आपका विचार धर्म-ग्रन्थों के जाल का आश्रय न लेकर, स्वतन्त्र रूप से निजी अनुभव का रहा। कारण यह है कि इस दशा में जिज्ञासु के लिए स्वतः शक्ति, विचार, मनन एवं अनुभव प्राप्त हो सकेगा। उन्होंने वेद, पुराण और स्मृतियों में कही गई बातों को झूठ सिद्ध कर उन्हें माया-जन्य कहा तथा 'षट्दर्शन' और 'छानवे पाखंडों' के आधार पर तर्क-वितर्क करने वालों की अन्धगति का तीव्र विरोध किया। तत्विपरीत अन्धानुसरण, अनुभवाश्रित न होने से बाह्यरूपेण ही प्रभावित करने की क्षमता रखता है, अतः आपकी विचार-पद्धति की भित्ति स्वानुभूति पर आधारित होकर उसका गुणगान कराती है, तथा परावलम्बन द्वारा प्राप्त ज्ञान की निन्दा। 'करत विचार मनहीं मन उपजी ना कहीं गया न आया' के अनुसार कबीर ने 'भीतर के तत्त्व' को पहचानकर बाह्याचारों से विरक्ति ग्रहण की। उनकी ज्वालामयी वेदना परमतत्त्व की सहज़ानुभूति रूपी जल से बुझकर शीतल हो गई—

तन भीतरि मन मानियाँ, बाहरि कहा न जाई।
ज्वाला तें फिरि जल भया, बुझी बलन्ती लाई॥[1]

वास्तव में इस अनुभव की कथा अकथनीय है। जिसके हृदय में यह सहज भाव से उत्पन्न हो गया, वह उसी में लीन हो गया।

कहे कबीर यहु अकथ कथा है, कहता कही न जाई।
सहज भाइ जिहि ऊपजै, ते रमि रहे समाई॥[2]

कबीर के परमतत्त्व का रूप भी उतना ही व्यक्तिगत है, जितना कि अनुभव-गम्य हो सके। वे स्वयं भी पूर्णसत्य को पूर्णरूप में जान लेने का प्रमाण

---

१. कबीर ग्रन्थावली सा० ३१ पृ० १५।
२. वही पद १४, पृ० ९३।

नहीं देते। यद्यपि सत्य के वास्तविक स्वरूप के विषय में किये गए वर्णन अन्ततः अपूर्ण हैं, पर उनके आधारभूत निजी अनुभव का धार्मिक दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। वे उस तत्त्व के विषय में कहते हैं 'वह अननुभूत, अविगत, अगम एवं अकलप तो है ही, जहाँ तक अपने अनुभव के भीतर आ सका, वहाँ तक भी उसे 'अनुपम, निराला, अकथ एवं अगोचर ही कहना पड़ा।' वे अनुभवजन्य, आत्मसात् दशा को अवर्णनीय पाते हैं। तदनुसार उसे कभी निर्गुण, अलख, निरंजन नाम देते हैं तथा कभी 'आतम', 'आप', 'आपन' शब्द द्वारा अभिहित करते हैं। कबीर ने उसे तत्कालीन व्यवहृत सभी भिन्न समाजों में प्रचलित नामों से पुकारा है। सृष्टि एवं जगत कर्ता की दृष्टि सम्बन्धी बातों के प्रसंग में उसे क्रियाशील पुरुष भी कहा है। सृष्टि से वह किसी भिन्न व्यक्ति विशेष-सा प्रतीत होता है, पर वस्तुतः वह एवं सृष्टि एक ही है, क्योंकि 'सृष्टिकर्ता में ही सृष्टि है और सृष्टि में सृष्टिकर्ता ओत-प्रोत है।' आत्मतत्त्व मनुष्य-सृष्टि का सर्वोत्कृष्ट रूप है, अतः यह भी सृष्टिकर्ता का अंग है। वह मूलतः वही है, जो पूर्ण सत्य है। अतएव उसमें दीख पड़ने वाली विभिन्नताएँ मिथ्या हैं और उसके 'भरम-करम' तथा उस कर्म के कारणों ने संसार-मात्र को भ्रमित कर रखा है और अज्ञानी बना रखने का मूल कारण आपने मायातत्व को विश्वमोहिनी सुन्दरी ठगिनी के रूप में चित्रित किया है। माया के पाँच पुत्र काम, क्रोध, मोह, मद, मत्सर को उक्त 'भरभ-करम' बढ़ाने में सहायक बताया है। वह जल, स्थल एवं अकाश, सर्वत्र व्याप्त है, उसका प्रभाव सम्पूर्ण सृष्टि में दृष्टिगोचर होता है। वह कभी माता-पिता, कभी स्त्री-पुत्र, कभी आदर-मान, कभी जप-तप, और मोक्ष के रूपों में ही बन्धन डाल देती है। छः यती, नव-नाथ तथा चौरासी सिद्ध तक माया के प्रपंचों से नहीं बच पाए और सम्पूर्ण देव-गण, सूर्य, चन्द्र, सागर, पृथ्वी आदि सभी उसके प्रभावों से प्रभावित हुए। कबीर ने उसके लिए सर्पिणी, पापिणी, तथा डाकिणी की कल्पना की है, जिसका कार्य जीव को ब्रह्म से न मिलाकर, दुष्प्रवृत्तियों में लगाना है।

कबीर के दार्शनिक मतानुसार सबसे अन्तिम तत्त्व एवं परमतत्त्व 'सति' (सत्य) है, जिसका वास्तविक स्वरूप अगम तथा अज्ञेय है। अपने को वह स्वयं आप ही जानता है, और अन्य उसे 'है' मात्र से अधिक नहीं कह सकता। इस 'भरम करम' का मूल कारण भी उसी की नटखारी तथा लीला है, जिसके मनमोहक रूप ने हमारे भीतर आसक्ति का भाव उत्पन्न करके हमें जंजाल में फँसा रखा है यही सत, रज, तम रूपिणी त्रिगुणात्मिका प्रकृति है, यही माया भी है जो 'अहेडे' एवं शिकार खेलने निकली हुई है।

इस प्रकार कबीर का 'सति' ही वेदान्त की परिभाषा के अनुसार ब्रह्म, 'करता' ही 'उपाधिगत ईश्वर', जीव ही 'आत्मा' और 'माया' 'अविद्या' है। 'जीव' और 'सुरति' का भी निज स्वरूप वही है जो अभिन्नत्व वेदान्त में आत्मा तथा परमात्मा का है। परन्तु साथ ही वह 'सति' 'साहेब' के रूप में 'व्यक्ति' सा भी है। उसका सहज-रूप तो निर्गुण तथा सगुण निर्गुणातीत निरंजन का है।

कबीर के मत से वस्तुस्थिति का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर, उस दृष्टिकोण को चिरस्थायी रूप देने के लिए, माया बेलि को नष्ट कर निश्चित ध्येय को सम्मुख रखना ही कल्याण-पथ है। इस व्यवहार-धर्म के संचालन में इन्द्रियाधीश मन की अनस्थिरता को दूर करने के लिए कबीर साहब ने 'सहज समाधि' का आदर्श प्रस्तुत किया है। इसे प्राप्त कर लेने पर सारी समस्याएँ हल हो जाती हैं और उसकी प्राप्ति के लिए 'सुरति'-जैसी कुछ साधनाएँ अपेक्षित हैं, जिसमें हमारे मूल सत्य का प्रतिविम्ब झलकता है। उसे 'अनहद सबद' के साथ जोड़ देने से असीम सुख की प्राप्ति होती है। इस प्राणायाम द्वारा कुण्डली-भेद का उल्लेख करते हुए, आपने कहा है, इस प्रकार से अपनी सुरति में शून्य के प्रति अनुराग उत्पन्न कर अमरत्व-प्राप्ति होती है। साथ ही मन को अनुसख न कर उसे लक्ष्य की ओर मोड़ने का प्रयत्न करने का ही आदेश दिया है। कुंडलिनी, योग एवं लय-योग की चर्चा योग-साधना-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों में मिलती है। योगमतानुसार हमारे मेरुदंड में नीचे से ऊपर तक क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध एवं आज्ञा नामक छः चक्र पाए जाते हैं और सबसे ऊपर सातवाँ चक्र विद्यमान है जो सहस्रार कहलाता है। कुण्डलिनी, मूलाधार चक्र से प्रबुद्ध होकर मेरुदण्ड के भीतर उक्त छः चक्रों को क्रमशः भेदती हुई सहस्रार में लीन हो जाती है और हमारी समस्त बिखरी हुई वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं, मन एकाग्र तथा स्थित-चित्त हो जाता है। इस प्रकार अभ्यास से स्थिर मन होते ही निर्मल एवं निराकार होकर वह सहायक बन जाता है। उक्त साधना के अनन्तर प्राप्त परिणाम को 'ब्रह्मज्ञान' की संज्ञा देकर उस स्थिति में स्थिर रहने को 'सहज समाधि' कहा है। इस प्रकार यह स्थिति अल्प-कालीन या चिरकालीन मानसिक स्थिति नहीं, वरन् यह अपने स्वभाव का ही सर्वदा के लिए कायापलट है। यही 'सोधी' (शुद्धि) नाम से स्थिति कही गई है, जिसे सद्गुरु द्वारा सभी दातव्य में श्रेष्ठ बताया है।

उक्त समाधि का रूप केवल ज्ञानात्मक ही नहीं वरन् भक्तिमय भी है, जिसमें प्राण नामस्मरण को सर्वोपरि साधन मानते हैं। उनके अनुसार पूर्वोक्त 'अनाहत बानी' को ही वह भाव-रूपिणी वस्तु बताया है, जिसे हम ज्ञान रूपी

दीपक के प्रकाश हो जाने पर उपलब्ध करते हैं। वही अन्य शब्दों में 'हरिनाम' एवं 'रामनाम' है। इसी को 'हरि सूँ गठजोरा' तथा 'प्रेमभगति' भी कहा है। जिस अमृत स्राविनी भगति का रहस्य बाह्यतः नहीं स्थिति-विशेष में निरत रहने में ही माना है, जिसका प्रचलित नवधा पद्धतियों के रूपों से कोई सम्बन्ध नहीं, समस्त व्यापार अंतर्गत ही स्वभावतः होते हैं। सच्ची भक्ति की व्याख्या करते हुए कबीर ने कहा है कि जिस प्रकार मृग वीणा के स्वर को सुनते ही बिंध जाता है और शरीर-त्याग करने पर भी उसका ध्यान नहीं टूटता तथा मछली जल के साथ ऐसा प्रेम करती है कि प्राण छोड़ने पर भी उसी में लीन रहना चाहती है, जिस प्रकार कीट भृंगी में इतना लीन हो जाता है कि वह भी भृंगी बन जाता है, उसी प्रकार इस 'अमृत सार' नाम का स्मरण करके भक्त लोग भव-सागर पार किया करते हैं।[१] सहज-समाधि की स्थिति में भाव-भगति से ओतप्रोत स्वभाव को आपने 'सहजसील' की संज्ञा दी है। यही वह सहज की अवस्था है, जब "अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अपने कहने में पूर्णतः आ जाती हैं, और ऐसा प्रतीत होने लगता है कि हमें परमात्मा का स्पर्श अथवा प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है।"[२] हमारे अन्तःकरण में अव्यक्त, व्यक्त हो जाता है, प्रेम-ध्यान की तारी लग जाती है और अन्तःपट के खुलते ही सारी वेदनाएँ सुखमयी बन जाती हैं। ऐसे महापुरुष में विक्षिष्ट गुणों का समावेश हुआ करता है। सर्वोत्तम विशेषता यह है कि समस्त गुण स्वभावतः उत्पन्न होकर, उसे पार्थिव न बनाकर आध्यात्मिक बना देते हैं। उसका अन्तःकरण निर्मल बन जाता है और अलौकिक आनन्द की उपलब्धि हो जाती है। यह व्यक्ति के विकास की पूर्णावस्था है, जिसमें भेद-भावना से परे होकर उसे 'भगत', 'हरिजन', 'साधु' तथा 'प्रत्यक्ष देव' कहा जाता है।

व्यष्टि के पूर्णतः सुधरते ही समष्टि का सुधार अनिवार्य है। अतः आपने सामाजिक व्यवस्था का आदर्श सामने न रखकर व्यष्टि में ही नैतिक गुणों के समावेश का उल्लेख किया है। आपका संत शाश्वत सत्य को अपने नैतिक जीवन में उतारते रहने की चेष्टा करेगा, जिससे भूतल पर ही स्वर्ग का निर्माण सम्भव हो सकता है। यह पूरे साम्यवादी हैं, पर इनके यहाँ सामाजिक प्रश्न आर्थिक एवं राजनीतिक प्रेरणाओं से नहीं बल्कि 'समाज धर्म' के आदर्शानुसार उठा करते हैं। कबीर समाज, अर्थ, धर्म, सभी क्षेत्रों में साम्य-भावना के पक्षपाती हैं। उनकी दृष्टिमें ऊँच-नीच, धनी-निर्धन समान हैं।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद ३९३, पृ० २१८।
२. वही, साखी २, पृष्ठ ४२।

संक्षेपतः कबीर के अनुसार धर्म का स्वरूप सत्य के प्रति किसी व्यक्ति की पूर्ण आस्था, उसके साथ तादात्म्य की मनोवृत्ति तथा उसी के आदर्शों पर निश्चित व्यवहार की प्रवृत्ति में भी देखा जा सकता है। कबीर की क्रान्ति बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी थी। उन्हें परलोक-जैसे काल्पनिक प्रदेश के प्रति विश्वास न था। वे लोक को ही अपने आदर्शों एवं प्रभाव द्वारा स्वर्ग बना देने में विश्वास रखते थे। वे कपट, पाखंड, जाल एवं अत्याचार के घोर विरोधी थे और शुद्ध-हृदय, साहसी, स्पष्टोक्ति एवं प्रेम के प्रबल समर्थक भी थे। इनका 'हरिपद' परमपद स्थान-विशेष का बोधक न होकर 'स्थिति-विशेष' का था तथा 'सन्त' अथवा 'चौथा पद' की सार्थकता भी तभी सम्भव है, जब उसके द्वारा निर्दिष्ट व्यक्ति ब्रह्म एवं सत्य के अस्तित्व का पूर्णतः अनुभव कर चुकने वाला हो जाए, 'अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद संतयेनं विदुर्बुधाः'।

कबीर साहब के समसामयिक सन्त (सं० १५००-१५५०)

कबीर के आविर्भाव-काल में धार्मिक विचारधारा पर अनेक प्रभाव पड़ते जा रहे थे, जिनसे अनेक महापुरुष प्रभावित हुए। ऐसे ही महान् पुरुषों में सर्वप्रसिद्ध स्वामि रामानन्द थे। सन्तसेन नाई, पीपा, रैदास तथा धन्ना भी आपके शिष्य कहे जाते हैं। इन सबकी विचारधारा लगभग एक समान ही प्रवाहित हुई थी। ये सभी असाम्प्रदायिक एवं उदार-हृदय, स्वच्छन्द आध्यात्मिक व्यक्ति थे। कमाल भी इन्हीं में से एक थे। इन्होंने कोई नवीन पन्थ चलाने का प्रयास नहीं किया वरन् सार्वभौम धर्म के ही प्रचारक थे, फिर भी इनके नाम से पन्थों की सृष्टि हो गई। ये पूर्ण संन्यासी कभी नहीं हुए, प्रत्युत परिवार में रहकर सरल जीवन बिताया।

कबीर साहब तथा उनके उक्त समसामयिक सन्तों का कोई ऐसा प्रामाणिक विवरण नहीं मिलता, जिसके अनुसार उपर्युक्त सन्तों का काल-क्रम निश्चित किया जा सके, फिर भी उनकी उपलब्ध रचनाओं तथा अनुश्रुतियों के आधार पर उनके आविर्भाव-काल के विषय में कुछ अनुमान किया जा सकता है।

उत्तर भारत की सन्त-परम्परा में आपका महत्त्वपूर्ण स्थान है। आपके चरित्र-बल एवं असाधारण व्यक्तित्व से समकालीन हिन्दू समाज का वातावरण प्रभावित हो उठा, और आप प्रभावशाली पथ-प्रदर्शक तथा विशिष्ट सुधारक प्रमाणित हुए। लोक-संग्रह की दृष्टि से संयमशील साधुओं की एक टोली संगठित कर, उन्हें 'वैरागी' नाम दे सर्वत्र भ्रमण की ओर प्रेरित किया। आपका जन्म 'अगस्त्य संहिता' के आधार

स्वामी रामानन्द

पर सं० १३५६ में माना जाता है। अध्ययनार्थ काशी में जाकर आप वहाँ विशिष्टाद्वैती, स्वामी राघवानन्द के शिष्य हो गए, तत्पश्चात् आपने भिन्न मत 'रामानन्दी सम्प्रदाय' से प्रचारित किया। आपके गुरु स्वामी राघवानन्द भक्ति-आन्दोलन के नेता थे। आप योगविद्या में पारंगत थे। सन्त नाभादास के समकालीन तथा वैष्णवदास के चेले मिहीलाल ने भी अपने 'गुरु-प्रकारी' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि—

श्री अवधूत वेष को धारे, राघवानन्द सोई।
तिनके रामानन्द जग जाने, कलि कल्यान गई॥[१]

डॉ० बड़थ्वाल ने आपके साधना-मार्ग को योग और प्रेम का समन्वित रूप स्वीकार किया है।[२] आपकी पुस्तिका 'सिद्धान्त-पंचमात्रा' देखने पर यह सिद्ध होता है कि तत्कालीन वातावरण नाथ-योगी सम्प्रदाय से प्रभावित था।

रामानन्द के शिष्य १२ कहे जाते हैं। प्रथम ५ सेन, कबीर, पीपा, रविदास एवं धन्ना तथा शेष ७ में अनन्तानन्द, सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, योगानन्द, सुखानन्द, भवानन्द एवं गालवानन्द। इनमें से प्रथम ५ की सभी बातों पर विचार करते हुए, यही अनुमान लगाया जाता है कि किसी ने भी इन्हें स्पष्टतः अपना गुरु स्वीकार नहीं किया है। रामानन्द की कुछ रचनाएँ संस्कृत एवं कुछ हिन्दी में हैं। डॉ० फर्कुहर का कहना है कि आपके मत का मूल आधार वैष्णव सम्प्रदायों में निहित न होकर 'अध्यात्म रामायण' में है। रामानन्दी सम्प्रदाय आज भी विद्यमान है। आपके दार्शनिक-सिद्धान्तों के आधार विशिष्टाद्वैत की मूल बातों में ही निहित हैं। अतएव रामानुजीय 'श्री सम्प्रदाय' एवं रामानन्दीय 'रामावत-सम्प्रदाय' में कोई विशेष अन्तर नहीं मालूम पड़ता। परन्तु कई प्रकार के भेद भी हैं, यथा नारायण के स्थान पर 'राम' को उपास्य देव मानना, अर्चन-विधियों के बाहुल्य के स्थान पर भक्त-रसाप्लावित गुणगान पर विशेष ध्यान देना। अतः 'रामावत-सम्प्रदाय' का लगाव स्मार्त्त धर्म की ओर भी रहा करता है। इसका प्रचार सर्वत्र हुआ है। इसके नियम सरल एवं सुगम है, मूल मन्त्र 'राम' हैं तथा इष्टदेव राम हैं, जो निर्गुण होते हुए भी भक्त-हित नर देह धारण करते हैं।

आप के सम्बन्ध में दो मत प्रचलित हैं। प्रथम के अनुसार (समय सं० १५०५) बीदर के राजा के आप सेवक थे। प्रसिद्ध सन्त ज्ञानेश्वर के समकालीन,

१. योग-प्रवाह—डॉ० बड़थ्वाल, पृष्ठ २, ३।
२. वही, पृष्ठ ८।

विट्ठलनाथ के स्तुतिकर्ता और वारकरी-भक्त प्रतीत होते हैं।

सेन नाई

दूसरे के अनुसार आप बान्धवगढ़-नरेश के सेवक तथा रामानन्द के शिष्य कहे जाते हैं। तृतीय मत के आधार पर सेनजी बान्धवगढ़ के ही निवासी थे, तथा आप रामानन्द के समकालीन सिद्ध नहीं होते। आप पूर्व-काल में वारकरी-सम्प्रदाय से प्रभावित रहे, तत्पश्चात् पर्यटन करते समय रामानन्द के दर्शन एवं नामदेव से प्रभावित हुए। आपके नाम पर सेन-पन्थ का प्रचलित होना भी प्रसिद्ध है।

फर्कुहर के अनुसार आपका जन्म सन् १४२५ में हुआ। किन्तु कनिंघम ने गागरौन राज्य की वंशावली के आधार पर इनका समय सन् १३६० और १३८५ अर्थात् सं० १४१७ तथा १४४२ के बीच ठहराने का प्रयत्न किया है।

पीपा

इनकी अपनी दो रचनाओं[1] से यह प्रतीत होता है कि ये कबीर साहब के बड़े प्रशंसक थे। आप कबीर को अपना गुरु मानते थे। पीपाजी साधुसेवी एवं सच्चे भक्त थे। स्वामी रामानन्द से प्रभावित होकर आप विरक्त हो गए। आपकी द्वारका-यात्रा का स्मारक रूप 'पीपावट' का वृहत् मठ प्रसिद्ध है। आपकी रचनाओंका संग्रह 'श्री पीपाजी की बानी' है, जिसमें 'सन्तमत' के सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं।

आप ढोरों का व्यवसाय करते हुए भी माया का परित्याग कर, साधु-संग कर भगवद्दर्शन में सफल हुए। आप सरल जीवन-यापन करनेवाले, निस्पृह एवं बाल्यावस्था से ही 'राम-जानकी' के उपासक थे।

रैदास

आपके अनुयायी महाराष्ट्र एवं राजपूताना में भी पाए जाते हैं। मीरा बाई ने अपनी रचनाओं में आपको गुरु भी कहा है। प्रिया-दासजी ने आपकी शिष्या का नाम 'झालीरानी' भी बताया है, जिन्हें कुछ लोग महाराणा सांगा की धर्मपत्नी भी कहते हैं। अतः आपका समय (सं० १५२९-१५८४) कहा जा सकता है। आपकी रचनाओं का संग्रह 'रैदासजी की बानी' नाम से प्रकाशित हुआ है। उसमें फ़ारसी-मिश्रित भाषा का प्रयोग किया गया है। आपके सिद्धान्त उच्च एवं उदार थे। आपकी निष्ठा कोरे ज्ञान की अपेक्षा सत्यानुभूति में विशेष थी। राम का परिचय प्राप्त करने के बाद ही 'दुबिधा' नष्ट हो जाती है। तभी 'परम वैराग' की स्थिति प्राप्त होती है, यह आपका निश्चय था। उस सत्य का परिचय रैदास ने अनुपम एवं अनिर्वचनीय रूप में दिया है। सांकेतिक रूप में आपने प्रेम-भगति का वास्तविक मूलाधार अहंकार

१. श्री पीपाजी की बानी में संगृहीत।

की निवृत्ति बताया है। कबीर ने आपको सन्तमत के अनुसार 'सत्यपथ-दिग्दर्शक' कहा है। आपके अष्टांगसाधन (१) गृह (२) सेवा (३) सन्त (४) नाम (५) ध्यान (६) प्रणति (७) प्रेम (८) विलय (समाधि) कहे जाते हैं। आपकी शिष्य परम्परा में अन्य कोई श्रेष्ठ साधक अनुपलब्ध है। आपके नाम पर ही 'रैदासी' सम्प्रदाय प्रचलित हुआ।

सन्त कमाल

कबीर के औरस पुत्र एवं शिष्य थे। कमाल सन्त-मत के प्रचारार्थ दक्षिण की ओर गये थे। कमाल को मुसलमान बताया है और उनकी भाषा-शैली तथा 'मुरशिद', 'मौला' आदि जैसे शब्दों के अधिक प्रयोग से भी यही सिद्ध होता है। सम्भव है ये सूफियों के सम्पर्क में भी कुछ दिन तक रह चुके हों और इनके विचारों पर उनका भी प्रभाव पर्याप्त रूप में पड़ा हो। 'बूड़ा बंस कबीर का जनमा पूत कमाल' इस कथन को लेकर अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। आपकी विचारधारा कबीर से साम्य रखती है।

धन्ना भगत

आपका जन्मकाल सं० १४७२ माना जाता है। इन्होंने अपने को जाट जाति का तथा रैदास एवं सेन से प्रभावित कहा है। आपका व्यवसाय भगवत् प्रताप के बल पर कृषि करना था। आपके चार पद 'आदिग्रंथ' में संगृहीत हैं। आपके सिद्धान्तानुसार भगवत् कृपा से ज्ञान के प्रकाश से मन एकनिष्ठ हो, प्रेम-भगति का अधिकारी बन, मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। आपमें सरल-हृदय तथा सच्चा प्रभु-विश्वास दृष्टिगत होता है।

पन्थ-निर्माण का सूत्रपात (सं० १५५०-१६००)

किसी मत-विशेष के प्रवर्तक को अपने सिद्धान्त-प्रचार की बलवती इच्छा के कारण अनुयायियों को आवश्यक उपदेश देना पड़ता है और योग्य उत्तराधिकारी की नियुक्ति भी करनी पड़ती है। परन्तु कबीर साहब के देहावसान के पश्चात् ही कबीर-पन्थ विशेष अस्तित्व में आया। इस पन्थ के साधु सुव्यवस्थित संस्था में न रहकर पर्यटन-मात्र किया करते थे। पर 'नानक-पन्थ' के मूल प्रवर्तक गुरु नानक देव ने 'अंगद' को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया और यह पन्थ सिख नामक जाति-विशेष के रूप में परिणत हो गया। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे सन्त भी हुए जिन्होंने सन्तमत से प्रभावित हो उनके भाव-साम्यों को अपनी रचनाओं में प्रकट किया। इनमें से सूर, मीरा तथा जायसी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

कबीर के जीवन-काल में ही बहुत से व्यक्ति उनके अनुयायी बन चुके थे। आपके धर्म का रूप साम्प्रदायिक न होकर सार्वभौम था। इस कारणवश पन्थ का कोई महत्त्व ही न था। कबीर के शिष्य कमाल भी 'पन्थ-रचना' के विरुद्ध थे। आप के एक अन्य शिष्य पद्मनाम भी कहे जाते हैं, जिन्होंने 'राम-कबीर-पन्थ' का प्रचार अयोध्या में किया, परन्तु उनकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। इसके अतिरिक्त आपके चार शिष्यों में से एक धर्मदास द्वारा 'पन्थ' की धर्मदासी शाखा का चलाया जाना प्रसिद्ध है तथा इसके विरुद्ध १२ पन्थों का चलाया जाना भी कबीर-पन्थ के ग्रन्थों में कहा है। अनुराग-सार के अनुसार १२ प्रवर्तक दूतों के नाम क्रमशः 'मृत्यु अंधा', 'तिमिर दूत', 'अंध अचेत', 'मनभंग', 'ज्ञानभंगी', 'मकरन्द', 'चित्तभंग', 'अकिलभंग', 'विसम्भर', 'नकटा', 'दुरगदानि' तथा 'हंस मुनि' हैं। इन नामों का कुछ परिचय हमें तुलसी साहब के 'घटरामायन' तथा परमानन्द साहब के 'कबीर मन्सूर' नामक ग्रन्थों की सहायता से मिलता है। ये नाम वास्तव में क्रमशः नारायणदास, भागोदास, सुरतगोपाल, साहेबदास, टकसारी-पन्थ-प्रवर्तक, कमाली, भगवानदास, जगजीवनदास, प्राणनाथ, तत्वाजीवा तथा गरीबदास के हैं और इनके पन्थ आज भी विभिन्न प्रदेशों में प्रसिद्ध हैं। इस पन्थ की काशी शाखा के प्रवर्त्तक 'सुरत गोपाल' कहे जाते हैं। इन्होंने 'कबीर चौरा' वाली शाखा को प्रचलित किया। आपकी 'अमर सुखनिधान' नामक रचना के विषय एवं भाषा से यह ग्रन्थ उनका नहीं जान पड़ता है। इनके शिष्य तथा इनकी समाधियाँ जगन्नाथपुरी में बताई जाती हैं। अतः इनकी सातवीं पीढ़ी में गुरु सुखदास के समय में इस चौरे पर पन्थ का अधिकार बताया जाता है। गुरुओं की समाधि गुरु शरणदास के समय से बनने लगी और तभी से केन्द्र का प्रबन्ध सुचारु रूप से होने लगा। कबीर चौरा का मठ काशी नगर के अन्तर्गत एक मुहल्ले में आज भी विद्यमान है। मुख्य कबीर चौरा के स्थान पर इस समय एक मन्दिर बना हुआ है। यहीं स्थित मठ में कबीर की प्रतिष्ठा हुई और पन्थ का प्रचार सुदृढ़ता से होता रहा। इसी चौरे के एक कोस पर लहरतारा है। इसके अतिरिक्त 'मगहर' भी तीर्थवत् पूज्य-स्थान कहा जाता है। यहाँ पर स्थित मठ के दो विभागों में कबीर की पूजा की जाती है। इस शाखा के अन्तर्गत मध्यप्रदेश का बुरहान वाला मठ, पुरी की समाधि तथा द्वारका का मठ भी कहा जा सकता है।

कबीर-पन्थ

छत्तीसगढ़ी शाखा के प्रवर्त्तक धर्मदासजी कहे जाते हैं, जिसका मुख्य केन्द्र

मध्य प्रदेश है। इस शाखा के अनुयायी पूर्व से अधिक हैं। धर्मदास के जीवन-वृत्त के विषय में कोई निश्चित प्रमाण नहीं। कबीर-पन्थी ग्रन्थों में आपको कबीर का दर्शन प्राप्त होना बताया जाता है, परन्तु काल-निर्णय से यह प्रमाणित नहीं होता। धर्मदास द्वारा इस पन्थ को बड़ी सहायता मिली। धर्मदास की रचनाएँ 'शब्दावली' नाम से संगृहीत हैं। आपके पद भक्ति-रसाप्लावित हैं। आपने कबीर को अपना गुरु ही नहीं इष्टदेव भी माना है। इसके बाद ४२ पीढ़ियों तक इस मत के प्रचार होने का निर्देश कबीर साहब ने किया था, परन्तु इन पीढ़ियों में आगे चलकर गुरु का होना पैतृक अधिकार हो जाने के कारण पारस्परिक कलह-जैसी समस्याएँ उपस्थित होने लगीं। इस शाखा के पाँचवें गुरु प्रमोध के समय में इस पन्थ की बड़ी उन्नति हुई। इसीलिए इस समय को 'स्वर्णयुग' कहा गया तथा 'सुरतसनेही' के बाद का समय इस दृष्टि से अवनति-काल कहलाया।

धनौती शाखा—कबीरचौरा शाखा के ही अन्तर्गत बिहार में एक मठ प्रसिद्ध है जो 'भगताही' शाखा से सम्बन्धित है। इसके मूल प्रवर्त्तक भगवान् गोसाई थे। आपका पहले निम्बार्क-सम्प्रदाय में दीक्षित होना कहा जाता है और फिर कबीर साहब के सम्पर्क से आपमें विचार-परिवर्तन हो गया। आपने कबीर के शब्दों व साखियों का क्रमबद्ध संग्रह किया था, पर ऐतिहासिक प्रमाण द्वारा यह सिद्ध नहीं होता कि आप उनके समकालीन रहे होंगे। इनके अतिरिक्त भी अनेक शाखाओं का प्रचार हुआ।

इन शाखाओं तथा उपशाखाओं का उल्लेखनीय अन्तर स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। कबीरचौरा वाली का अधिक ध्यान ज्ञान-मार्ग की ओर, छत्तीसगढ़ी का कर्मकाण्ड की ओर तथा धनौती वाली का भक्ति की ओर है।

इस पन्थ की उत्पत्ति एवं विकास के लिए प्रारम्भिक क्षेत्र पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार, उत्कल एवं मध्य प्रदेश का भूखण्ड था, जहाँ से प्रचारित होकर यह सुदूर-दक्षिण तक फैला। उत्कल प्रान्त, जो हिन्दू-धर्म का प्रधान केन्द्र था, वहाँ पर बौद्ध धर्म का भी प्रभाव अत्यधिक था।

पन्थ का सिद्धान्त

कबीर-पन्थ के विकास की प्रारम्भिक दशा में उसके प्रचारकों का संघर्ष बौद्धमत वालों से हुआ। अतः उस धर्म को आत्मसात् किया और अन्त में उनके 'धर्म' या 'निरंजन' की शक्तिहीनता एवं कबीर की शक्तिमत्ता सिद्ध होने लगी थी। उनकी 'शून्य पुराणस्व' 'धर्म-गीता' की सृष्टि-रचना की कथा को कबीर-पन्थी साहित्य ने 'अनुराग-सागर' में कुछ योग के साथ लिखा। हिन्दुओं के पौराणिक

धर्म की बातें क्रमशः बौद्धों के सम्प्रदायों एवं नाथपन्थ में परिवर्तित होकर कबीर-पन्थ में सम्मिलित हो गईं। प्रजापति-धर्म फिर निरञ्जन बन गए और आद्या-शक्ति एवं प्रकृति ने माया नारी का रूप धारण किया। इसी प्रकार इनकी 'चौकाविधि' आदि कर्मकाण्डी विधानों में तान्त्रिक बातों का 'सेकोद्देशविधि' का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है। इस विधि के पश्चात् 'जोतप्रसाद' की भी व्यवस्था की जाती है। इन सब विधियों की रहस्यपूर्ण व्याख्या भी की गई है, जैसे नारियल तोड़ने को अहिंसात्मक बलिदान मानना। बौद्ध-जातकों की भाँति कुछ ग्रन्थ भी इस पन्थ में दीख पड़ते हैं। कबीर को अवतारी प्रकट कर अनेक कथाओं की सृष्टि की गई, जो पौराणिक कथाओं की भाँति हैं। इस प्रकार का साहित्य धर्म-दासी सम्प्रदाय का है, जैसे 'सुखनिधान', 'अगरमूल', 'गुरु-माहात्म्य', 'गोरख-गोष्ठी', 'अनुरागसागर', 'निरञ्जनबोध' और 'कबीर-मन्सूर' आदि। इसके अति-रिक्त कुछ पुस्तकों में चरित्र तथा कुछ में 'भाष्य' रूप से दार्शनिक सिद्धान्तों की भी व्याख्या की गई है। 'कबीर-मन्सूर' के अनुसार जीव पूर्वतः सत्य रूप हंसा में था। फिर उसे आनन्द के कारण आत्म-विस्मृति हुई, जिससे कच्ची देह वाला बन गया। सूक्ष्म देह से स्थूल शरीरधारी बन गया। उनके अनुसार वासनामय जीव को आत्यन्तिक नित्य सुख की प्राप्ति 'पारख' या सद्गुरु की सहायता से ही उपलब्ध होती है। यह स्थिति 'पारखपद' सर्वोच्च है। 'बीजक' के भाष्यों के विवेचन की शैली अत्यधिक तर्कसंगत एवं पाण्डित्यपूर्ण है। पन्थग्रन्थी, त्रिज्या, और निर्णय सागर इसके स्पष्ट उदाहरण हैं।

हिन्दी के सन्त-कवियों द्वारा संस्थापित समस्त पन्थों या सम्प्रदायों की तुलना में नानक-पन्थ या सिख-धर्म सर्वाधिक सजीव और सचेत पन्थ है। भारतवर्ष में

नानक-पन्थ अथवा सिख-धर्म

जितना उत्कर्ष इस पन्थ का हुआ है, उतना कदाचित किसी भी पन्थ का नहीं। सिख-धर्म तथा खालसा सम्प्रदाय के इतिहास पर भी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है और इसलिए इसकी विकास-रेखा निधारित करने के लिए हमें अँधेरे में भटकने की आवश्यकता नहीं है।

सिख-धर्म के प्रवर्तक गुरु नानक का जन्म विक्रमीय संवत् १५२६ के वैशाख शुक्ल तृतीया (१५ अप्रैल, १४६९) को राइ भाई के तलवंडी ग्राम में हुआ। यह ग्राम लाहौर से दक्षिण-पश्चिम तीस मील की दूरी पर स्थित है। नानकजी के पिता कालूचन्द इसी ग्राम के पटवारी थे। इनकी माता का नाम तृप्ता था। नानक बाल्यावस्था से बड़े शान्त-स्वभाव और भगवद्-भक्त थे। पाँच वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने अपने असाधारण मेधावी होने का परिचय

दिया। बाल्यावस्था में ही इन्हें पंजाबी, संस्कृत, हिन्दी एवं फारसी का अच्छा ज्ञान हो गया। धर्म एवं आत्मचिन्तन की ओर इनकी प्रवृत्ति पहले ही से थी। प्रसिद्ध है कि इन्होंने जयराम की सहायता से दौलत खाँ लोदी के यहाँ मोदी-खाने में कुछ दिन तक नौकरी भी की थी। इनका विवाह बाटला ज़िला के गुरुदासपुर-निवासी मुला की पुत्री सुलक्खनी के साथ सम्पन्न हुआ था। इस दम्पति से श्रीचन्द और लक्ष्मीचन्द नामक दो पुत्र हुए। यही श्रीचन्द 'उदासी सम्प्रदाय' के प्रवर्तक एवं प्रसिद्ध साधक थे। मोदीखाने में नौकरी करते समय इनका भाव परिवर्तित हो गया। संसार की विनाशशीलता देखकर इन्होंने दृढ़ता के साथ अविनाशी के चरणों में अपना मन लगाया और 'ना हिन्दू ना मुसलमान' का उपदेश देकर अपने औदार्य का परिचय दिया। मर्दाना इनका अभिन्न साथी और भक्त था। नानक भ्रमणशील व्यक्ति थे। सैयदपुर, हरद्वार, पाकपट्टन, सियालकोट, काबुल, मदीना तथा सिंहल-द्वीप आदि की यात्रा करके इन्होंने अपने आदर्शों और सिद्धान्तों का प्रचार किया। अन्तिम समय में नानक ने अपने शिष्य लहिना को अपना उत्तराधिकारी बनाया। लहिना को आसन पर बिठाकर गुरु नानक ने उसके समक्ष विधिपूर्वक नारियल और पैसे की भेंट की। लहिना के समक्ष सिर झुकाकर अन्य सिखों को भी उसे गुरु मानने का आदेश दिया।

आसन पर बिठाकर नानक ने लहिना को अगन्द नया नाम दिया। नानक देव की मृत्यु आश्विन शुक्ला १० संवत् १५९५ (सन् १५३८) को करतार पुर में हुई।

नानकजी ने समय-समय पर बहुत से पदों की रचना की। ये पद 'ग्रन्थ साहिब' में संग्रहीत है। 'जपुजी' इनकी सबसे प्रसिद्ध रचना है। इसमें कुल ३८ छन्द हैं। इनकी दूसरी प्रसिद्ध रचना है 'आसा दीवार'। इसी प्रकार '२४ पौड़ियाँ', 'रहिरांस', 'सोहिला' आदि नानक की प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इनका वर्ण्य-विषय ब्रह्म, गुरु, जीव, जगत, माया, भक्ति, क्षणभंगुरता, चेतावनी आदि है।

गुरु अंगद

गुरु अंगद के पिता का नाम फेरू और माता का नाम दया कुँवरि था। अंगद का जन्म इसी दम्पति से मिती ११ वैशाख संवत् १५६१ वि० (सन् १५०४ ई०) को हुआ। इनके पिता फीरोज़पुर ज़िले के 'मत्ते-दीं सराय' स्थान के निवासी और व्यापारी थे। अंगद पूर्व नाम लहिना ने मत्ते-दी-सराय की निवासिनी खीबी से विवाह किया। लहिना (अंगद) खीवी दम्पति से दातू और दासू नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। अमृतसर जिले के तरनतारन तहसील के खड्डूर ग्राम के ये निवासी

थे। लहिना शक्ति के उपासक थे। परन्तु जोधा नामक सिख द्वारा गायी 'आसा दी बार' की पंक्ति को सुनकर ये नानक की विचारधारा से बहुत प्रभावित हुए। करतारपुर पहुँचकर इन्होंने अपनी लगन, भक्ति और एकाग्रता का अनेक बार परिचय दिया और अंततोगत्वा नानक के कृपापात्र बने। गुरु नानक के देहावसान से अंगद को वियोग का बड़ा गम्भीर अनुभव हुआ और बहुत समय तक इन्होंने एकान्त-साधना की। शेरशाह से पराजित पश्चिम की ओर पलायन करने में विवश शाहंशाह हुमायूँ से भी गुरु अंगद एक बार सम्मानित हुए। अंगद के ही आशीर्वाद से हुमायूँ युद्ध में विजयी हुआ। अमरू अथवा अगर-दास इनके सर्वप्रिय शिष्य थे। चैत्र शुक्ल ३ संवत् १६०९ (सन् १५५२ ई०) को गुरु अंगद ने अपने नश्वर शरीर का विसर्जन किया।

गुरु अंगद ने सर्वप्रथम गुरु नानक की रचनाओं को एक नवीन लिपि गुरुमुखी में लिखाना प्रारम्भ किया था। इस लिपि का निर्माण शारदा, लहड़ी और देवनागरी अक्षरों के आधार पर किया गया था। इसी लिपि में गुरुओं की जीवनी और रचनाओं का संग्रह किया गया। संवत् १६०१ में 'जन्मसाखी भाई बाले' की रचना हुई। गुरु अंगद की रचनाएँ 'ग्रन्थ साहिब' के महला : २ में संगृहीत है।

गुरु अमरदास

अमरदास के पिता तेजभान अमृतसर के निकटस्थ वसरका नामक ग्राम के निवासी थे। तेजभान की स्त्री वरवत कुँवरि से चार पुत्र उत्पन्न हुए जिनमें अमरदास सबसे बड़े थे। गुरु अमरदास का जन्म वैशाख शुक्ल १४ संवत् १५३६ (सन् १४७९) को हुआ। इनके परिवार का पैतृक व्यवसाय खेती एवं व्यापार था। तेइस वर्ष की अवस्था में इनका विवाह मनसादेवी के साथ हुआ। इस पत्नी से दो पुत्र—मोहरी और मोहक तथा दो पुत्रियाँ रानी तथा भानी उत्पन्न हुईं। पहले ये वैष्णव-भक्ति में विश्वास रखते थे। अतः नित्यप्रति शालिग्राम की पूजा करते थे। एक दिन उन्होंने अपने भतीजे की पत्नी बीबी—अमरू (गुरु अंगद की पुत्री) के सुरीले कण्ठ से प्रस्फुटित गुरु नानक-विरचित एक पद सुना। पद की कतिपय पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

> करणी कागद मनु भसवाणी, बुरा भला दुइ लेख पये।
> जिउ जिउ किरतु चलाए तिउ चलिए, तउ गुण नाहीं अंतह रे ॥१॥
> चित चेतसि की नहीं बावरीआ, हरि बिसरत तेरे गुण गलिया ॥
>
> (रागुमारू, पद २, पृ० ९९१-२)

इस पद ने गुरु अमरदास पर सम्मोहक प्रभाव डाला। बीबी अमरू के

साथ जाकर गुरु अंगद से उन्होंने भेंट की और उन्हीं के पास शिष्य के समान रहने लगे। कालान्तर में अमरदास, गुरु अंगद के प्रिय और विश्वासपात्र शिष्य बन गए। गुरु अंगद की गद्दी प्राप्त करने के समय अमरदास की अवस्था ७३ वर्ष की हो चुकी थी। ये अधिकतर गोविन्दवाल (गोइन्दवाल) में रहा करते थे। गुरु अंगद के पुत्र दातू द्वारा प्रताड़ित और प्रपीड़ित होने के कारण जीवन के अन्तिम वर्षों में ये गोइन्दवाल को छोड़कर अपने जन्मस्थान वसरका में निवास करने लगे। दातू ने एक बार इन्हें गद्दी से अपदस्थ करके स्वयं अपने गुरु होने की घोषणा कर दी। कुछ समय के बाद, अनुयायियों के आग्रह से, गुरु अमरदास पुनः गोइन्दवाल में आकर गद्दी पर रहकर, गुरुवत आचरण करते हुए, भगवद्-भजन में तल्लीन रहने लगे। ये समानता के बड़े प्रतिपादक थे। लंगर और कीर्तन में सबको एक पंक्ति में बैठना पड़ता था। कहा जाता है कि एक बार जब शहंशाह अकबर इनके दर्शनार्थ आये तो उन्हें भी एक पंक्ति में एक भाव से बैठकर उपदेश सुनना पड़ा। प्रसिद्ध है कि एक बार अकबर ने गुरु अमरदास को अपने यहाँ आमन्त्रित किया, पर वे इतने वृद्ध थे कि यात्रा का कष्ट सहन करने के लिए उद्यत नहीं हुए।

गुरु अमरदास ने अपनी पुत्री भानी का विवाह लाहौर नगर के चूनामण्डी मुहल्ले के निवासी हरिदास खत्री के पुत्र जेठा के साथ किया। जेठा बाल्यावस्था से सतसंग-प्रेमी और भगवद्-भक्त था। गुरु अमरदास के संस्पर्श से उसकी यह प्रवृत्ति द्विगुणित हो गई। आगे चलकर यही जेठा गुरु अमरदास की गद्दी पर बैठकर गुरु रामदास के नाम से विख्यात हुआ। कहा जाता है कि जब वृद्धावस्था के कारण गुरु अमरदास अकबर के पास न जा सके, तो उन्होंने जेठा को भेज दिया। जेठा की निष्ठा, साधना और भगवद्-भक्ति से अकबर बहुत प्रभावित हुआ।

गुरु अमरदास की महाप्रस्थान-तिथि है भाद्र पूर्णिमा, संवत् १६३१। इनकी रचनाओं में 'आनन्द' सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

गुरु रामदास

गुरु रामदास का जन्म मंगलवार, मिती २, कार्तिक कृष्णपक्ष, संवत् १५९१ (१५३४ ई०) को दयाकुँवरि के गर्भ से हुआ। गुरु रामदास ने अपनी साधना का केन्द्र सन्तोषसर बनाया। यह स्थान गोइन्दवाल से २५ मील की दूरी पर है। इन्होंने साम्प्रदायिक आदर्शों के प्रचार के लिए अनेक मन्सदों की नियुक्ति की। इनके तीन पुत्र हुए, जिनके नाम थे पृथीचन्द, महादेव तथा अर्जुन। इनमें से प्रथम दो तुच्छ प्रकृति के थे, परन्तु अर्जुन बड़े उदार और भक्त थे। इन तीनों के सम्बन्ध में

अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। अर्जुन की योग्यता से सन्तुष्ट होकर गुरु रामदास ने उसी को अपना उत्तराधिकारी निर्धारित किया। गुरु रामदास का महाप्रयाण भाद्र शुक्ल ३, संवत् १६३८ (१५८१ ई०) को हुआ।

गुरु रामदास की सभी रचनाएँ 'ग्रन्थ साहिब' में संगृहीत हैं। उनकी रचनाएँ भिन्न रागों में विभाजित हैं। 'महला ४' में उनकी रचनाएँ उपलब्ध हैं।

रामदास एवं भानी दम्पति से अर्जुनदेव का जन्म वैशाख कृष्ण ७ सं० १६२० (१५६३ ई०) को गोइन्दवाल में हुआ। प्रसिद्ध है कि गुरु अमरदास (इनके नाना) इन्हें बहुत मानते और चाहते थे। बाल्यावस्था से ही ये भगवद् भक्त और सत्संग-प्रेमी थे। इनके कोमल हृदय पर गुरु अमरदास का व्यापक और गम्भीर प्रभाव पड़ा। इनका विवाह जिला जालंधर के मेओ ग्राम के निवासी किसनचन्द की पुत्री गंगा से सम्पन्न हुआ। गुरु रामदास के निधन पर इनके नाना मोहरी ने इन्हें उत्तराधिकारी मानते हुए परम्परा के रूप में एक साफा अर्पित किया। इसका विरोध इनके सबसे बड़े भाई प्रिथिया ने किया। अर्जुनदेव ने सहर्ष उस कपड़े को प्रिथिया के हवाले कर दिया और स्वयं गोइन्दवाल से हटकर अमृतसर चले आए। गुरु अर्जुन की पत्नी गंगा के गर्भ से हरगोविन्द बालक का जन्म हुआ जो आगे चलकर एक प्रसिद्ध गुरु बना। गुरु अर्जुनदेव ने अपने से पूर्व आविर्भूत समस्त गुरुओं की रचनाओं को संकलित कराया। इस कार्य में प्रिथिया ने बड़ी बाधा डाली। अतः प्रामाणिकता सुरक्षित रखने के लिए ये स्वतः गुरु अमरदास के ज्येष्ठ पुत्र मोहन के पास गोइन्दवाल गये और गुरुओं की रचनाएँ माँगकर ले आए। यह संग्रह भाई गुरुदास द्वारा संवत् १६६१ (सन् १६०४) के भाद्र मास की प्रथम तिथि को प्रस्तुत हुआ। ग्रन्थ के अन्त में 'रागमाला' भी दी हुई है। हरगोविन्द की विवाह-समस्या को लेकर चन्दूशाह और गुरु अर्जुन में बड़ा मतभेद हो गया। इसके फलस्वरूप चन्दूशाह ने गुरु के विरुद्ध अनेक प्रकार के षड्यंत्रों की रचना की। अकबर उदार शासक था, अतः चन्दूशाह की कुछ न चली। अकबर की मृत्यु के बाद जहाँगीर ने चन्दूशाह और प्रिथिया के संकेत पर इन्हें भीषण यातनाएँ दीं। यातनाओं के फलस्वरूप इनका पार्थिव शरीर क्षत-विक्षत हो गया। अन्त में ज्येष्ठ शुक्ल ४ संवत् १६६३ (जून, १६०६ ई०) को ४३ वर्ष की अवस्था में इन्होंने रावी के निकट शरीर परित्याग किया और अपने अनन्तर हरगोविन्द को गुरु मानने का आदेश दिया।

गुरु अर्जुनदेव

गुरु अर्जुनदेव की सर्वप्रसिद्ध रचना है 'सुखमनी'। इसमें दस-दस पंक्तियों की २४ अष्टपदियाँ संगृहीत हैं। इसका पाठ प्रातःकाल 'जपुजी' के पाठ के

अनन्तर किया जाता है। इनके अतिरिक्त 'बावन अखरी', 'बारामासा' तथा भिन्न-भिन्न रागों में विरचित कई एक स्फुट पद 'महला ५' के नीचे दिये गए हैं। इनकी संख्या ६००० से भी अधिक है। सिख धर्म और सिख जाति के उत्थान, प्रचार और समृद्धि के लिए अर्जुनदेव का योगदान बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और उपादेय है।

गुरु हरगोविन्द का जन्म आषाढ़ कृष्ण ६, संवत् १६५२ (१४ जून, १५९५ ई०) को वड़ाली ग्राम में गंगा बीबी के गर्भ से हुआ। गुरु अर्जुनदेव के समय तक सिख गुरुओं और अनुयायियों का ध्यान आध्यात्मिक साधना और सिख-मत के प्रचार तक ही केन्द्रित रहा। परन्तु देश की परिवर्तनशील परिस्थितियों और तत्कालीन शासकों की पक्षपातपूर्ण नीति ने इन सिखों को सचेत रहकर साधना करने के लिए विवश कर दिया। गुरु अर्जुनदेव के साथ घटित अमानुषिक घटनाओं ने सिखों में भीषण प्रतिक्रिया समुत्पन्न कर दी। सरल एवं सहज साधना में कटुता का संचार हो गया।

गुरु हरगोविन्द

गुरु हरगोविन्द के पिता की अंत्येष्टि क्रिया सम्पन्न हो जाने के बाद भाई बुड्ढा ने इन्हें नवीन वस्त्र पहनाए और इनके समक्ष सेली तथा दुपट्टा समर्पित किया। गुरु हरगोविन्द ने परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार युद्धोपयोगी तलवार कमर में बाँध ली। धीरे-धीरे घोड़े एकत्र किये गए। आषाढ़ शुक्ल ५ संवत् १६६३ को स्वर्णमन्दिर के गलियारे में 'तख्त अकाल वुंगे' की स्थापना की गई, जहाँ आज भी सिख अपने महत्त्वपूर्ण शास्त्रों की रक्षा किया करते हैं। इन रक्षकों में से प्रमुख ५२ को चुनकर उन्हें आत्मरक्षक के रूप में नियुक्त किया गया। आगे चलकर यही गुरुओं की सिख सेना के प्रथम सिपाही बने। गुरु हरगोविन्द आखेट-प्रिय भी थे। बादशाह और हरगोविन्द के मध्य मित्रता बनी रही। गुरु हरगोविन्द के दो पत्नियाँ थीं प्रथम का नाम दामोदरी और द्वितीय का नाम नानकी था। दामोदरी से कार्तिक शुक्ल १५ सं० १६७० (१६१३ ई०) को गुरु दित्ता उत्पन्न हुए। नानकी के गर्भ से वैशाख कृष्ण ५ सं० १६७९ (१६२३ ई०) को तेगबहादुर का जन्म हुआ। आगे चलकर गुरुदित्ता से माघ शुक्ल १३ सं० १६८७ (सन् १६३०) को गुरु हरगोविन्द को एक पौत्र हुआ। इस बालक का नाम हरराय रखा गया और यही इनका उत्तराधिकारी बना। एक बार आखेट में गुरु हरगोविन्द के अनुयायियों और शाहजहाँ के अनुचरों में संघर्ष भी हुआ।

गुरु हरगोविन्द ३७ वर्ष तक गद्दी पर रहे। चैत्र सुदी ५, सं० १७०१

(सन् १६४४) को गुरु हरगोविन्द का निधन हुआ। मृत्यु से कुछ समय पूर्व उन्होंने अपने पौत्र हरराय को गद्दी पर बिठा दिया था।

गुरु हरराय

गुरु हरराय बाल्यावस्था से ही भगवद्-भक्त और कोमल चित्त वाले व्यक्ति थे। ये औरंगज़ेब के समकालीन थे। एक बार औरंगज़ेब ने इन्हें अपने दरबार में तलब किया। कारणवश ये स्वयं तो न जा सके पर अपने पुत्र रामराय को भेज दिया। रामराय से औरंगज़ेब ने प्रश्न किया कि 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में मुसलमान शब्द का प्रयोग इस्लाम के लिए अपमानजनक है या नहीं। रामराय ने कहा कि 'मुसलमान' शब्द के स्थान पर 'बेईमान' होना चाहिए। इस कथन से औरङ्गज़ेब तो सन्तुष्ट हो गया परन्तु गुरु हरराय बड़े दुखी और असन्तुष्ट हुए। उन्होंने रामराय को उत्तराधिकार से वंचित करके हरकृष्णराय को गद्दी दी। कार्तिक कृष्ण ७ संवत् १७१८ (सन् १६६१) को गुरु हरराय का निधन हुआ।

गुरु हरकृष्णराय

गुरु हरकृष्णराय का जन्म गुरु हरराय की धर्मपत्नी कृष्णकुँवर से श्रावण शुक्ल ९, संवत् १७१३ (सन् १६५६) को हुआ। पाँच वर्ष एवं तीन मास की अल्पावस्था में इन्हें गद्दी पर आसीन किया गया। चैत्र का मास था। औरंगज़ेब के आमन्त्रण पर राजा जयसिंह के अनुरोध और आश्वासन पर औरंज़ेब से मिलने के लिए दिल्ली जा रहे थे। मार्ग में यात्रा के चतुर्थ दिवस पर ज्वर का भीषण आक्रमण हुआ। अन्त में चैत्र शुक्ल १४, संवत् १७२१ (सन् १६६४) को सात वर्ष की अवस्था में इनका देहान्त हो गया।

गुरु तेगबहादुर

गुरु तेगबहादुर चैत्र शुक्ल १४, सं० १७७२ (२० मार्च, १६६५) को गुरु-गद्दी पर बैठे। गुरु-गद्दी पर इनके बैठने का हाल सुनकर इनके भाई करिमल ईर्ष्या-द्वेष से सन्तप्त हो उठे और उन्होंने मंसदों को भेजकर इनका वध करा देने का प्रयत्न किया। मंसदों ने प्रयत्न तो किया पर असफल रहे। सोढ़ी परिवार के खत्री भी इनसे द्वेष रखने के कारण इन्हें सदैव सताया करते थे, अतः आषाढ़ सं० १७२२ (सन् १६६५) को कीरतपुर का परित्याग करके ये आनन्दपुर आ गए। यहाँ भी धीरमल गुरु तेगबहादुर के पीछे पड़े रहे। अतः ये भ्रमण के लिए निकल पड़े। इन्होंने थानेश्वर, प्रयाग, मुँगेर, मालदा और पटना का भ्रमण किया। कड़ा में ये संत मूलकदास से मिले थे। पौष शुक्ल ७, संवत् १७२३ (१६६६ ई०) को पटना में इनके पुत्र उत्पन्न हुआ।

कालान्तर में औरंगजेब द्वारा गुरु तेगबहादुर बन्दी बनाए गये और भीषण

यातनाओं को सहन करते हुए इन्होंने अगहन शुक्ल ५, संवत् १७३२ (सन् १६७५) को अपना शरीर परित्याग किया। गुरु तेगबहादुर वीर, साहसी और दयालु प्रकृति के व्यक्ति थे। उनकी सुन्दर रचनाएँ 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में उपलब्ध हैं।

गुरु गोविन्द सिंह

गुरु गोविन्दसिंह की बाल्यावस्था पटना में व्यतीत हुई। कालान्तर में ये अपनी माता के साथ आनन्दपुर पहुँचे। यात्रा में मिर्जापुर, बनारस, अयोध्या, लखनऊ आदि प्रमुख नगरों को देखा। बाल्यावस्था से ही इन्हें शारीरिक श्रम, व्यायाम, सन्तरण, मल्लयुद्ध, लक्ष्य-सन्धान, आखेट तथा अन्य साहस से परिपूर्ण कार्यों में विशेष आनन्द आता था। आनन्दपुर पहुँचने पर इन्हें अपनी रुचि के अनुसार बड़ा अनुकूल वातावरण और समाज मिला। गुरु-गद्दी पर बैठने के अनन्तर भी इनकी यह प्रवृत्ति बराबर बनी रही। इनकी प्रसिद्धि और ख्याति का इतना प्रसार हुआ कि आसाम के राजा राम का द्वादशवर्षीय पुत्र रतनराय इनसे मिलने के लिए आनन्दपुर आया और साथ में बहुत-सी भेंट लाया। पिता की अकाल मृत्यु और भीषण यातनाओं का विवरण सुनकर गुरु गोविन्दसिंह में प्रतिकार की भावना जाग्रत हो उठी और आप तात्कालीन शासकों को हानि पहुँचाने के लिए सदैव तत्पर रहने लगे। गुरु गोविन्दसिंह ने देहरादून से ३० मील की दूरी पर पौंटा नामक दुर्ग बनवाया। माघ सुदी ४, संवत् १७४३ (१६८७ ई०) को उनकी पत्नी सुन्दरी ने एक पुत्र को जन्म दिया। बाद में इसका अजीतसिंह नाम रखा गया। इनकी दूसरी पत्नी ने चैत्र कृष्ण ७, संवत् १७४७ को जोरावरसिंह तथा माघ शुक्ल १, संवत् १७५३ (सन् १६९७) को जुझारसिंह को जन्म दिया। जुझारसिंह के जन्म पर आचार्य केशवदेव के पुत्र कुँवर बधाई देने आये। इनका चतुर्थ पुत्र फतेहसिंह जिता से फाल्गुन कृष्ण ११, संवत् १७५५ (सन् १६९९) को उत्पन्न हुआ। गुरु गोविन्द सिंह ने सिखों में वीरता, प्रतिशोध और साहस की भावना का संचार कर दिया। इन्होंने सिखों का संगठन करके उनकी जाति-पाँति की भावना विनष्ट करके उन्हें धार्मिक एकता के सूत्र में निबद्ध कर दिया। गोविन्दसिंहजी ने ही खालसा-पन्थियों के लिए कटार, कंघा, कच्छा, केश एवं कड़ा पहनना अनिवार्य कर दिया तथा 'वाह गुरुजी का खालसा' तथा 'वाह गुरुजी की फतेह' को महामन्त्र बताया। यह प्रथम दीक्षा वैशाख कृष्ण १, सं० १७५६ को सम्पन्न हुई। औरंगजेब की फौजों से इनका कई बार संग्राम एवं संघर्ष हुआ। इनके दो पुत्रों—जुझारसिंह (अवस्था ९ वर्ष) तथा फतेहसिंह (अवस्था ७ वर्ष) को

औरंगज़ेब ने पूस कृष्ण १३, संवत् १७६२ (सन् १७०५) को दीवार में इसलिए चुनवा दिया कि उन्होंने इस्लाम धर्म अंगीकार नहीं किया। शेष दो पुत्र—अजीतसिंह तथा जोरावरसिंह युद्ध में मारे गए।

गुरु गोविन्दसिंह ने अपने नश्वर शरीर को कार्तिक सुदी ५, संवत् १७६५ (सन् १७०८) को छोड़ा। इनका निधन नंदेड में हुआ था। इनकी रचनाओं का संग्रह 'दसवाँ पातसाह का ग्रन्थ' नाम से प्रसिद्ध है। सन् १७३४ में भाई मनीसिंह ने इसे प्रस्तुत किया था। गुरु गोविन्दसिंह विद्वान, योद्धा, नीतिज्ञ और साहसी थे। हिन्दू-धर्म की रक्षा और 'खालसा सम्प्रदाय' के विकास में इन्होंने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

वीर बन्दा बहादुर

इनका पूर्वनाम लक्ष्मण देव था। इनका जन्म कार्तिक शुक्ल ११, संवत् १७२७ (सन् १६७०) में राजोरी ग्राम में एक काश्मीरी खत्री के घर हुआ। युवावस्था में ये बड़े क्रूर और हिंसात्मक प्रकृति के व्यक्ति थे। श्रावण सं० १७६४ में गुरु गोविन्दसिंह से इनकी भेंट हुई और अत्यधिक प्रभावित होने के कारण वे उनके शिष्य बन गए। गुरु गोविन्दसिंह ने इन्हें खालसा बनाकर गुरुबख्शसिंह नाम दिया। आगे चलकर ये बन्दा नाम से विख्यात हुए। मुगल-सेना से इन्होंने कई बार सफलता के साथ मोर्चा लिया और उनके दाँत खट्टे किये। दशम गुरु गोविन्द सिंह के द्वारा प्रदर्शित पथ पर ये बहुत समय तक चलते रहे। इन्होंने अपनी करवाल से मुसलमानों को आतंकित कर दिया। अन्त में अहं ने इनके मस्तिष्क में स्थान कर लिया। गुरु गोविन्दसिंह की आज्ञा का उल्लंघन कर इन्होंने मण्डी-नरेश की सुन्दरी पुत्री से विवाह कर लिया। इन्होंने 'वाह गुरु की फतेह' मन्त्र को बदलकर 'बन्दा की दर्शनी फतेह' कर दिया, अमृत को हटाकर अपना चरणोदक प्रचलित किया। यह सब देखकर सिख बड़े रुष्ट हुए। उन्होंने इन्हें अपदस्थ कर दिया। यहीं से बन्दा का पतन प्रारम्भ हुआ। पारस्परिक फूट और वैमनस्य का लाभ मुसलमानों ने उठाया। गुरुदासपुर की चार मास की लड़ाई में सिख बुरी तरह पराजित हुए। सं० १७७६ में अब्दुल समदखाँ तौरानी ने बन्दा को बन्दी बनाया और फर्रुखसियर के पास दिल्ली पहुँचा दिया। वहाँ बड़ी क्रूरता, बर्बरता और निर्दयता के साथ इनका अन्त किया गया। वीर बन्दा के अधिकांश अनुयायी तलवार के घाट उतारे गए। उनके शेष अनुयायी 'बन्दई खालसा' कहलाए।

सांसारिक विषमताओं के मध्य समन्वय का सन्देश लाकर पूर्णतया वैषम्य को दूर करने की चेष्टा आदि गुरु नानक देव का धार्मिक सिख-सम्प्रदाय क्रमशः

सिख-धर्म अथवा खालसा-सम्प्रदाय

गुरु गोविन्दसिंह के नेतृत्व में आकर 'खालसा' रूप में परिणत हो गया। सिख-धर्म कोरा सैद्धान्तिक एवं आदर्शवादी मत का कभी नहीं रहा और न ऐसा होने पर वह कभी सन्त मत के अन्तर्गत समझा ही जा सकता था। यह दार्शनिकों का मतवाद न होकर सर्वसाधारणार्थ शुद्ध व्यावहारिक धर्म ही रहा। नानक के मत का वास्तविक रूप निर्धारित करते समय आपको हिन्दू, मुसलमान एवं अन्य धर्म का अनुयायी न मानकर विचार-स्वातन्त्र्य का ही परिपोषक कहा जा सकता है। आपके अनुसार धार्मिक जीवन एक साधना-प्रधान शिष्य का जीवन है। अतः वह कभी पूर्ण या अवतारी नहीं हो सकता। 'जपुजी' में बताया गया है कि साधक अपने 'अहं' भाव 'हंउ मैं' को पन्थ में आते ही भूल जाता है और व्यक्तित्व समष्टि के साथ भेद का अनुभव नहीं करता तथा सभी को किसी व्यापक नियम 'हुकुम' के प्रति समर्पित समझता है। आपका मूल दार्शनिक सिद्धान्त उस सर्वात्मवाद की ओर संकेत करता है जिसके अनुसार उस नित्य, निर्विशेष, एकमात्र सत्य एवं व्यावहारिक असीम सत्ता में कोई अन्तर नहीं। उस परमात्मा का स्वरूप निश्चित नहीं, वही सर्वत्र है, वही रसरूप है, वही अनुभवकर्ता है। 'जपु जी' में परमात्मा को ऐसी अन्विति के रूप में होना बतलाया है, जिसमें उस निर्विशेष सत्य के साथ-साथ उसके व्यक्तित्व का समन्वय पाया जाए। उस नित्य वस्तु के प्रति आत्मसमर्पण कर उसके दिव्य गुणों वाले अलौकिक व्यक्तित्व को अपने आदर्शों का परम प्रतीक समझना चाहिए। अन्त में नानकदेव निश्चित साधना की रूपरेखा में 'धरम खण्ड', 'ज्ञान खण्ड', 'करम खण्ड' और 'सच खण्ड' नामक उत्तरोत्तर चार सीढ़ियों को उपस्थित करते हैं। इस प्रकार अन्तिम स्थिति पर पहुँचकर मनुष्य 'पंच' रूप कहाकर आदर्श बन जाता है। उक्त सर्वात्मरूप 'ओंकार' नामक परमात्मा के व्यक्तित्व की धारणा हेतु ही प्रार्थना को महत्त्व दिया गया है। इसका वास्तविक उद्देश्य केवल याचना ही नहीं अपितु भक्तिभाव-प्रदर्शन तथा उसके साथ तादात्म्यानुभव और अपनी प्रवृत्तियों को शक्तिप्रदान करना भी है। अन्य साधनाओं के अन्तर्गत मनोमारण के लिए साधन एवं साध्य भी 'नामस्मरण' तथा 'ईश-प्रार्थना' बताया गया है। 'सिख-धर्म' में कहीं-कहीं योगसाधना का भी उल्लेख किया गया है। इन साधनों के परिपालन हेतु तथा परमात्मा का साक्षात्कार पाने हेतु 'गुरु' का माध्यम आवश्यक बताया गया है। 'आदि ग्रन्थ' को भी 'गुरु ग्रन्थ साहिब' कहकर पूजित किया गया है। धर्मानुसार आदर्श एवं व्यवहार दोनों का सामंजस्य आवश्यकीय बताया है। यही इन सिख-गुरुओं ने अपने

जीवन में परिपालन भी किया। सबको समान समझना तथा व्यवहार करना भी प्रमुख धर्म माना गया। प्रायः इस प्रकार का मत भी प्रतिश्रुत होता है कि सिख-धर्म इस्लाम-धर्म के विरुद्ध प्रचलित किया गया। परन्तु इस धर्म का इतिहास इस धारणा को निर्मूल कर देता है। कारण कि गुरु नानक ने इस्लाम-धर्म के शिलाधार मन्तव्य एकेश्वर-भावना, मूर्ति-पूजा की निःसारता, वर्ण-व्यवस्था की निरर्थकता एवं विश्वबन्धुत्व को भी अपनाया है। आगे का विरोध राजनीति-जनित अधिक था, धार्मिक रूप में कम। परन्तु भिन्नता भी कई रूपों में पाई जाती है, यथा—इस्लाम में खुदा सातवें आसमान में स्थित शासनकर्ता है, परन्तु सिखों का 'निरंकार' सर्वत्र व्याप्त है। गुरु नानक की विचारधारा की प्रेरणा का स्रोत कबीर में दिखाई पड़ता है। दोनों की साधना-प्रणाली में भी साम्य है। अन्तर केवल इतना है कि कबीर ने जहाँ प्रचार-मात्र किया वहाँ नानक ने अपने सिद्धान्तों को व्यवहार में लाने के लिए संगठन भी कर लिया।

सिख-धर्म का सम्प्रदाय

गुरु नानक की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र श्रीचन्द ने पिता की गद्दी न पाने के कारण 'उदासी-सम्प्रदाय' चलाया। पृथीचन्द ने रामदास का उत्तराधिकारी न बन सकने के कारण 'मीनापन्थी' पन्थ चलाया, हंदल नामक जाट ने 'हदली-मत' चलाया, हरराय के पुत्र रामराय ने 'रामैया पंथ' चलाया। वीर बन्दा वैरागी के समय से 'सत्त खालसा' और 'वंदई खालसा' में संघर्ष होने लगे और सिख-समाज छिन्न-भिन्न होने लगा। इसके बाद कतिपय सुधारक सम्प्रदायों की सृष्टि हुई। उदासी सम्प्रदाय के अनुयायी संसार से तटस्थ रहा करते थे। इसकी चार प्रधान शाखाएँ हैं—(१) फूलसाहिब की शाखा, (२) बाबा हसन की शाखा, (३) अलमस्त साहिब की शाखा, (४) गोविन्द साहिब की शाखा। ये सब परस्पर भिन्न हैं। इनके अनुयायी 'नागा' या 'नानकशाही' कहलाते हैं। ये 'आदिग्रन्थ' के प्रति श्रद्धा रखते हैं। इस सम्प्रदाय की भक्तानुयायिनी सन्त सुवचना दासी भी हो चुकी है। आपकी रचनाएँ 'प्रेमतरंगिनी', 'विज्ञानसागर', 'विदेह मोक्षप्रकाश' प्रसिद्ध हैं।

'निर्मला-सम्प्रदाय' की स्थापना वीरसिंह ने की थी। इसके अनुयायी संस्कृत के विद्वान्, श्वेतवस्त्रधारी तथा अविवाहित होते हैं तथा सांसारिकता से परे रहकर 'आदिग्रन्थ' को धर्म-पुस्तक मानते हैं।

'नामधारी' की स्थापना रामसिंह नामक सिख ने की थी। इसके अनुयायी निरामिषभोजी तथा गोवध के कट्टर विरोधी हैं। ये 'कूका' नाम से भी प्रसिद्ध हैं।

'सुथराशाही' की स्थापना सुथराशाह ने की थी। ये लोहे के डंडे बजाकर पैसा माँगने का दुराग्रह करते देखे जाते हैं। कालान्तर में इस पन्थ की अवनति हुई।

'सेवापन्थी' की स्थापना कन्हैया नामक व्यक्ति ने की जिसका प्रमुख उद्देश्य निःस्वार्थ-सेवा तथा सहृदयता-प्रदर्शन था।

'अकाली'—ये खाल्सा सम्प्रदाय के कट्टर अनुयायी होते हैं और इनकी धार्मिक प्रवृत्ति राजनीतिक एवं सामाजिक बातों से प्रभावित होती है। ये सिख-धर्मोचित नवीन बातों को ही प्रश्रय देते हैं। ये परमात्मा को अकाल पुरुष नाम से पुकारते हैं तथा 'अमृतसर' के 'अकालतख्त' को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं। इन्होंने अनेक सुधारों का सूत्रपात किया है तथा आत्मनिर्भरता का भाव जाग्रत किया।

'भगतपन्थी'—ये शुद्ध 'सिखधर्म' के उपासक हैं तथा छुआछूत, तीर्थ, व्रत, मूर्ति-पूजा आदि को नहीं मानते। ये नित्य प्रति छः बार प्रार्थना करते हैं।

'गुलाबदासी' के प्रधान संचालक गुलाबदास है। इनके मत का मुख्य उद्देश्य 'आनन्द' है। आनन्द को लक्ष्य बनाकर ये ऐश्वर्य-भोग करते हैं।

'निरंकारी' को देयाल दास ने प्रवर्तित किया। ये लोग शुद्ध निरंकार की आराधना करते हैं, जो प्रार्थनाएँ सुनता है और भक्तों के प्रति कृपालु रहता है।

इस प्रकार अनेक सम्प्रदायों में विभक्त गुरु नानक द्वारा आरोपित बीजरूप, गुरु अमरदास द्वारा भेदभावहीन विचारधारा द्वारा सिंचित, गुरु अर्जुन के आत्मोत्सर्ग के आल-बाल में पोषित, गुरु हरगोविन्दराय की राजनीतिज्ञता द्वारा सुरक्षित तथा अन्ततः गुरु गोविन्दसिंह के पराक्रम द्वारा पुष्टि प्रदान किया गया यह वृक्ष मानव-समाज को मधुर फल की आशा प्रदान करता है।

(१) सन्त जम्भनाथ—प्रसिद्ध साधक, 'विश्नुई मत' के प्रवर्त्तक, सन्त-मत के अनुयायी तथा नाथ-पन्थ से प्रभावित थे। आपका जन्म सं० १५०८ तथा मृत्यु सं० १५८० में हुई।

फुटकर सन्त

(२) सन्त शेख फरीद—बहुत ही सिद्ध फकीर थे। आपके पद 'आदिग्रन्थ' में संगृहीत है। आपकी कथन-शैली सूफियों की उक्तियों का अनुसरण करती है।

(३) सन्त सिंगाजी—निर्गुण ब्रह्म के उपासक, 'अनहद-नाद' सम्बन्धी भाव-पूर्ण ८०० भजनों के रचयिता थे। निमाड़ प्रदेश की ग्रामीण जनता पर आपका स्थायी प्रभाव है।

(४) सन्त भीषनजी—'आदिग्रन्थ' में आपके संगृहीत दो पद आपको

रामनाम के प्रेमी सिद्ध करते हैं। वे सरल हृदय थे तथा रैदास की भाँति आत्म-हीनता एवं आत्मनिवेदन में विश्वास प्रकट करते प्रतीत होते हैं।

प्रारम्भिक प्रयास (सं० १६००-१७००)

पन्थ-निर्माण का सूत्रपात हो जाने पर कबीर-पन्थ की भाँति 'साध', 'निरंजनी', 'सत्यनामी'-सम्प्रदायों की भी स्थापना हुई तथा उत्तरी-भारत में 'लाल-पन्थ', 'दादू-पन्थ', 'बावरी-पन्थ' एवं 'मलूक-पन्थ' भी प्रचलित हो चले। इन सबमें मूलोद्देश्य एक होने पर भी पारस्परिक भेद का कारण उनका दार्शनिक दृष्टिकोण है। कबीर, दादू, सुन्दर, जगजीवनदास, भीखा और मलूकदास आदि में अद्वैत, नानकादि में 'भेदाभेद' तथा शिवदयालादि में विशिष्टाद्वैतवाद का तत्त्व पाया जाता है। पन्थ-निर्माण का प्रारम्भिक युग सन्त मलूकदास तक चलता है। पन्थ-निर्माण के प्रथम १५० वर्षों में सन्त-मत अपने प्रचार की दृष्टि से उन्नति के पथ पर अग्रसर होकर अन्यों को भी प्रभावित कर रहा था। इस प्रकार उत्तर भारत में 'कबीर-पन्थ', 'नानक-पन्थ', 'साध-सम्प्रदाय', 'निरंजनी-सम्प्रदाय' तथा 'सत्यनामी-सम्प्रदाय' के अतिरिक्त 'लाल-पन्थ', 'दादू-पन्थ', 'बावरी-पन्थ' एवं 'मलूक-पंथ' भी क्रमशः प्रचलित हो गये।

उक्त पन्थों एवं सम्प्रदायों के मूल उद्देश्य लगभग एक होते हुए भी उनमें पारस्परिक भेद भी लक्षित होते हैं। इस विभिन्नता के मूल में दार्शनिक दृष्टिकोण भी विद्यमान हैं। डा० बडथ्वाल ने सन्तों की आत्मा, परमात्मा एवं जगत्-सम्बन्धी सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए लिखा है कि "हमें उनमें तीन प्रकार की दार्शनिक विचारधाराओं के स्पष्ट दर्शन होते हैं, वेदान्त के पुराने मतों के नाम से यदि उनका निर्देश करें तो उन्हें अद्वैत, भेदाभेद, विशिष्टाद्वैत कह सकते हैं।"

'साध-सम्प्रदाय' के मूल प्रवर्तकों के विषय में प्रामाणिक सामग्री के अनुपलब्ध होने से प्रवर्तक के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। उन सबका तुलनात्मक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि इस सम्प्रदाय में तीन व्यक्ति जोगीदास, वीरभान (वीरलाल) तथा उदयदास (ऊदादास) का विशेष उल्लेख किया जाता है। उपलब्ध सामग्री के आधार पर युक्तिसंगत प्रमाण यही निकल सकता है कि वीरभान ने ऊदादास की प्रेरणा पाकर सं० १६०० के लगभग इस सम्प्रदाय को प्रवर्तित किया और जोगीदास ने इसे सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने का प्रयास किया। वीरभान के अनुयायी आज तक केवल 'साध' ही कहे जाते हैं। किन्तु जोगीदास का अनुसरण करनेवालों में कुछ अपने को कभी-कभी 'साध-सन्तनामी' या 'सन्तनामी' भी कहा करते हैं।

सन्त वीरभान की जीवनी का कोई विवरण नहीं मिलता है। ये ऊदादास के सर्वप्रथम शिष्य समझे जाते हैं। उनकी रचनाएँ 'वानी' में संगृहीत मानी जाती हैं। 'साधों' का एक अन्य मान्य ग्रन्थ 'आदि उपदेश' है, जो जोगीदास की रचना मानी जाती है। सबसे प्रधान ग्रन्थ 'निर्वान ज्ञान' है। 'पोथी' एवं 'साध-पन्थ' भी एक सिद्धान्त तथा साधना प्रधान रचना है। इस मत पर कबीर का प्रभाव है। अतः 'साध' अपने आदि गुरु ऊदादास को 'कबीर' का अवतार मानते हैं। 'सम्प्रदाय' के ग्रन्थों में परमात्मा को 'सद्‌गुरु' अथवा 'सदा-अविगत' कहा गया है और उसके मन्दिरों पर बहुधा 'सन्त', 'अवगत', 'गोरख', 'उदय कबीर' जैसे शब्द लिखे व खुदे पाये जाते हैं। इस सम्प्रदाय में एक ईश्वर की उपासना की जाती है जो निराकार, सर्वशक्तिमान एवं दयालु है। इस सम्प्रदाय में साधना नामस्मरण, सत्संग एवं संयत जीवन-प्रधान हैं। व्यर्थ प्रदर्शन का निषेध है तथा व्यक्तिगत साधना को मान्यता दी गई है। यह आचरणप्रधान सम्प्रदाय है, जिसके अनुयायियों का पथ-प्रदर्शन १२ कठोर नियमों द्वारा हुआ करता है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी सामान्यतया जाट जाति के हुआ करते हैं। ये अपने सम्प्रदाय वालों से ही सम्बन्ध रखना पसन्द करते हैं। इनका प्रधान क्षेत्र फर्रुखाबाद है। वहाँ प्रचार-क्षेत्र 'साध-वाड़ा' नाम से प्रसिद्ध है। 'साध' लोग 'मिर्जापुर' जिले में विशेष पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त मथुरा; बरेली, मेरठ एवं शाहजहाँपुर के देहातों में भी रहा करते हैं। दिल्ली प्रान्त, पंजाब प्रान्त के रोहतक जिले तथा जयपुर, जोधपुर, भरतपुर तथा बड़ौदा आदि स्थानों में भी ये लोग अपने वाणिज्य-व्यवसाय के कारण बिखरे हुए पाये जाते हैं।

सन्त लाल दास का जन्म अलवर राज्यान्तर्गत स्थित धौलीधूप ग्राम में सं० १५९७ में हुआ था। इनके पूर्वज मेव जाति के थे। इनके माता-पिता बड़े दरिद्र एवं निर्धन थे। बाल्यावस्था पार करने के अनन्तर ये परिवार के आर्थिक संकट को दूर करने के लिए जंगल से लकड़ियाँ काट कर उन्हें नगर में बेच आया करते थे। बाल्यावस्था से ही वे एकान्त-सेवी और भगवत-भक्त थे। युवावस्था प्राप्त होने पर भी इनकी साधना, धार्मिकता और लगन की प्रसिद्धि चतुर्दिक् प्रसारित होने लगी। इनके स्थान पर दर्शनार्थी सदैव एकत्र रहा करते थे। एक बार तिजारा निवासी फकीर गदन चिश्ती ने इन्हें सम्मति दी कि साधनात्मक और सांसारिक अनुभवों के आधार पर अर्जित ज्ञान को वे जनकल्याण के लिए दूसरों तक उपदेशों के रूप में पहुँचाएँ। तभी से बिना भेद-भाव अनुभव किए, ये हिन्दू और मुसलमान, उच्च-कुलीन और निम्न-अन्त्यजों को समान रूप से उपदेश देने

लाल-पन्थ

लगे। यद्यपि लालदास साक्षर और शिक्षित नहीं थे, फिर भी इनके उपदेश सारपूर्ण और ज्ञान की गंभीरता से सम्पन्न होते थे। शुद्धाचरण और परोपकार इनके उपदेशों का सारतत्त्व था। फकीर गदन चिश्ती से भेंट होने के कुछ समय बाद इन्होंने अपना गृह परित्याग कर दिया और अलवर से १६ मील की दूरी पर उत्तर-पूर्व में स्थित रामगढ़ परगने के बाँदोली ग्राम में जा बसे। यहाँ पर इनके जीवन की धारा लोक-सेवा की ओर भी फूट निकली। भीषण धूप, मूसलाधार बरसते पानी और हड्डी कँपा देने वाले जाड़े में भी ये ग्राम-ग्राम में जाकर दीन-असहाय रोगियों की सेवा-सुश्रूषा करते रहते थे। इनकी सेवा-भावना, त्याग-तपस्या से प्रभावित होकर शतशः व्यक्ति इनके शिष्य हो गए। इन्हीं शिष्यों में कुछ लंपट और दुराचारी लोग भी प्रवेश पा गए, जिनको हटाने के लिए इन्हें सरकार से सहायता लेनी पड़ी। इसीलिए निष्कासित लोग इनके शत्रु बन गए। प्रसिद्ध है कि एक बार एक मुगल किसी हिन्दू स्त्री से छेड़-छाड़ कर रहा था। इन्होंने हस्तक्षेप किया और उसे रोका। बात बढ़ती गई, तो इनके शिष्य ने उसका बध कर डाला। कालान्तर में ये पेशी के लिए वहमुरपुर में बुलाए गए। ओहदेदार ने रुष्ट होकर इन्हें और इनके शिष्यों को विषैले कुएँ का पानी पिलवाया। पर उसका इन पर असर न हुआ। समय-समय पर इनका और भी विरोध हुआ। इस सबसे ऊबकर इन्होंने बाँदोली ग्राम छोड़ दिया और टोड़ी में जा बसे। विरोधी लोग यहाँ तक पीछा किए रहे। ये विवाहित थे और साधना करते हुए पारिवारिक जीवन व्यतीत करते थे। इनके एक पुत्र और एक पुत्री थी, जिनके नाम थे पहण्ड और स्वरूपा। लालदास का देहान्त सं० १७०५ में हुआ। भरतपुर राज्यान्तर्गत नगला में इनकी समाधि आज भी विद्यमान है।

सन्त लालदास की महत्ता और दिव्यता को व्यक्त करती हुई अनेक चमत्कारपूर्ण बातें प्रसिद्ध हैं। इन सभी घटनाओं के प्रकाश में लालदास के व्यक्तित्व की श्रेष्ठता प्रतिबिम्बित होती है।

सन्त लालदास की बानियों का एक संग्रह 'लालदास की चेतावणी' शीर्षक से स्व० पुरोहित हरिनारायणजी के पुस्तकालय में हस्तलिखित रूप में संग्रहीत है। इनकी विचारधारा पर कबीरदास का और रचनाओं पर सन्त दादू का प्रभाव परिलक्षित होता है। इनकी विचारधारा का केन्द्र है, अन्तःकरण की शुद्धता और आचरण की पवित्रता। सन्त लालदास के अनुयायी 'लाल-पन्थी' कहलाते हैं। ये अलवर राज्य के पास-पड़ोस में पाए जाते हैं। मेवों में अधिकतर लालदासी ही हैं। यद्यपि मेव मुसलमान होते हैं, परन्तु इनका रहन-सहन, आचार-विचार,

रीति-रिवाज सब कुछ हिन्दुओं जैसा होता है। ये अपने ब्रह्म को 'राम' कहते हैं। इस पन्थ में सत्यता और नम्रता पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

सन्तों पर प्रायः आरोप लगाया जाता है कि ये पलायनवादी थे और इन्होंने जनता को भीख माँगना तथा अकर्मण्यता सिखाया। वस्तुतः स्थिति भिन्न है। सन्त-कवि कर्मठता और स्वावलम्बन के प्रतिपादक थे। लालदास का कथन हमारे मत का समर्थक है।

लालजी भगत भीख ना माँगिये, माँगत आवे शरम।
घर घर टाँडत दुःख है, क्या बादशाह क्या हरम॥
लालजी साधु ऐसा चाहिए, धन कमाकर खाय।
हिरदे हर की चाकरी, पर-घर कभूँ न जाय॥
लालजी हक खाइये हक पीइये, हक की करो फरोह।
इन बातों साहिब खुशी, बिरते काये॥

दादू-पन्थ

सन्त दादू दयाल की जीवनी व्यक्तित्व, कृतित्व और पन्थ पर उपलब्ध सामग्र में दो ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये हैं कवि जनगोपाल कृत 'जनम-लीला-परची' और द्वितीय है राघवदास (राघोदास) कृत 'भक्त-मण्डल' जिसकी रचना नाभादास के 'भक्तमाल' की परम्परा पर हुई। आचार्य क्षिति मोहन सेन, डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पं० चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी और आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इन आधुनिक लेखकों के अध्ययन के आधार हैं 'जनम-लीला-परची' तथा 'भक्तमाल'। इतना सब महत्त्वपूर्ण एवं व्यापक अध्ययन हो जाने पर भी दादू, दादू-पन्थ एवं दादू-पन्थ के अन्य कवियों के सम्बन्ध में हमारी जिज्ञासा नहीं शान्त होती है, अनेक समस्याएँ ऐसी हैं, जिनका कहीं से सम्यक् उत्तर नहीं मिलता है।

दादू-पन्थियों का विश्वास है कि दादू दयाल का जन्म गुजरात प्रदेश के अहमदाबाद नगर में हुआ था। उनका यह भी विश्वास है कि दादू दयाल एक छोटे-से बालक के रूप में साबरमती नदी में बहते हुए लोदीराम नागर ब्राह्मण को मिले थे। पं० सुधाकर द्विवेदी का अभिमत है कि ये जौनपुर के निवासी थे। पं० परशुराम चतुर्वेदी, द्विवेदीजी से सहमत नहीं हैं। दादू पन्थियों के अनुसार ये एक ब्राह्मण के पुत्र थे। कुछ का कथन है कि ये उक्त लोदीराम ब्राह्मण के औरस-पुत्र थे तथा इनकी माता वसीबाई ब्राह्मणी थी। कुछ विद्वानों का मत है कि ये ब्राह्मण और हिन्दू न होकर धुनियाँ मुसलमान थे। प्रस्तुत मत के प्रति-

पादकों का कथन है कि पहले इनका नाम दाऊद था, जो कालान्तर में दादू हो गया। इस मत के पोषकों का कथन है कि इनके पिता का नाम सुलेमान, गुरु का नाम बुरहानुद्दीन और पत्नी का नाम हव्वा था। पं० सुधाकर द्विवेदी ने इन्हें मोची जाति में उत्पन्न बताया है। दादू पन्थी प्रसिद्ध कवि रज्जव के मत से दादू धुनियाँ थे :—

धुनि गर्भे उत्पन्नो, दादू योगेन्द्रो महामुनि
उत्तम जोग धारनम्, तस्मात् क्वं न्याति कारणम्॥

(रज्जव की सर्व्वांगी)

बाउलों के अनुसार यह मुसलमान थे और इनका नाम 'दाऊद' था "श्रीयुक्त दाऊद वन्दि दादू यार नाम।" दादू के दो पुत्र—गरीबदास और मिस्कीनदास तथा पुत्रियाँ—अब्बा तथा सब्बा थीं।

दादू के जन्म काल फाल्गुन शुक्ल सं० १६०१ (सन् १५४४ ई०) तथा मृत्युतिथि जेष्ठ कृष्ण ८, सं० १६६० (सन् १६०३ ई०) के सम्बन्ध में सभी विद्वान् एकमत हैं। इनका देहावसान नराना (नारायण) गाँव में हुआ था। प्रसिद्ध है कि ग्यारह वर्ष की अवस्था में एक दिन ये बालकों के साथ खेल रहे थे। उधर से एक वृद्ध साधु निकला। उसने इनसे भिक्षा माँगी। इन्होंने भिक्षा लाकर दी। प्रसन्न होकर साधु ने अपने मुँह में खाये हुए पान का पीक इनके मुख में डाल दिया। उस साधु ने दादू को एक बार पुनः उस समय दर्शन दिया, जब ये जीवन के अठारहवें वर्ष में प्रवेश कर चुके थे। इस बार उक्त साधु ने वह प्रेरणा और आशीर्वाद दिया कि शताब्दियों के लिए दादू अमर हो गये। कुछ विद्वानों का कथन है कि इनके गुरु का नाम 'वुढ्ढन' था। विल्सन महोदय का मत है कि वुढ्ढन कबीर की परम्परा में अवतरित हुए थे। दादू प्रकृति से भ्रमणशील व्यक्ति थे, इन्होंने बिहार तथा बंगाल तक भ्रमण किया था। साँभर में भी वे बहुत समय तक रहे। सांभर में रहते समय, संवत् १६३३ में इन्हें प्रथम पुत्र—गरीबदास उत्पन्न हुआ। कुछ समय बाद सांभर से हटकर ये आमेर चले आए। कहा जाता है कि आमेर में दादू चौदह वर्ष तक रहे। सं० १६४३ में अकबर के आमन्त्रण पर ये सीकरी गए। अकबर ने ४० दिनों तक इनका सत्संग किया। आमेर में रहकर दादू ने महत्त्वपूर्ण रचनाएँ कीं। इन रचनाओं का श्री गणेश सांभर में ही हो चुका था। यहीं रहते हुए उन्होंने अपने शिष्यों के आग्रह पर एक दूसरी बड़ी यात्रा प्रारम्भ की। यह यात्रा द्यौसा, मारवाड़, बीकानेर, कल्यानपुर आदि स्थानों की थी। इन स्थानों पर इन्होंने श्रद्धालु लोगों

को उपदेश दिया और सम्प्रदाय में दीक्षित किया। द्यौसा के प्रति यह दादू की द्वितीय यात्रा थी। प्रथम यात्रा सं० १६५२ के लगभग की थी। इसी समय द्यौसा के एक वैश्य-दम्पति को इन्होंने पुत्रोत्पत्ति का आशीर्वाद दिया था। वही वैश्य पुत्र अब तक सात वर्ष का हो चुका था। यही बालक आगे चलकर सुन्दरदास के नाम से विख्यात हुआ। ५८ वर्ष, २ मास और १५ दिन की आयु का उपभोग करके सन्त दादू ने जेठ कृष्ण सं० १६६० को महाप्रयाण किया।

दादू के पदों, साखियों और बानियों की संख्या बीस सहस्र प्रसिद्ध है। विचारों, अनुभूतियों और साधनात्मक विश्वासों का यह महत्त्वपूर्ण कोष अभी तक जनता के समक्ष नहीं प्रस्तुत हो सका है। इनके शिष्य सन्तदास और जगन्नाथदास ने 'हरडे वाणी' शीर्षक से एक संग्रह प्रस्तुत किया था। रज्जब साहब ने इनकी रचनाओं का वर्गीकरण करके उसका नाम 'अंगवधू' रखा। नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से २६२३ साखियों और ४४५ पदों का एक संग्रह प्रकाशित हुआ है।

दादू के शिष्यों की संख्या का कोई लेखा नहीं है। जीवनकाल के अन्त तक उन्होंने सहस्रों व्यक्तियों को ज्ञान का प्रकाश दिखाया।

रज्जबजी दादूजी के प्रधान शिष्यों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। आप पठान वंश के कहे जाते हैं। विवाह से लौटते समय ही आप दादू दयाल से मिले और तभी से विरक्त हो गए और अपने कपड़े छोटे भाई को दे दिये। उसी से इनके अनुयायी दूल्हा वेश में रहा करते हैं। ये परम गुरु भक्त थे। इनके दस शिष्यों के नाम 'भक्तमाल' में मिलते हैं। आपके अनुयायियों को 'रज्जब-पन्थी' या 'रजवाक्त' कहने की परिपाटी है। आपकी रचना में 'वाणी', एवं 'सर्वंगी' ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। सं० १७४६ में १२२ वर्ष की अवस्था में आपकी मृत्यु हुई।

सन्त सुन्दरदास

दादू के योग्यतम शिष्यों में से थे। आप ६ वर्ष की अवस्था में ही दादू के शिष्य हो गए। इन्होंने रज्जबजी एवं जगजीवनजी के साथ काशी में साहित्य एवं दर्शन का विशेष अध्ययन किया। फिर फतहपुर में १२ वर्षों तक योगाभ्यास भी किया। तत्पश्चात् देशाटन भी अत्यधिक किया। आपकी रचनाएँ ३७ से अधिक हैं जिनमें छंद बाहुल्य, व्रजभाषा एवं खड़ी बोली की मधुरता एवं सरलता उल्लेखनीय है। रज्जबजी की मृत्यु के आघात से आपने भी सांगोनेर में सं० १७४६ में शरीर त्याग दिया। आपके प्रसिद्ध ग्रन्थों में 'ज्ञानसमुद्र' विशेष है जिसमें गुरु,

नवधाभक्ति, अष्टांगयोग, सांख्यमत एवं अद्वैत ब्रह्मज्ञान का पांडित्यपूर्ण निरूपण है। सुन्दरदास काव्य-कौशल प्रदर्शन में सन्त-कवियों में सर्वश्रेष्ठ हैं।

दादू के अन्य शिष्यों में दादू के पुत्र एवं गरीबदास विशेष रूप से उल्लेखनीय थे। आप कुशल गायक, वीणाकार थे। इनकी वाणियों की संख्या २३००० कही जाती है। परन्तु चार हजार से अधिक प्राप्त नहीं हैं। इनके अतिरिक्त हरिदास ने अपना नवीन पन्थ 'निरंजनी-सम्प्रदाय' चलाया। इनके शिष्यों में राघोदास एवं साधु निश्चलदास का नाम भी उल्लेखनीय है।

परब्रह्म-सम्प्रदाय और दादू-पन्थ

परब्रह्म को ही आदिगुरु मानने के कारण इस सम्प्रदाय का यह नाम पड़ा। दादू ने 'परब्रह्म-सम्प्रदाय' के अनुयायियों को 'दादू-पन्थी' कहा है। ऐसा नाम चतुः सम्प्रदाय वालों की परिपाटी पर रखा गया।

दादू ने कबीर द्वारा स्वीकृत परमतत्व को अपना ध्येय माना। उसको 'शून्य', 'परमपद', 'निर्वाण' नाम दिए हैं। इस ब्रह्मतत्व को जगतमय और जगत् को ब्रह्ममय कहकर सर्वात्मवाद का प्रतिपादन किया है। शून्य को कायाशून्य, आत्मशून्य एवं परमशून्य से भी परे माना है। इस सृष्टि का कारण 'रहस्यमय विनोद' कहा है। उस तत्त्व की प्रत्यक्षानुभूति ही सभी साधनाओं का परम लक्ष्य है। आपकी साधना अनुभूति पर ही आश्रित है। यह मार्ग न योग-समाधि का है और न भक्ति-योग का ही। यह दोनों के मध्य का सहज-मार्ग है। इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण क्रिया आत्म-समर्पण है, जिससे अनर्थों की मूल 'अहं' भावना नष्ट हो जाती है। दादू ने अपनी रचना 'काया-बेलि' में अपनी साधना में बाह्य उपचार को आवश्यक नहीं बताया। 'अहन्ता-जनित आवरण' आभ्यन्तरिक परिवर्तन से उठ जाता है और अपने आपका प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है और तब कोई भ्रान्ति नहीं रह जाती। उन्हें जीवन्मुक्ति पर विश्वास है। मृत्यु के अनन्तर मुक्ति पर विश्वास नहीं। इस दशा का नाम 'सहज-समाधि' है। दादू-शिष्य रज्जबजी ने प्रवृत्ति-मार्ग एवं सेवा-धर्म दोनों के योग का ही उपदेश किया है। दादू के सिद्धान्तों का मूल यह है कि जिस प्रकार जीवात्मा एवं परमात्मा तथा जगत् की अभेदमयी मौलिक एकता है, और उस मूलतत्व का सच्चा स्वरूप सहज, शून्य एवं प्रेममय है, उसी प्रकार उनकी साधना तथा व्यवहार का भी निष्कर्ष सहज, समर्पण, सुमिरण और सेवा है।

दादू, कबीर एवं नानक में मौलिक भिन्नता प्रतीत नहीं होती। परन्तु सूक्ष्म विचार करने से ज्ञात होता है कि उनकी विचार-धाराओं तथा प्रणालियों

में अन्तर भी था—यथा कबीर की विशेष आस्था आत्मप्रत्यय में निहित थी, तो गुरु नानक की आत्मविकास में और दादू की आत्मोत्सर्ग में थी। इनकी साधना भी क्रमशः विचार-प्रधान, निष्ठा-प्रधान तथा प्रेम-प्रधान थी। कबीर ने स्वातन्त्र्य तथा निर्भयता, नानक ने समन्वय तथा एकता तथा दादू ने सद्भाव एवं सेवा को श्रेष्ठ माना। दादू पर सूफी प्रभाव की चर्चा की जाती है, परन्तु विचार करने पर आपका अपना मत शुद्ध सन्त-मत ही कहा जा सकता है।

ब्रह्म-सम्प्रदाय की स्थापना सं० १६३१ में हुई परन्तु दादू के शिष्यों के देहान्त हो जाने पर नराने की प्रधान दादू-गद्दी में योग्यतम व्यक्ति का निर्वाचन होकर यह पन्थ चलता रहा। महन्त जैतराम के समय से उप-सम्प्रदायों का निर्माण होने लगा जिनमें ५ प्रकार के दादू पन्थ के भिन्न वर्ग दिखाई पड़ने लगे। (१) खालसा अपने को विशुद्ध दादू-पन्थी मानने लगे, इनका विशेष ध्यान अध्ययन, अध्यापन, भजना-राधना की ओर रहता है। (२) **नागा**—वस्त्रों की सादगी के लिए प्रसिद्ध हैं। ये शस्त्र-विद्या के अभ्यस्त होने लगे। (३) **उत्तराढ़ी** का व्यवसाय वैद्यकानुसार दवा लेने-देने का होता है। इसमें ५२ थांवे और १४ गद्दियाँ हैं। (४) **विरक्त**—भिक्षा पर निर्वाह कर गृहस्थियों के यहाँ धर्मोपदेश करते हैं। (५) खाकी—भ्रमण-शील रहा करते हैं।

पन्थ की प्रगति

दादूपन्थी जनसमाज (१) स्वामी एवं साधु (२) सेवक एवं गृहस्थ दो वर्गों में विभक्त रहा। इस पन्थ की सबसे बड़ी विशेषता इसके अनुयायियों द्वारा गुरुओं की बानियों की रक्षा एवं प्रचार है।

इसका मूल स्रोत नाथ-पन्थ माना जाता है तथा सन्त-मत से भी प्रभावित कहा जाता है। राघोदास के मतानुसार इस पन्थ के प्रचारकों की संख्या १२ है जिनमें से हरिदास निरंजनी का नाम सर्वप्रथम आता है। ये 'हरिपुरुष' नाम से भी प्रसिद्ध हैं तथा आपकी रचनाएँ 'हरिपुरुषजी की वाणी' नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका जन्म डीडवाणा में १६ वीं सदी के अन्तर्गत कहा माना गया है। मारवाड़ में इस सम्प्रदाय के थांवे एवं मठ भी कहे जाते हैं। इसमें निपट निरंजनी एक महान् सिद्ध गो० तुलसीदास के समकालीन कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त भगवानदास निरंजनी भी प्रसिद्ध सन्त हुए हैं। इस पन्थ में सबसे अधिक रचना करने वालों में तुलसीदास उल्लेखनीय हैं। ये इस पन्थ के सिद्धान्तों के प्रतिपादक, आध्यात्मिक जिज्ञासु तथा रहस्यवादी उपासक थे। इन्हीं के समान विस्तृत रचना करनें वाले सेवादास थे। इनके अतिरिक्त भी अनेक सन्तों का उल्लेख

निरंजनी-सम्प्रदाय

मिलता है। सन्त हरिदास अपने पूर्ववर्ती गोरख तथा कबीर में अपूर्व निष्ठा रखते थे। इन्होंने कबीर के 'करडा पन्थ' (उल्टी रीति) को ही अपना मार्ग स्वीकार किया है। हरिदासजी ने बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी वृत्ति करने पर विशेष ध्यान दिया है। सन्तों के समान ही परब्रह्म की व्याख्या करके 'नवधा भक्ति' के साथ प्रेमाभक्ति का योग कर, दशधा-भक्ति का उल्लेख किया है।

इस सम्प्रदाय की साधना सन्तमत के समान है। पर यह सन्तमत के समान बाह्याचारों का खण्डन नहीं करता। इनका मत है कि कर्मकाण्ड, मूर्ति-पूजा, अवतारवाद आदि जैसी बातें ही साधक को उच्च-स्थिति तक पहुँचा सकती हैं। हरिदास के अनुसार उसी कारण देवल के प्रति वैर एवं प्रीति का भाव रखने की आवश्यकता नहीं :—

नहि देवल सूँ बैरता, नहि देवल स्यूँ प्रीति।
किरतम तजि गोविन्द भजौ, यह साधा की रीति॥

तुलसीदास के अनुसार मूर्ति, अमूर्ति की ओर ले जाने का एक साधन हो सकती है।

सूरति में अमूरति बसै, अमल आत्माराम।
तुरसी भरम बिसराय कै, ताही का ले नाम॥

जनश्रुति के आधार पर इसका प्रभाव क्षेत्र दिल्ली प्रान्त है। इसके पाँच प्रचारकों ने इसके संगठन का विशेष प्रयत्न नहीं किया। क्रमागत चतुर्थ प्रवर्तक

बावरी-पन्थ

बावरी साहिबा की परम्परा उन्हीं के नाम पर चली आ रही है। इनसे पूर्व तीन प्रवर्तक (द्वितीय) रामानन्द, दयानन्द तथा मायानन्द हुए। बावरी साहिबा मायानन्द की शिष्या थीं। ये दादू एवं हरिदास निरंजनी की समकालीन थीं। अपने नाम की सार्थकता को स्पष्ट करते हुए आपने स्वयं कहा है कि "हे प्रभु! आपकी विचित्र लीला के विषय में क्या कहा जाय। मेरा मन तो सदा पतंग की भाँति उससे आकृष्ट होकर चक्कर काटता रहता है। मैं तो तुम्हारी शपथ खाकर कहती हूँ कि तुम्हारी गति-विधि को देखकर मेरी बुद्धि हैरान हो गई है उसकी दशा पगली-सी हो गई है और मैं अब सचमुच 'बावरी' हो गई हूँ।" अपने नाम के अनुरूप ही परमात्मा के प्रति इनकी सच्ची लगन थी। इनके शिष्य बीरु तथा उनके यारी साहब की गद्दी की परम्परा अद्यपर्यन्त दिल्ली में है। इनके पश्चिमी क्षेत्र वाले चार शिष्यों में केशवदास प्रसिद्ध हुए। आपके गुरुभाई सूफीशाह की रचनाएँ 'शाह फकीर' के नाम से प्रसिद्ध हैं। पूर्वी क्षेत्र के शिष्यों में बूला साहब

हुए, जिनका समस्त जीवन आध्यात्मिक रंग में रंग चुका था। आपकी रचना 'शब्दसार' है। आपके शिष्य एवं पूर्व मालिक गुलाल साहब के नाम से प्रसिद्ध हुए। ये अपने सेवक के आध्यात्मिक व्यक्तित्व से प्रभावित हो गए और उनके शिष्य बन गए। बूला के दो प्रधान शिष्यों में से जगजीवन साहब ने 'सत्यनामी-सम्प्रदाय' का प्रचार किया और गुलाल साहब ने मूलमत का। आपके दो शिष्य भीखा साहब तथा हरलाल साहब हुए। इनमें प्रथम उत्तराधिकारी बने। भीखा साहब की रचनाओं में (१) 'राम-कुंडलिया', (२) 'राम सहस्रनाम', (३) 'राम-सबद', (४) 'रास राग', (५) 'राम कवित्त', (६) 'भगत-वच्छावली' के नाम सुने जाते हैं। इनकी विविध कृतियों का एक संग्रह वेलवडियर प्रेस, प्रयाग द्वारा 'भीखा साहब की बानी' नाम से प्रकाशित हो चुका है। आपकी 'बानी' में आत्मनिवेदन एवं गेयत्व आकर्षक है। हरलाल साहब ने बड़ागाँव में अपनी गद्दी स्थापित की। इनकी रचनाओं में निर्गुण तथा सगुण परमात्मा के पद हैं। सन्त भीखा के प्रथम शिष्य गोविन्द साहब हुए। इनके यजमान प्रसिद्ध पलटू साहब थे, जो इनसे प्रभावित होकर बाद में इनके दीक्षित शिष्य हो गए। पलटू साहब पहले जानकीदास के शिष्य हुए, पर बाद में इनके गुरु भीखा साहब हुए। इन्हीं की शिष्य परम्परा में इनकी दीक्षा हुई। इनके जन्म एवं मृत्यु की तिथियाँ अभी अज्ञात हैं। इनके आविर्भाव-काल के संवतों के विषय में भी अभी अनुमान ही किया जाता है। फिर भी अपनी रचनाओं में जो कहीं-कहीं पर इन्होंने एकाध आत्म परिचयात्मक उल्लेख कर दिये हैं, उनसे उनके जीवनवृत पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ जाता है। अपनी कुंडलियों द्वारा इन्होंने जो झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं, उनसे स्पष्ट होता है कि अयोध्या में रहते समय इनकी बड़ी प्रसिद्धि हो गई थी और इनकी ख्याति के कारण बहुत-से वैरागी, पंडित एवं काजी इनसे द्वेष-भाव रखने लगे थे। आपकी प्रसिद्धि अयोध्या में अत्यधिक हो गई थी, जिससे आपके प्रतिद्वन्द्वियों की संख्या अधिक हो गई थी। परिणामस्वरूप जीते जी घर में आग लगा दी गई और आप उसी में जल गये। आपके लगभग १००० पद संग्रहीत हैं, जिनकी भाषा सरल, स्पष्ट तथा ओजपूर्ण है और कई स्थलों पर कबीर के भावों का विस्तृत रूप करने के कारण 'द्वितीय कबीर' भी कहलाते हैं। उनके शिष्यों, प्रशिष्यों का कुछ पता नहीं चलता।

सिद्धान्त

इस मत में बावरी एवं बीरु के सिद्धान्तों के समन्वित रूप का आभास मिलता है। बावरी-पन्थवालों का ध्येय पूर्ण परमतत्त्व की अनुभूति है तथा गुरु की बताई युक्ति से अजपाजाप के सहारे 'सुरति' के साथ उसका नित्य-सम्बन्ध स्थिर करके ही उपलब्ध

की जा सकती है। बीरु ने उसको 'अनहद सुर', 'लाल की बाँसुरी की तान' कहा है। बूला साहब ने भी 'सुरतशब्दयोग' की साधना की ओर बार-म्बार संकेत किया है। परन्तु योग के सच्चे ज्ञाता को आत्मचिन्तनकर्ता होने का आदेश दिया है। बिना आत्म विचार के स्थायित्व की प्राप्ति नहीं होती। ये 'नामस्मरण' तथा 'आत्मज्ञान' दोनों साधनाओं के पक्षपाती थे। गुलाल साहब ने 'अन्तर्लीन' होने की विधि का उपदेश भी दिया है और आवेश में परमतत्त्व को 'अविनाशी दूल्हा' भी कहा है। भीखा साहब ने ब्रह्म, माया, जगत् तथा जीवात्मा के स्वरूप का वर्णन शास्त्रीय पद्धति एवं शब्दावली के अनुसार किया है। वे अपने 'अद्वैतवाद' का निरूपण करते हैं और माया को भ्रमित करने-वाला तक बताते हैं। उन्होंने जोगी को एकनिष्ठ तथा आध्यात्मिक जीवन-यापन करने वाला भजनानन्दी फकीर माना है। पलटू साहब का विशेष ध्यान उक्त बातों के अतिरिक्त काया के भीतर की रहस्यमयी स्थिति के विवरण की ओर अधिक है। वे ब्रह्म की सर्वव्यापकता निरुपित करते हुए अद्वैतवाद का दिग्दर्शन कराते हैं।

इस प्रकार बावरी साहिबा का आध्यात्मिक दीवानापन, यारी साहब के सूफी संस्कारों एवं गुलाल तथा भीखा साहब के वेदान्ती वातावरणों में क्रमशः और भी गंभीरता को प्राप्त होता हुआ यह 'पन्थ' पलटू साहब तक पूर्ण अभिव्यक्त हो गया। पलटू का परमात्मविश्वास, उत्कट वैराग्य, सन्तोष, अपूर्व मस्ती इस पन्थ के अनुयायियों के लिए आदर्श है। आप के नाम पर नवीन पन्थ भी चला पर बाद में कोई वैसा सन्त नहीं हुआ। भीखा साहब के नाम पर 'भीखा-पन्थ' भी प्रसिद्ध है, जिनकी एकमात्र विशेषता 'सात्विक जीवन' है।

मलूक-पन्थ

'मलूकदास' नाम के कई व्यक्ति हो चुके हैं। कुछ कबीर-शिष्य मलूकदास तथा सन्त मलूकदास को एक व्यक्ति सिद्ध करते हैं जो अप्रमाणित है। 'अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।' के आधार पर इन्हें घोर भाग्यवादी भी कहा जाता है परन्तु यह रचना किसी अन्य मलूकदास की थी। इस पन्थ के अनुयायियों के अनुसार सन्त मलूकदास का जन्म सं० १६३१ में हुआ। बालक मल्लू की बाल्यावस्था से ही परहित-चिन्तन की उदार मनोवृत्ति थी। आप द्रविड़ देशनिवासी विट्ठलदास से दीक्षित हुए, पर कुछ प्रमाणों के आधार पर आपको आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश कराने वाले मुरारस्वामी थे। दीक्षित होने के अनन्तर आपने गार्हस्थ्यजीवन बिताकर १०८ वर्ष के होकर शरीर त्याग किया। आप बहुश्रुत थे। आपकी रचनाओं की संख्या ९ बताई जाती है और उनमें १. 'ज्ञान बोध', २.

'रतनखान', ३. 'भक्त वच्छावली', ४. 'भक्त विरुदावली', ५. 'पुरुष विलास', ६. 'दस-रत्नग्रन्थ', ७. 'गुरु-प्रताप', ८. 'अलख-बानी' एवं ९. 'रामावतार-लीला' नाम की पुस्तकें गिनाई जाती हैं। जिनमें 'भक्त वच्छावली' सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। आपने सतगुरु तथा भगवान् को अभिन्न बताया है। उन्हें ईश्वर के अस्तित्व में प्रबल आस्था एवं असीम निष्ठा थी तथा उन्हें आत्मीय समझते थे। उनका ईश्वर कोई एक व्यक्ति जान पड़ता है, जिसके साथ पारस्परिक सम्बन्ध बनाए रखने के इच्छुक हैं। परन्तु वस्तुतः ब्रह्म के वास्तविक तत्त्व को अपने अन्तर्गत पाते हैं। उस परमस्थिति को 'अनुभव पद' तथा 'चौथा पद' भी कहा है। प्रथम पद में देवपूजन, द्वितीय में नियम-पालन, तृतीय में शास्त्रीय ज्ञान तथा चतुर्थ में अनिर्वचनीय पद की प्राप्ति होती है। इस स्थिति में अनहद की तुरही बजती रहती है और सहज ही उसकी ध्वनि सुन पड़ती रहती है, ज्ञान की लहरें उठती रहती हैं और ज्योति जगमग-जगमग करती रहती है। इस समय अनुभव होता है कि अन्तिम दशा को पहुँच गया, शून्य में ध्यान लग गया, तीनों दशायें विस्मृत-सी हो गईं और चौथा पद प्राप्त हो गया।

आप सांसारिक अनुभव से युक्त सिद्ध महात्मा थे। आपकी प्रसिद्धि से आकृष्ट होकर गुरु तेग बहादुर तथा औरंगजेब ने भी आपसे भेंट की एवं इन्हें सम्मानित किया। आपके शिष्यों के विवरण अप्राप्त हैं, पर आपके अनुयायियों की संख्या कम न थी। इनके प्रधान १२ शिष्यों में लालदास, रामदास, उदयराय, प्रभुदास तथा सुदामा कहे जाते हैं। आपके अनुयायी पूर्व में पुरी एवं पटना से लेकर पश्चिम में काबुल एवं मुल्तान तक मिलते हैं। इनकी अन्य गद्दियाँ जयपुर, गुजरात, वृन्दावन, पटना और नेपाल तक पायी जाती हैं।

समन्वय व साम्प्रदायिकता (सं० १७००-१८५०)

क्रमशः विविध पन्थों में सन्तों के स्वानुभूतिमूलक समन्वय की प्रवृत्ति जाग्रत हुई। परन्तु ज्यों-ज्यों सन्तों के विविध पन्थ प्रचलित होने लगे और उनके पृथक् धर्म वा सम्प्रदाय कहलाने की परम्परा आरम्भ होती गई, त्यों-त्यों उनके अनुयायी अपने-अपने वर्गों की भाँति भिन्न सम्प्रदायों के रूप में समझने की ओर प्रवृत्त होते गए। उन्होंने अपने कुछ विचारों की तुलना कतिपय धर्मों के सिद्धान्तों के साथ करना आरम्भ कर दिया और उनकी समान एवं असमान बातों की समीक्षा भी होने लगी। समन्वयात्मक प्रवृत्ति का ही प्रतीक 'दीन इलाही' भी था। 'दारा शिकोह' की प्रवृत्ति भी इधर ही हुई और वेदान्त-ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद प्रारम्भ किया। सन्त प्राणनाथ ने हिन्दू, मुसलिम एवं ईसाई धर्म

की मौलिक एकता के आधार पर 'धामी' सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। सन्त दरियादास ने मुस्लिम आचार-पद्धतियों को तथा सन्त रामचरणदास ने जैन-धर्म की बातों को अपनाया। इनके अतिरिक्त सन्त चरणदास ने 'भागवत' के आधार पर भक्ति साधना का निरूपण, उपनिषदों के ज्ञानयोग की व्याख्या तथा भक्त-चरित्रों के प्रसंग द्वारा स्वमत-पुष्टि की। दूलनदास ने 'देवस्तुति' की परिपाटी चलाई। सन्त चरणदास ने शुकदेव को तथा बाबा किनाराम ने दत्तात्रेय को गरीबदास की भाँति प्रत्यक्ष गुरु स्वीकार किया।

'परसरामीय-सम्प्रदाय' को राजस्थान के परशुराम देवाचार्य ने प्रवर्तित किया। ये निम्बार्क-सम्प्रदाय के अनुयायी थे, पर सन्त-मत से विशेष प्रभावित थे। उनके अनुयायियों के भेष एवं धार्मिक-चिन्तन मूल सम्प्रदाय का ही अनुसरण करते हैं और उनकी उपासना-पद्धति का प्रधान अंग भी लगभग ज्यों का त्यों है, किन्तु जहाँ तक उनके दार्शनिक दृष्टिकोण परमतत्व के स्वरूप एवं अन्य ऐसी बातों का सम्बन्ध है, वे बहुत कुछ सन्त-मत के निर्गुण विशिष्ट विचारों का भी आश्रय ग्रहण करते हुए प्रतीत होते हैं और उस सीमा तक हम कह सकते हैं कि 'पारसरामीय सम्प्रदाय' अपने प्रवर्तक सन्तों का ऋणी है।

'सीतारामीय-सम्प्रदाय' भी सन्त-मत का ऋणी है। इसके संस्थापक बाबा रामचन्द्र थे आपकी प्रसिद्ध रचना 'चरणचन्द्रिका' है। आपके शिष्य बाबा नवनिधिदास ने इसमें अत्यधिक सफलता पाई। इसके अनुयायी अपना आदिगुरु कबीर को मानते हैं। पर 'सन्तमतसार' में 'सीताराम-भावना' तथा उपासना में तन्त्रोपचार की प्रधानता एवं बहुदेववाद की झलक है।

इस युग में पौराणिकता से प्रभावित होकर कबीर की अभीष्ट सिद्धावस्था, परमपद एक मानसिक स्थिति से अलौकिक प्रदेश के रूप में परिणत हो गई। सन्त प्राणनाथ ने इसे 'धाम' की संज्ञा दी जो किसी पावन एवं पवित्र स्थान को लक्ष्य करता था और वहाँ तक पहुँचने वाले को 'धामी' नाम से अभिहित किया। किन्तु सन्त दरियादास ने उससे भी आगे बढ़कर 'शिवलोक', 'विष्णुलोक' एवं 'गोलोक' प्रचलित शब्दों का ध्यान रखते हुए, उसे 'छपलोक', 'सत्यलोक' और 'अभयलोक' कहने की प्रणाली प्रचलित की। सन्त शिवनारायण ने उसे 'सन्तदेश' या 'सन्तो का घर' नाम देकर उसके पार्थिव रूप को और भी स्पष्ट कर दिया। इसी प्रकार कबीर, नानक आदि के पद संग्रहीत होने लगे। कबीर-पन्थ का 'बीजक', सिखों का 'आदिग्रन्थ', साध-सम्प्रदाय के 'आदि उपदेश', बानी ग्रन्थ, दादू-पन्थ के 'अंगबधू' एवं 'सर्वांगी' ग्रन्थ की सर्वमान्य ग्रन्थों में गणना होने लगी। इन्हीं के अनुकरण में 'धामी-सम्प्रदाय' के 'कुलजम-

शरीफ' और 'शिवनारायण-सम्प्रदाय' के 'गुरु-अन्यास' भी पूज्य हो चले। पर इस युग की ग्रन्थ रचना-पद्धति पदों एवं साखियों के स्थान पर रीतिकालीन पद्धति के अनुसार विविध छन्दों में होने लगी। इस युग की अन्य विशेषता सिखों के तथा सतनामी विद्रोहियों के तत्कालीन शासन के विरुद्ध विरोध करने की प्रवृत्ति है। सारांशतः इस युग में अपेक्षाकृत भिन्न सन्त-सम्प्रदायों की प्रवृत्ति प्रबल हुई तथा उनपर सूफी प्रभाव भी पड़ा।

बाबालाली सम्प्रदाय

बाबा लाल नामक चार महात्मा हुए। इस सप्रदाय के अनुयायियों के मतानुसार आपका जीवन-काल सं० १४१२ से १७१२ तक कहा जाता है। परन्तु साथ ही बाबा लाल के जन्म का अनुमान सं० १६४७ से सं० १७१२ भी किया जाता है। बाबा लाल की माता का नाम कृष्णादेवी और पिता का नाम भोलानाथ प्रसिद्ध है और केवल ८ वर्ष की अवस्था में इनका कुलधर्मानुसार शास्त्रादि का अध्ययन कर धार्मिक जीवन व्यतीत करने के लिए कटिबद्ध होना भी कहा जाता है। आपको १० वर्ष की अवस्था में ही उत्कट वैराग्य हो गया तथा चेतन बाबा से अत्यधिक प्रभावित हुए। उनके सम्पर्क से ज्ञान-सम्पन्न होकर अपने २२ शिष्यों के साथ समस्त देश का भ्रमण किया। आपके जीवन की प्रमुख घटना शाहजादा दाराशिकोह के साथ आध्यात्मिक वार्तालाप करना है। आप विशुद्ध एकेश्वरवादी थे, राम तथा हरि के रूप में सबके उपास्यदेव परमात्मा को स्वीकार किया था। आपका मत कबीर एवं दादू के पन्थों से मिलता है, पर वेदान्त एवं सूफी मतों द्वारा अधिक प्रभावित है। आपकी साधना के अन्तर्गत शम, दम, चित्त-शुद्धि, दया, परोपकार, सहजभाव एवं सत्य-दृष्टि हैं। इसका लक्ष्य परमात्मा के प्रेम में ओत-प्रोत कर देना है। आपके मत के प्रेमानुभूति एवं परोपकार दो प्रधान अंग हैं। मूर्तिपूजा आदि की अपेक्षाकृत योगसाधना को महत्त्वपूर्ण कहा है। साधु का परम कर्तव्य इन्होंने श्रद्धा एवं वैराग्य के साथ रहना बताया है। इन्होंने यह भी कहा है कि:—

जाके अन्तर ब्रह्म प्रतीत, धरे मौन, भावे गावै गीत।
निसदिन उन्मन रहित कुमार, शब्द सुरत जुड़ एकोतार॥

देहाभीतर श्वास है, श्वासे भीतर जीव।
जीवे भीतर वासना, किस विधि पाइये पीव॥

इनका प्रधान केन्द्र सरहिन्द के निकट ध्यानपुर में है।

सन्त प्राणनाथ ने स्वकालीन सभी धर्मों का अध्ययन एवं अनुशीलन कर

समन्वय का प्रयत्न कर इस सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। आपका जीवन-काल सं० १६७५ से १७५१ वि० था। अपनी बाल्या-

धामी या प्रणामी-सम्प्रदाय

वस्था में प्राणनाथजी ने किसी कारण विरक्त होकर अपने जन्मस्थान का त्याग कर दिया और साधुओं के साथ भ्रमण करने लगे। इस प्रकार सत्संग द्वारा इन्होंने अरबी, फारसी, हिन्दी और संस्कृत में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। हिन्दुओं के वेदादि ग्रंथों के अतिरिक्त मुसलमानों की कुरान, ईसाइयों की इञ्जील तथा यहूदियों की तौरेतः जैसी पुस्तकों का अध्ययन कर इन्होंने अपने विचारों को व्यापक और परिष्कृत बनाया। आपको गुरु रूप में देवचन्द या निजानन्दाचार्य से प्रेरणा मिली थी। दीक्षित हो जाने के अनन्तर विदेशों तक आपने भ्रमण किया तथा छत्रसाल को भी अपना प्रधान शिष्य बनाया। आपकी रचनाओं की संख्या १४ कही जाती है, जिसमें महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'कलजमे शरीफ' (मुक्ति की पवित्र धारा) है। आपके मार्गप्रदर्शक गुरु की साधनाएँ 'प्रणामी-सम्प्रदाय' के रूप में प्रकट हुईं, जिसके अनुसार उस आनन्दघन की मूलशक्ति प्रेमस्वरूपिणी कही गई, प्रेम-साधना के बल से जीव खिंचकर तदाकार (परमात्मरूप) बन जाता है। आप पर भागवत में वर्णित गोपियों की रागानुगा भक्ति का प्रभाव था। सन्त प्राणनाथ का मत भी पूर्व में यही था, पर सूफियों के 'इश्क हकीकी' तथा ईसाइयों के 'ईश्वरीय प्रेम' के साथ विचार-विनिमय कर आपने यह निर्धारित किया कि प्रेम अनुभूतिगम्य होने पर भी अनिर्वचनीय है तथा शुद्ध प्रेमानुभूति ही पुरुषार्थ की चरमावस्था है। अतएव परमात्मा का नाम 'धाम' (परमपद) रखा। बाबा प्राणनाथ की रचनाओं की संख्या १४ बताई जाती है। जिनके नाम क्रमशः 'राम ग्रन्थ', 'प्रकाश ग्रन्थ', 'षट् ऋतु', 'कलस', 'सम्बन्ध', 'किरतन', 'खुलास', 'खेलवात', 'प्रकरण इलाही दुलहन', 'सागर सिंगार', 'वेडेसिंगार सिंधि भाषा', 'मारफत सागर' और 'कायागत' नाम हैं। इनके अतिरिक्त उनकी एक पदावली भी प्रसिद्ध है जिसमें उनकी स्त्री इन्द्रावती की भी कतिपय रचनाओं का संग्रह किया गया है। आपने विभिन्न धर्मों में अवतार लेने के प्रसंग को अपनी पुस्तक 'कयामतनामा' में विस्तृत उल्लेख के साथ वर्णित किया है। प्राणनाथ ने अपने को भी उस अवतार का ही उद्धारकर्त्ता रूप माना है।

इस पन्थ के पूर्वनाम 'मेराजपन्थ', 'खिजड़ा' एवं 'चकला' भी कहे जाते हैं। पर सर्वप्रसिद्ध नाम 'धामी' एवं 'प्राणनाथी' सम्प्रदाय ही है। इसके अनुयायी 'साचीभाई' या 'भाई' कहलाते हैं। आजकल ये वैष्णव-सम्प्रदाय से

प्रभावित होकर कृष्ण के बालरूप का ध्यान करने लगे हैं। इस पन्थ के अनुयायी 'कलजमे शरीफ' धर्म ग्रन्थ की पूजा करते हैं। ये आत्मज्ञानी तथा योगी होते हैं तथा नैतिक आचरण पर विशेष ध्यान रखते हैं। 'पन्ना' नगर इनका प्रधान केन्द्र है।

सतनामी-सम्प्रदाय

सतनामी-सम्प्रदाय का अभिप्राय सत्यनाम से परिचित कराने वाले ईश्वर का सम्प्रदाय है। इसके मूल प्रवर्तक अनिश्चित हैं। ऊदादास, वीरभान जोगीदास के नामोल्लेख से इसका सम्बन्ध 'साध सम्प्रदाय' से प्रतीत होता है। कुछ विद्वान् इसे साध-सम्प्रदाय से अभिन्न ही मानते हैं। डा० बड़थ्वाल के अनुसार "इस सम्प्रदाय के संस्थापक दादू-पन्थी जगजीवन दास जान पड़ते हैं।" किन्तु इसके लिए बड़थ्वालजी ने कोई प्रमाण नहीं दिया है। इस सम्प्रदाय का नाम सं० १७२९ के सतनामी विद्रोह के पूर्व नहीं सुन पड़ता था। इस सम्प्रदाय का 'साध-सम्प्रदाय' पर कोई प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता है। इस विद्रोह में भाग लेने वाले अधिकतर ग्रामीण कृषक थे, जिनके प्रति ईश्वरीय विधान से विजेता होने की धारणाएँ बनने लगी थीं। मामूली तलवारें इन पर वार न कर सकती थीं। इन कृषक विद्रोहियों के साम्प्रदायिक वेशधारी तथा सत्तनामोच्चारण करने के कारण उसे धर्मानुरागी जनता का उपद्रव कहा गया। सत्तनामी लोगों का सादा रहन-सहन इनके साहस संगठन की योग्यता तथा भेद-भाव रहित जीवन-यापन करने की प्रणाली को सर्वथा स्तुत्य मानना चाहिए। इन लोगों का स्वभाव उत्तम एवं चरित्रबल प्रशंसनीय कहा जाता था। उक्त विद्रोह के समय ये नारनौल के समीपस्थ क्षेत्र में ही थे। औरंगजेब ने इन्हें नष्ट करने के प्रयत्न किए। इनकी यह शाखा 'नारनौल शाखा' कही जाती है।

कोटवा शाखा

इस सम्प्रदाय का पुनः संगठन उत्तर-प्रदेश में जगजीवन साहब के नेतृत्व में हुआ। वे चन्देल ठाकुर थे। जगजीवन साहब बालपन में ही बूला साहब तथा गोविन्द साहब से प्रभावित हुए थे। इनको विश्वेश्वरपुरी का शिष्य कहा जाता है, परन्तु बावरी-पन्थ की शिष्य परम्परा में बूला का शिष्य कहा जाना विशेष संगत है। कुछ लोगों के ईर्ष्या भावना से पीड़ित होकर आप सरदहा छोड़कर कोटवा में रहे और वहीं इनकी समाधि है। जगजीवन साहब की ७ पुस्तकें 'शब्द सागर', 'ज्ञान-प्रकाश', 'प्रथम ग्रन्थ', 'आगमपद्धति', 'महाप्रलय', 'प्रेम ग्रन्थ' तथा 'अघविनाश' नाम से प्रसिद्ध हैं, जिनमें से 'शब्दसागर' नामक ग्रन्थ 'जगजीवन साहब की

बानी' नाम से वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित है। इसमें परमात्मा को 'सत्त' नाम दिया है। ये मुक्तावस्था को भी उसी प्रभु की कृपा एवं अन्तःप्रेरणा पर अवलम्बित समझते हैं तथा सबसे महत्त्वपूर्ण साधन 'सत्तनाम'-स्मरण मानते हैं। ये साधनों के लिए सत्तनाम का भजन अनिवार्य मानते हैं। ये सत्तनाम का रसामृत पानकर मन ही मन मगन रहने पर अधिक बल देते हैं और कहते हैं कि उस अभूति की विस्मृति हमारे दैनिक जीवन की व्यवस्था में भी नहीं होनी चाहिए:—

सन्त नाम रस अमृत पिया, सो जग जनम पाय नहिं जिया।
कबहु मन कहुँ अनत न जाय, अन्तर भीतर रहै बनाय ॥[1]

वरन् जगत् में रहते हुए भी अपने को जगत् से न्यारा समझना चाहिए।

साधो अन्तर सुमिरत रहिये।
रहिये जगत जगत से न्यारे, दृढ़ ह्वै सुरति गहिये ॥[2]

आपके प्रमुख शिष्यों में १६ हिन्दू तथा २ मुसलमान कहे जाते हैं। आपके प्रधान हिन्दू शिष्यों में दूलनदास, देवीदास, गुसाईदास, खेमदास तथा उपाध्याय चमार कहे जाते हैं जिनमें से प्रथम ४ 'चारपावा' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी रचनाओं से ज्ञात होता है कि बाद में इस सम्प्रदाय पर सगुणोपासना का प्रभाव क्रमशः पड़ने लगा। जगजीवनदासजी की भक्ति पहले विशुद्ध थी, किन्तु आगे पौराणिक पद्धति पर हो गई तथा आपके शिष्यों का ध्यान देवी-देवताओं की ओर भी जाने लगा। दूलनदास के शिष्यों में 'सिद्धादास' प्रसिद्ध हैं। आपके प्रधान शिष्य पहलवानदास थे, जिन्हें गुरुकृपा से निर्गुण-साधना का सम्पूर्ण रहस्य ज्ञात हो गया। 'नारनौली शाखा' की अपेक्षाकृत इसकी विशेष प्रसिद्धि हुई क्योंकि इसकी आध्यात्मिक साधना विशेष महत्त्व रखती एवं इसके अनुयायी विरक्त जीवन-यापन कर इसका आदर्श उच्च बनाए रहे।

छत्तीसगढ़ी शाखा

इसे मध्यप्रदेश के विलासपुर जिले में घासीदास ने चलाया था। घासीदास का पहला नाम घासीराम था और ये जाति के चमार थे। ये अत्यन्त निर्धन किसान थे और गिरोद नामक गाँव में किसी के यहाँ नौकरी करते थे। एक बार ये अपने भाई के साथ जगन्नाथपुरी तीर्थ करने गए, किन्तु कुछ दूर जाकर 'सन्तनाम', 'सत्तनाम' कहते-कहते वापस आ गए। इन्होंने अपने उदार व्यक्तित्व से जनता को बहुत

---

१. जगजीवन साहब की बानी, पृ० ५३।

२. वही, पृ० १०१।

प्रभावित किया। इनके पश्चात् इनके पुत्र बालकदास तथा फिर अगरदास एवं उनके पुत्र अगरमानदास तथा अजबदास उत्तराधिकारी हुए। इसके अनुयायी अपने महन्त का चरणामृत लेकर एक रुपये की भेंट चढ़ाते हैं। 'सतनामी' अधिकतर साधारण मजदूर एवं किसान ही पाये जाते हैं। इसमें निम्न-श्रेणी के लोग अधिक संख्या में सम्मिलित हैं। ये चमार होने के कारण अपने को 'रैदासी' भी कहा करते हैं, परन्तु यह असंगत तथा असम्बद्ध है। इसके सिद्धान्तानुसार ईश्वर 'एक' है और वह निर्गुण एवं निराकार है। देवों में सूर्य मात्र ही इनके द्वारा पूज्य हैं। इनके यहाँ वर्ण-व्यवस्था पालन निषिद्ध माना गया। दोपहर के बाद हल चलाना वर्जित माना गया। इसके कठोर नियमों का पालन करने वाले 'जहरिया' कहलाते हैं। ये मद्यपानकर्ताओं को 'शाक्त' कहते हैं। इसका कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है। यह शाखा विशेषतः चमारों की उन्नति के लिए प्रयत्नशील रही।

धरनीश्वरी-सम्प्रदाय

बाबा धरनीदास एक उच्चकोटि के महात्मा थे। इनकी जन्म एवं मरण की तिथियों का ठीक पता लगाना कठिन है और इनके जीवन-सम्बन्धी घटनाओं का विवरण अधिकतर अनुमान पर ही आश्रित जान पड़ता है। इनका जन्म काल संवत् १७१३ में माना जाता है। आपकी रचना 'प्रेम-प्रगास' के अनुसार माँझी निवासी परसराम श्रीवास्तव के वैष्णवकुल में आपका जन्म हुआ। पितृ-निधन से संक्षुब्ध होकर आप भगवच्चिन्तन में लीन रहने लगे। आपने बड़ी श्रद्धा के साथ गुरु विनोदानन्द का उल्लेख किया है। रामनगर आपका भजन-स्थान तथा मन्दिर 'धरनेश्वर का द्वारा' कहलाया।

आपकी 'प्रेम-प्रगास', 'शब्द-प्रकाश' एवं 'रत्नावली' रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। 'प्रेम-प्रगास' एक प्रेम-कहानी का आधार लेकर निर्मित ग्रन्थ है, जिसमें सूफियों की शैली के अनुसार जीवात्मा एवं परमात्मा का मिलन दर्शाया गया है। 'रत्नावली' के अन्तर्गत बाबा धरनीदास ने अपनी गुरु-परम्परा के सम्बन्ध में बहुत कुछ परिचय दिया है। आपने स्वामी रामानन्द के सम्प्रदायानुसार तुलसी की माला एवं तिलक की प्रशंसा की है। अपने 'रत्नावली' ग्रन्थ में इन्होंने कहा है—

तुलसी कंठ तिलक हरि वंदिल, धरनी धन्य सो देही।
रामानंद औतार छाप कलि, मुकति को मारग एही॥

आपकी बानियों का संकलन प्रकाशित है। 'प्रेम-प्रगास' में सूफियों की शैली के

अनुसार प्रेम-कथा का आश्रय लेकर जीवात्मा परमात्मा का मिलन दर्शाया है। 'शब्द-प्रकाश' आपके सिद्धान्तों का परिचायक है। आप परमतत्व को 'दुरता-राम' कहकर 'बालगोपाल' एवं धरनीश्वर को उसका प्रतीक मानते हैं। आपने प्रेमभक्ति के स्वरूप का भी वर्णन किया है। बाह्य पूजनादि को महत्त्व न देकर निर्गुण-पन्थ का समर्थन किया है। आपका ध्येय सन्तमतानुसार है तथा सूफी-मत का प्रभाव भी परिलक्षित होता है।

आपके पश्चात् अमरदास, मायादास, रतनदास, बालमुकुन्ददास, रामदास, सीतारामदास, हरनन्दनदास एवं रामदास इनके शिष्य-प्रशिष्य हुए। 'माँझी' की गद्दी ही आपका प्रधान केन्द्र है। इस पन्थ के अनुयायी बलिया में अधिक-तर पाए जाते हैं तथा उनका मूल सम्बन्ध परसा के मठ से विशेष है, जिसमें सन्त चैनराम बाबा प्रसिद्ध हुए। इनके शिष्य-प्रशिष्यों में महाराज बाबा, सुदिष्ठ बाबा तथा रघुपतिदास सात्विकी हुए। उनमें से कुछ के नाम से मेले भी लगा करते हैं।

दरिया नाम के दो समकालीन सन्त बिहार तथा मारवाड़ में हुए, जिनमें से प्रथम दर्जी तथा द्वितीय धुनिया थे। प्रथम का अनुभव व्यापक तथा सूफी,

दरियादासी-सम्प्रदाय

सत्तनामी तथा कबीर पन्थ से प्रभावित है। द्वितीय की स्वानुभूति बड़ी गहन है। प्रथम बिहार में रहने के कारण बिहारवाले और द्वितीय मारवाड़ में रहने के कारण मारवाड़-वाले दरिया साहब कहलाये। दोनों ने आगे चलकर सन्तमत स्वीकार किया और एक सच्चे सन्त की भाँति जीवन-यापन कर अन्त में स्वर्गा-वरोहण किया। पूर्व की खोज से उन्हें उज्जैनवंशी क्षत्रिय कहा जाता है। आपकी प्रसिद्ध रचना 'ज्ञानदीपक' से आपका जन्म सं० १६९१ तथा मृत्यु सं० १८३७ में जान पड़ती है। आपको १ मास की अवस्था में ही दरियाशाह नामक भगवान् के दर्शन हुए। आपको जीवन के १५वें वर्ष में विरागोत्पत्ति हुई तथा २०वें वर्ष में भक्ति का पूर्ण विकास हुआ था। आपके प्रधान शिष्यों की संख्या ३६ थी जिनमें दलदास सर्व प्रसिद्ध हुए। आपकी रचना 'ज्ञान स्वरोदय' के अनुसार आप १९ ग्रन्थों के लेखक प्रतीत होते हैं, जिनमें से 'दरियासागर' एवं 'ज्ञानदीपक' प्रकाशित हैं। इस ग्रन्थ के अनुसार आपका मत कबीर पन्थ के समान ही प्रतीत होता है। कबीर-पन्थ के सत्तलोक की भाँति उसे आपने 'छपलोक' नाम दिया है तथा उसे 'अभयलोक' एवं 'अमरपुर' भी कहा है। सत्तपुरुष का निवास सत्तलोक में बताया है जो कबीर के परमतत्त्व 'राम' की भाँति है। उन्होंने कहा है—

तीनि लोक के ऊपरे, तहँ अभय लोक विस्तार।
सत्त पुरुष परवाना पावै, पहुँचै जाय करार॥[१]

इस अभय-लोक को प्राप्त करने के लिए 'सन्त'-शब्द का ज्ञान अनिवार्य है—

सत्त शब्द जिनके बलजाना।
अभय लोक सो सन्त समाना॥[२]

वे ब्रह्म की खोज जीव के अन्तर्गत ही करने के अनुगामी हैं।

खोजो जीव, ब्रह्म मिलि जाई।[३]

वे कबीर साहब और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं देखते थे तथा उसे ये 'निरगुन सरगुन ते भीना' तथा एक 'अछै वृक्ष' के रूप में देखते हैं और उसका वर्णन सृष्टि-कर्ता के रूप में भी करते हैं। आपने अपने तथा कबीर में कोई अन्तर नहीं बताया है तथा अपने को उन्हीं की भाँति सत्तपुरुष के सन्देश-वाहक के रूप में अवतरित बताया है। इस ग्रन्थ की वर्णन-शैली एवं पारिभाषिक शब्द कबीर के सिद्धान्तों के विकसित एवं परिवर्तित रूप मात्र हैं। आपने 'ज्ञान स्वरोदय' में स्वर विद्या का अध्ययन बड़ी सूक्ष्मता से किया है।

आपके पन्थ का प्रचार उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिलों तथा बिहार में है तथा प्रधान गद्दी धरकन्धे में है। इनके अनुयायियों का मूलमन्त्र 'वे वहा' है तथा 'सत्तनाम' का प्रयोग श्रद्धा से करते हैं।

दरिया-पन्थ

मारवाड़ी दरिया साहब का जन्म जैतारन गाँव में सं० १७३३ में हुआ तथा सं० १८१५ में मृत्यु हुई। ये जाति के मुसलमान थे, स्वयं एक स्थान पर लिखते हैं—

जो धुनियाँ तो भी मैं राम तुम्हारा।
अधम कमीन जाति मतिहीना, तुम तौ हौ सिरताज हमारा॥[४]

इनके प्रारम्भिक जीवन का कुछ पता नहीं चलता, केवल इतना ही प्रसिद्ध है कि इन्होंने वीकानेर के खियानसर गाँव के किसी प्रेमजी से शिक्षा-दीक्षा ली थी। आप एक अनुभवी एवं योग्य व्यक्ति थे। आपकी (बानियों) रचनाओं का संग्रह प्रकाशित हुआ। कुछ आपको दादू का अवतार कहते हैं परन्तु इनकी अपेक्षाकृत कबीर से आप विशेष प्रभावित जान पड़ते हैं। आपकी विशेषता

---

१. दरिया सागर, पृ० १।
२. वही, पृ० १३।
३. वही, पृ० १३।
४. दरियासाहब (मारवाड़वाले) की बानी, पृ० १।

आपके शुद्ध एवं कोमल हृदय से निःसृत सरल एवं प्रसादगुण-सम्पन्न रचनाओं में है। आपके गुरु का नाम प्रेमदयाल था। आपकी साधना में नामस्मरण का विशेष स्थान है। परन्तु यह जप साधारण नहीं वरन् यह रस सर्वप्रथम जिह्वा से उत्पन्न होकर हृदय में उतरकर नाभिकमल में प्रवेश कर जाता है। वहाँ से मेरुदण्ड की जड़ तक जाकर ऊपर की ओर त्रिकुटी में पहुँच, अनन्त सुख का अनुभव करता है। आपका 'पूरन-ब्रह्म' मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के लिए अगम्य वस्तु है। आपकी अनुभूति गहन है। साधना की सच्ची एवं पूर्ण सिद्धि इन्होंने साधक के प्रत्येक अंग के परिवर्तन में ही मानी है। उसके लिए गृह-परित्याग की आवश्यकता नहीं। इन्होंने अन्य सन्तों की भाँति नारी जाति की निन्दा नहीं की।

शिवनारायणी-सम्प्रदाय

सन्त शिवनारायण के पौराणिक एवं ऐतिहासिक परिचयों में आपका चन्दवार गाँव में नरौनी क्षत्रिय बाघराय के घर जन्म लेना माना गया है। मूल-ग्रन्थ के अनुसार इनका जन्म सं० १७७३ की कार्तिक सुदी ३, बृहस्पतिवार की आधी रात के समय रोहिणी नक्षत्र में हुआ था, किन्तु इसे पूर्णतया प्रमाणित तथा युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। आपके गुरु एवं पथ-प्रदर्शक सन्त दुखहरन थे। उन्हीं की कृपा से 'गुरु अन्यास' की रचना की। 'सन्त-सुन्दर' ग्रन्थ की रचना आपने अहमदशाह के समय में की थी। इनके शासनकाल में ये विख्यात महापुरुष हो गए। बलिया जिले का चन्दवार ग्राम इनके अनुयायियों का प्रधान केन्द्र माना जाता है तथा वहीं मठ है। आपकी रचनाओं की संख्या १६ कही जाती है किन्तु सर्वमान्य-ग्रन्थ 'गुरु-अन्यास' है, जो इस सम्प्रदाय में पूजित होता है। जिसकी वर्णनशैली पौराणिक परम्परानुसार है। इसका प्रधानोद्देश्य चरित्र-निर्माण की पूर्ति है। इसके अन्य नाम 'ग्रन्थ एवं बीजक' हैं। इसके अतिरिक्त 'सन्त-सुन्दर', 'सन्त-विलास', 'सन्त-सागर' भी आपके ग्रन्थ हैं। इस पन्थ के ग्रन्थों के नाम एवं संख्या में बहुत मतभेद है। इस पन्थ की ११ प्रसिद्ध रचनाएँ हैं—'सन्त विलास', 'भजन ग्रन्थ', 'सन्त सुन्दर', 'गुरुन्यास', 'सन्त अचारी', 'सन्त उपदेश', 'शब्दावली' 'सन्त परवान', 'सन्तमहिमा' तथा 'सन्तसागर' हैं। इस सम्प्रदाय का मुख्य उद्देश्य प्रत्येक अनुयायी को 'सन्त विलास' एवं 'सन्त देश' लोक तक पहुँचा देना है। संसार को 'कालदेश' बताया गया है। अलौकिक प्रदेश में पहुँचने के लिए आश्रय ग्रहण आवश्यक न बताकर, पथ-प्रदर्शन मात्र ही आवश्यक कहा है। उस मार्ग पर निज-बल का भरोसा करना पड़ता है। वे स्वानुभूति पर अधिक जोर देते हैं और मन को विविध विकारों

से उन्मुक्त कर निर्मल, निश्चल एवं पूर्ण शान्तिमय बना देना मानव जीवन की चरम सीमा है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'सन्त सुन्दर' में कहा है :—

सीव नरायन गाँव यह, अपना अपना गाँव।
अपना अपना सन्त होइ, अपना अपना नाँव॥

आपने मानव के अन्तर्गत ४० त्रुटियों तथा उनके निराकरण का संकेत किया है। इस पन्थ के अनुसार सर्वश्रेष्ठ नैतिक गुण सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा, मादक वस्तु परित्याग एवं एक-पत्नीव्रत है। इस मत के माननेवाले किसी प्रकार के भेष अथवा बाह्याडम्बर में विश्वास नहीं करते। इस सम्प्रदाय के चार मठ हैं, जो ससना, बहादुरपुर, भेलसरी, चन्दवार एवं गाजीपुर में है। सन्त शिवनारायण के चार प्रधान शिष्य (बलिया निवासी) रामनाथ, सदाशिव, लखनराम एवं लेखराज थे। इस पन्थ के सभी अनुयायी 'भगत' तथा 'सन्त' कहे जाते हैं और सबके इष्टदेव सन्तपति नाम से शिवनारायणजी हैं। इसके अनुयायियों में जाति, वर्ण, आश्रम या पूर्व धर्म के अनुसार किसी प्रकार का वर्गीकरण नहीं किया जाता। सभी जातियों के लोग इस धर्म में पाये जाते हैं। आजकल निम्न-जाति के लोग ही इसके अनुयायी हैं। इस पन्थ में योग्य स्त्रियाँ भी मठाधीश बन जाती हैं।

चरणदासी-सम्प्रदाय

चरणदास की शिष्या सहजोबाई की रचना 'सहज प्रकाश' के आधार पर उनका जन्म डेहरा में सं० १७६० में मुरलीधर के घर में हुआ। आपके गुरु शुकदेव थे, जिन्होंने इनका नाम रणजीत के स्थान पर चरणदास रखा और इन्हें 'श्रीमद्भागवत' एवं 'ज्ञानयोग' की शिक्षा दी। अपने गुरु द्वारा दीक्षित हो जाने के अनन्तर, सन्त चरणदास ने प्रसिद्ध तीर्थस्थानों का पर्यटन आरम्भ कर दिया और बहुत दिनों तक ब्रज-मण्डल में निवास भी किया। आपने प्रारम्भिक जीवन में ही योगाभ्यास की क्रियाएँ एवं स्वरोदयज्ञान में निपुणता प्राप्त की। महाशय क्रुक के अनुसार आपके गुरु का नाम सुखदेवदास था, पर आपकी रचनाओं द्वारा सुखदेव को 'शुकदेव' ही मानना युक्ति-युक्त है। श्रीकृष्ण के प्रति दृढ़ भक्ति एवं 'भागवती-भक्ति' के कारण आपको 'श्यामचरणदासाचार्य' भी कहा जाता है। ३०वें वर्ष में अपना आध्यात्मिक मार्ग निर्धारित कर दिल्ली में मत प्रचार करने लगे। वहीं सं० १८३९ में आपका देहावसान हो गया। आपके प्रमुख शिष्य ५२ कहे जाते हैं, अतः इस पन्थ की उतनी ही शाखाएँ भी कही जाती हैं। दया बाई एवं सहजोबाई आपकी प्रमुख शिष्याएँ थीं,

जिन्होंने क्रमशः 'दया बोध', 'विनयमालिक' 'सहजप्रकाश' तथा 'सोलह तत्त्व निर्णय' लिखा। मुहम्मदशाह का भी सन्त चरणदास का शिष्य होना कहा जाता है। कहा जाता है कि इन्होंने उसे नादिरशाह की चढ़ाई की सूचना, घटना के ६ महीना पूर्व ही दे दी थी और इस बात से प्रसन्न होकर उन्होंने इनको सैकड़ों गाँव दे दिये थे। आपकी रचनाएँ २१ कही जाती हैं जिनमें से १२ प्रामाणिक मानी जाती हैं। 'ब्रजचरित्र', 'अमरलोक अखण्डधाम वर्णन', 'धर्म-जहाज', 'अष्टांग योग वर्णन', 'योगसन्देह सागर', 'ज्ञानस्वरोदय', 'पंचोपनिषत्' 'भक्तिपदार्थ वर्णन', 'मनविकृतकरण सार', 'ब्रह्मज्ञानसागर', 'शब्द' तथा 'भक्ति सागर'। इन रचनाओं के मुख्य विषय तीन वर्गों से सम्बन्धित हैं—योग-साधना, भक्ति तथा ब्रह्म-ज्ञान। इन्होंने इन तीनों ही प्रधान विषयों को प्रायः समान-भाव के साथ अपनाया है और इसी प्रकार उक्त ग्रन्थों में इनकी चर्चा भी की है। एक स्थल पर स्पष्ट शब्दों में लिखा है—

योग मुक्ति, हरिभक्ति करि, ब्रह्मज्ञान दृढ़ करि गह्यो।
आतम तत्व विचारि करि, अजपा में सनि मनि रह्यो॥[1]

इस सम्प्रदाय को योग का ही पन्थ माना गया है, परन्तु इसके पुष्ट प्रमाण प्राप्य न होने से इस मत को तीनों का समन्वय कहा जा सकता है। आपको अपने मत को 'शुकदेवामोदित भागवत' मत भी कहा है। आपका कथन है, जब ध्याता ध्यान में लीन हो जाता है और ध्यान एवं ध्येय में सुरति बुद्धि से परे हो जाती है, तब भक्तियोग की दशा आती है। षट्चक्र भेदन से शरीर चेतनाशून्य हो जाता है और सुरति नाद में लीन हो क्रिया-शून्य बन जाने पर ही योग-समाधि बन जाती है। ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय की त्रिपुटी नष्ट हो जाने पर आत्मानुभूति की एकरस दशा को ज्ञान-समाधि कहते हैं। परन्तु प्रक्रियाओं की भिन्नता होने पर भी अन्तिम स्थिति तीनों की एक ही है। भक्तियोग के अन्तर्गत 'अमर लोक' को भौतिक रूप न देकर एक अनिर्वचनीय स्थिति बताया है। आपने निष्काम-प्रेमा भक्ति का प्रतिपादन किया है तथा सामाजिक व्यवहार में सच्चरित्रता का समर्थन। आपने कर्मवाद को भी विशेष महत्त्व दिया है। इन्होंने जिन बातों को त्याग देने का विशेष आग्रह किया है, वे असत्य-भाषण, अपशब्द कथन, कठोर वचन, चोरी, परस्त्री-गमन, हिंसा, पर-हानिचिन्तन, वैर एवं विषयों के प्रति अधिक आसक्ति हैं। चरनदास ने समाजसेवा, सद्गुरु-संगति तथा परमात्मा के प्रति दृढ़ अनुराग को अपनाने का विशेष आग्रह किया

---

१. भक्ति-सागर ज्ञानस्वरोदय, पृ० १५६।

है। इस पन्थ के अनुयायी विरक्त एवं गृहस्थ दोनों ही होते हैं तथा ये अपने गुरु के प्रति, अपने गुरु शुकदेव के प्रति दर्शायी श्रद्धा से भी अधिक श्रद्धा प्रदर्शित करते हैं तथा भगवान् से भी बड़ा गुरु को माना है। सहजोबाई ने अपने गुरु को हरि से भी बड़ा माना है और कहा है—

राम तजूँ पर गुरु न विसारूँ।
गुरु के सम हरि को न निहारूँ ॥[१]

इस सम्प्रदाय का अधिक प्रचार दिल्ली, उत्तर प्रदेश पूर्वी पंजाब एवं राजस्थान में प्राप्त होता है।

गरीब-पन्थ

प्रस्तुत पन्थ के प्रवर्तक सन्त गरीबदास ने रोहतक जिले में छुड़ानी गाँव में सं० १७७४ में जाट जाति में जन्म लिया। आप स्वप्न में कबीरदास के शिष्य हो गए। ये उन्हीं को अपना पथ-प्रदर्शक मानकर उन्हीं के मत से प्रभावित जान पड़ते हैं। ये आमरण गृहस्थ रहे तथा इस गद्दी के सभी उत्तराधिकारी गृहस्थ हुए। उन्होंने अपने समय में एक मेला लगवाया था, जो छुड़ानी गाँव में आज भी उसी प्रकार से लगता है और पन्थ के सभी अनुयायी उस अवसर पर उपस्थित होकर इनके प्रति श्रद्धा प्रकट करते हैं। आपकी रचनाओं का संग्रह 'हिंखर बोध' नाम से प्रसिद्ध है तथा कुछ रचनाएँ आपकी 'बानी' नाम से प्रकाशित हैं। आपका मत कबीर के आदर्श द्वारा अनुप्राणित था। आपने परमात्मा को सतपुरुष कहकर निराकार रूप दिया है। गरीबदास ने 'यतपिण्डे तत्ब्रह्माण्डे' का भी निरूपण किया है। गरीबदास ने परमात्मा को सत्त-पुरुष नाम दिया है और उसका परिचय उसे निराकार, निर्विशेष, निर्लेप, निर्गुन, अकल, अनूपम, आदि, मध्य और अन्त से रहित करके किया है। फिर भी कहा है—

सब्द अतीत अगाध है निरगुन सरगुन नाहि।

गरीबदासने उसकी स्वानुभूतिजनित आनन्दोपलब्धि को ही कर्त्तव्य बताया है, जिसकी साधना, सुरत, निरत, मन, पवन के एकीकरण एवं समीकरण के आधार पर गगन-मंडल में पहुँचकर दर्शन करना है।

पानप-पन्थ

परमहंस पानपदास का जन्म सं० १७७६ में बीरबल वंश में हुआ। ये दरिद्रता से अभिशप्त बालक अनाथ की भाँति त्यक्त होने पर तिरग्रान जाति के लोगों के द्वारा पोषित किये गए तथा राजगीर का कार्य सीख कर विख्यात हो गए। ये महात्मा मंगनीराम से दीक्षित होकर

१. सहज प्रकाश, पृ० ३।

मूल व्यवसाय में लगे रहे। गुरु के साथ सत्संग कर, उनसे आज्ञा लेकर दिल्ली में आध्यात्मिक उपदेश देने लगे एवं 'धामपुर' में प्रधान केन्द्र बनाकर मत का प्रचार करने लगे। आपकी रचनाओं का संग्रह 'वाणी ग्रन्थ' नाम से सुरक्षित है। सन्त पानपदास का देहान्त सं० १८३० की फाल्गुन कृष्ण सप्तमी को हुआ था। इनकी समाधि धामपुर में ही है। इनके चार प्रमुख शिष्य थे जिनके नाम मनसादास, काशीदास, चूहड़राम तथा बुद्धिदास थे। आपके उपदेशों में अधिकतर दया, क्षमा, सन्तोष, भेद-भाव-हीनता का महत्त्व वर्णित है। आपने भगवन्नाम-स्मरण पर भी विशेष ध्यान दिया। यह पन्थ हिन्दू धर्म से पूर्णतः प्रभावित है। इनके अनुयायियों का कथन है कि—

"पानप, नानक, रैदास, कबीरा। एक तत्व के चार शरीरा॥"

रामसनेही-सम्प्रदाय

सन्त रामचरन सन्तराम नाम से भी प्रसिद्ध हैं। आपका जन्म जयपुर राज्य के अन्तर्गत ढंढाण प्रदेश के सूरसेन अथवा सोडो गाँव में सं० १७७६ की माघ सुदी १४ की शनिवार के दिन हुआ था। एक दिन स्वप्न में एक दयालु महात्मा को देखकर उसकी खोज में ये निकल गए और खोजते-खोजते इन्हें मेवाड़ प्रदेश के किसी दान्तड़ा नामक गाँव में ऐसे महात्मा के दर्शन हुए जिनका नाम कृपाराम था। कृपाराम से दीक्षित होने के अनन्तर आपका नाम रामचरन हो गया। सं० १८२५ में आपने इस सम्प्रदाय की स्थापना की। 'रामावत' या 'रामानन्दी-सम्प्रदाय' से प्रभावित होने पर आप परमात्मा को निराकार मानते हैं। आपकी मुख्य साधना निर्गुण राम का नामस्मरण है तथा इसे मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन मानते हैं। इनका सर्वप्रधान मठ शाहपुरा का 'रामद्वारा' है। आपने गुरु को वड़ा महत्त्व प्रदान किया है तथा प्रेम-साधना को भी एक प्रधान साधन माना है। इसी कारण ही इस सम्प्रदाय का यह नाम पड़ा। सन्त रामचरण का देहान्त सं० १८५५ में हुआ। आपके २२५ शिष्यों में से १२ प्रधान थे। आपकी रचनाओं की कुल संख्या ३६२५० बानियाँ कही जाती हैं। इन रचनाओं में से कुछ 'नाम गुरु महिमा', 'नाम प्रताप', 'शब्द प्रकाश', 'अणामै विलास', 'अमृत उपदेश', 'जिज्ञास बोध', 'विश्वास बोध', 'विश्राम बोध', 'समता निवास', 'राम रसायन बोध', 'चिन्तामणि', 'मन खण्डन', 'शब्द' एवं 'दृष्टि सागर' अधिक प्रसिद्ध हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायी गुजरात, अहमदाबाद, राजपूताना आदि रियासतों में पाये जाते हैं।

फुटकर सन्त

(१) दीन दरवेश—आप 'ईस्ट-इण्डिया कम्पनी' की सेना में मिस्त्री थे पर बाँह कट जाने से निकाल दिये जाने पर आप विरक्त बन सतसंग करने लगे। अपनी जिज्ञासाओंकी निवृत्ति बाबा बालनाथ से होने पर, आप इनके शिष्य बन गए। तत्पश्चात् ये अपना घर-बार छोड़कर दूर-दूर तक भ्रमण करने लगे और समय-समय पर इन्होंने अनेक महात्माओं के दर्शनकर उनसे लाभ उठाया। आपका समय विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के मध्य से लेकर उन्नीसवीं के प्रथम चरण तक समझा जाता है। इनकी दिनचर्या अपने अनुभव के अनुसार कुछ-न-कुछ पद्य रचना करना तथा सर्वसाधारण को अपने मत का उपदेश देना था। इनकी रचनाएँ अधिकतर अन्य सन्तों या भक्तों की कृतियों के संग्रहों में पायी जाती हैं। उनका कोई पृथक् संग्रह अभी तक न प्रकाशित हुआ है और न हस्त-लिखित रूप में ही कहीं देखने को मिला है। आपने आत्मचिन्तन को विशेष महत्त्व देकर स्वसिद्धान्त-स्थिर कर जीवन-पद्धति में परिवर्तन किया। आपकी कृतियों के विषय सरल, स्वतन्त्र जीवन, विश्वप्रेम, परोपकार, ईश्वर भक्ति, बाह्य विधानों के प्रति उपेक्षा भाव है। जीवन की क्षणभंगुरता, कर्मवाद का महत्त्व एवं ईश्वरीय प्रेरणा पर भी विचार प्रकट किए हैं। आपकी भाषा सरल एवं मुहावरेदार है तथा कथनशैली में गहन अनुभव शक्ति का प्रभाव है।

(२) सन्त बुल्लेशाह—मियाँमीर नामक सूफी फकीर से तप का आदेश पाकर तपस्या करने के पश्चात् बुल्लेशाह ने अद्वैत सिद्धान्तों के उपदेशों को ग्रहण किया। कुछ लोग आपको कुस्तुन्तुनिया निवासी तथा कुछ लाहौर निवासी भी कहते हैं। आपका जन्म सं० १७३७ तथा मृत्यु सं० १८१० में कही जाती है। आपकी रचनाओं के संग्रह में दोहरे, काफी; सीहर्फी, अढ़वारा और बारामासा हैं। आपके विचार बहुत परिमार्जित थे और उन पर कबीर साहब के सिद्धान्तों की स्पष्ट छाप लक्षित होती है। आपका 'कादरी-सत्तारी सम्प्रदाय' के साथ सम्बन्ध था तथा साधारण सूफियों की भाँति वेदान्त-सिद्धातों द्वारा प्रभावित थे। आपके परिमार्जित विचारों पर कबीर के सिद्धान्तों का स्पष्ट प्रभाव है। आपके प्रत्येक शब्द निजी अनुभव से आप्लावित हैं। आपकी रचनाओं में सर्वात्मवाद की भावना पाई जाती है।

(३) बाबा किनाराम अघोरी—आपका जन्म चन्दौली तहसील में रामगढ़ में रघुवंशी क्षत्रियों के घर हुआ था। आप बाल्यावस्था से ही विरक्त एकान्त-प्रेमी एवं रामनाम-स्मरणकर्ता थे। बाबा शिवराम से दीक्षित हो, उनकी सेवा-सुश्रुषा करते हुए जीवन-यापन किया। आपने देश-भ्रमण कर, साधु सत्संग

तथा आत्मचिन्तन का आनन्द लिया। हेनरी बालफोर ने अघोर मत के सम्बन्ध में कुछ सामग्री एकत्र कर उसे 'लाइफ हिस्ट्री आफ ऐन अघोरी फकीर' नाम से प्रकाशित किया है और बतलाया है कि अघोर पन्थ वस्तुतः गुरु गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित गोरख-पन्थ की एक शाखा है। इस शाखा की तीन उपशाखाएँ 'औघड़', 'सर्वनी' और 'घुरे' की भी चर्चा की गई है। आपको गिरनार में दत्तात्रेय के दर्शन हुए। उन्हीं को आपने अपना परमगुरु एवं पथ-प्रदर्शक मान कर अपने मत को 'अवधूत मत' कहा है। काशी में प्रसिद्ध महात्मा कालूराम 'अघोरी' की सिद्धियों से प्रभावित होकर उनसे दीक्षा ली। वहीं कृमिकुंड पर ही रहने लगे और गुरु के पश्चात् 'अघोर-पन्थ' का प्रचार किया। आपकी मृत्यु सं० १८२६ में १४२ वर्ष की अवस्था में हुई। आपने चार मठ स्थापित किए, जिनमें 'रामशाला' प्रधान मठ है। आपके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर काशी के राजा बलवन्तसिंह ने १९६ गाँवों की वार्षिक आय आपके प्रति अर्पित कर दी थी। इनके पन्थ को बहुधा 'किनारामी अघोर-पन्थ' भी कहा जाता है, जिसके अनुयायी प्रायः सभी जाति के लोग हैं और उनमें मुसलमान भी सम्मिलित हैं। 'अघोर पन्थ' का प्रचार नेपाल, गुजरात, समरकन्द तक कहा जाता है। आपकी रचना 'विवेकसार' तथा इस पन्थ का सारांश यह है कि असार संसार में त्रिताप बाधित जीवों को आत्मप्रकाश प्रकट करना आवश्यक है। इसमें सत्यपुरुष तथा अष्टांगों का भी वर्णन है। आपके सिद्धान्त सन्त-मत से मिलते हैं। जोग-जुगुति, सुरति, निरवान आदि व्यवहृत शब्द 'सन्त-मत' की ही भाँति हैं।

आधुनिक-युग (सं० १८५० से अब-तक)

१९ वीं शताब्दी के लगभग विदेशी आधिपत्य के कारण नवीन विवेचन पद्धति का प्रारम्भ हुआ जिसके परिणामस्वरूप भारतीय-धार्मिक साहित्य एवं साम्प्रदायिक विकास का अध्ययन भी पादरियों द्वारा हुआ। इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक नवीन एवं प्राचीन-पन्थों में बाह्य विधानों का अवांछनीय आधिक्य हो गया, जो कि आधुनिक युग के प्रथम विख्यात सन्त तुलसी साहब को अरुचिकर लगा तथा पन्थ-निर्माण भी आपको अनावश्यक ही लगा। सन्तों की समीक्षात्मक प्रवृत्ति ने प्रमुख मान्य ग्रन्थों का अध्ययन कराया और विविध-भाष्य पंचग्रन्थी, त्रिज्या आदि रचे जाने लगे। आधुनिक सन्त मानव-जीवन के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का इच्छुक था। पाप-पुण्य को कुछ महत्त्व न दिया गया। पर यह सिद्धान्त पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित मस्तिष्कों का ही था। इस समय

में भी स्वतन्त्र, निजी सिद्धान्त स्थिर रखनेवाले, सन्त स्वामी रामतीर्थ, विवेकानन्द आदि कहे जाते हैं जिन्होंने संघर्ष युग में भी अपने को सन्तुलित रखा।

साहिब पन्थ

साहिब पन्थ के प्रवर्तक 'तुलसी साहब' या साहिबजी थे। इन्हें श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल का बताया जाता है। आपकी अवस्था ६० वर्ष की कही जाती है। आपके प्रारम्भ से ही विरक्त होने से राज्य स्वीकार न करने पर आपके पिता ने आपके छोटे भाई बाजीराव को गद्दी दी। कहा जाता है कि आप किसी गुरु से नहीं अपितु स्वयं भगवत् संकेतों द्वारा अनुप्राणित हुए थे। कुछ लोग उन्हें 'आवापन्थ' से सम्बन्धित बताते हैं, पर यह अप्रमाणित है। आपकी 'घटरामायन' नाम रचना से आपका पूर्व जन्म से गोस्वामी तुलसीदास होना ज्ञात होता है, तथा उनके साथ अपना सामञ्जस्य स्थापित करने के हेतु मानस कथा को इसमें घटाने का प्रयास किया है। आपकी तीन रचनाएँ 'शब्दावली', 'घटरामायन', 'रत्नसागर' उपलब्ध हैं। प्रथम में बानियों का संग्रह है; द्वितीय में पिण्ड, ब्रह्माण्ड के रहस्यों का वर्णन, वैराग्य, योग, भक्ति-ज्ञान-वर्णन तथा भिन्न धर्मवालों के साथ सम्वाद वर्णित हैं। 'रत्नसागर' में सृष्टि रचना का रहस्य, कर्मवाद, सत्संग प्रधान विषय हैं। आपने अपने मत को सन्त-मत कहा है। तुलसी साहब ने कबीर, नानकादि सन्तों को आदर्श बताते हुए आलोचनात्मक प्रणाली द्वारा उनके अनुयायियों को पथ-भ्रष्ट सिद्ध किया है। आप की युक्तियाँ काल्पनिक होते हुए भी बुद्धि-संगत एवं समीचीन हैं तथा अन्धानुसरण कर्ताओं के लिए चेतावनी है। उन्होंने मन को ४० स्थलों का वासी कहकर सुरत की स्थिति में उसका ४१ वाँ रूप होना माना है। तुलसी साहब ने मन के नाश से निरंजन का नाश और ब्रह्म प्रवेश तथा ब्रह्म का शब्द में लय, शब्द का शून्य में, शून्य का महाशून्य में लीन होना बतलाया है और महाशून्य को ही सत्तलोक कहा है। इसी स्थिति को अंगमपुरधाम कहा है। आपकी समाधि हाथरस में है। सन्त परम्परा के इतिहास में आपका विशेष महत्त्व है। पर आप निष्पक्ष समालोचक एवं निरे पुराण-पन्थी भी नहीं कहे जा सकते। आपके शिष्य १२ कहे जाते हैं। इनमें सर्व प्रसिद्ध सूरस्वामी कहे जाते हैं। इसके पश्चात् गिरधारीदास हुए। तत्पश्चात् यह परम्परा-निर्वाह न हो सका।

नांगी-सम्प्रदाय

मूल प्रवर्तक सन्त डेढ़राज का जन्म नारनौल में धारुस गाँव में सं० १८२८ में हुआ। आपके पिता का नाम पूरन एवं माता का नाम नानकी कहा जाता है। कुछ लोग आपकी 'माँ' के नाम पर इस पन्थ का नामकरण मानते हैं। पर इसका प्रचार जन्मभूमि से ही

हुआ। आप वर्ण-व्यवस्था के कट्टर विरोधी थे। अतः आपके असंख्य विरोधी हो गए। झज्झर में बन्दी होने के पश्चात् गुड़गाँव तक प्रचार कार्य कर सं० १९०९ में आपका देहान्त हो गया। आपके प्रधान शिष्य गंगाराम थे, जिनके शिष्य सन्तराम हुए। आपके शिष्यों में से भाई भगीरथदास का नाम प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदाय के शिष्य लोग 'राम' नामधारी निराकार परमात्मा को मानते हैं। ये लोग साम्प्रदायिक भावना को आश्रय न दे, सब धर्मों का समान रूप से आदर करते हैं। इसके अनुयायी स्त्री-पुरुष दोनों को समानाधिकारी बताते हैं और प्रार्थना में भावावेशपूर्ण भाव दर्शाते हैं। इनका प्रधान मठ गुड़गाँव जिले के 'भिवाना' में है। 'सत्य' के प्रति विशेष अस्था एवं शुद्धाचरण इस पन्थ की विशेषताएँ हैं। ईश्वर-पूजन में समानाधिकार, व्यर्थ मूर्तिपूजन तथा ग्रन्थ-विशेष के प्रति आस्था न रखना इसके प्रधान नियम हैं।

इसकी विशेषता इनके गुप्त आध्यात्मिक साधनाओं में है। इसका सर्वप्रथम

राधास्वामी सत्संग आरम्भ शुद्ध धार्मिक संस्था के रूप में तीन गुरुओं तक रहा किन्तु बाद में व्यावसायिक रूप भी आगरे की दयालबाग शाखा ने धारण किया।

(१) लाला शिवदयाल सिंह खत्री स्वामीजी महाराज—इस सत्संग के मूल प्रवर्तक थे। आपका जन्म सं० १८७५ में दिलवाली सिंह के घर हुआ। आप अपने पिता की भाँति पहले नानक-पन्थ के ग्रन्थों का पाठ करते थे, परन्तु कालान्तर में तुलसी साहिब से प्रभावित हुए। आपकी ५, ६ वर्ष की अवस्था से ही आध्यात्मिक चिन्तन एवं सत्संग की प्रवृत्ति थी। आपका विवाह 'राधाजी' के साथ हुआ था। आपने कुछ काल के पश्चात् ही अपना महाजनी व्यवसाय समाप्त कर, सं० १९१७ से आध्यात्मिक उपदेश देना आरम्भ कर दिया। आपकी प्रसिद्धि से आकृष्ट हो साहिब-पन्थ के अनुयायी भी आपकी शरण में आने लगे। आपके असंख्य शिष्यों में आपके भाई प्रतापसिंह भी एक थे। आपने 'सार वचन' (नज्म, नसर) नामक दो ग्रन्थों की रचना की जिसमें सुरतशब्दयोग को सर्वश्रेष्ठ बताकर मन शुद्धि का साधन वताया है। सं० १९३५ में स्वामी-बाग में आपका देहान्त हो गया।

(२) राय सालिगराम साहब राय बहादुर 'हुजूर महाराज साहेब'—आपका जन्म सं० १८८५ में शिवभक्त राय बहादुर सिंह के घर हुआ। आप १९१५ में पोस्ट आफिस में हेड असिस्टेण्ट बने, तभी आप प्रताप सिंह से (चाचाजी) आदेश पा स्वामीजी महाराज से मिलकर प्रभावित हुए, तथा उनकी गुरुवत तन, मन, धन से अनन्य सेवा की। तदनन्तर गुरु के नाम पर ही 'राधास्वामी

बाग' लगवाया। गुरु के देहान्त के पश्चात् आपने उसी बाग में सत्संग की दृष्टि जोड़कर गुरु के सम्मुख बैठने की पद्धति चलाई और अहर्निश परिश्रम कर उपदेश देते थे। आपकी गद्य रचनाओं में 'सार उपदेश', 'निज उपदेश', 'प्रेम उपदेश', 'गुरु उपदेश', 'प्रश्नोत्तर', 'युगल प्रकाश' एवं 'प्रेमपत्र' मुख्य हैं तथा पद्य में 'प्रेमबानी' विशेष उल्लेखनीय है। आपने 'राधास्वामी मतप्रकाश' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अंग्रेजी भाषा में लिखा है। सं० १८९८ में 'प्रेमविलास' में आपका देहान्त हो गया, जहाँ कालान्तर में 'हुजूरी बाग' लगाया गया।

(३) ब्रह्मशंकर मिश्र 'महाराज साहेब' आदि सन्त—आपका जन्म काशी के रामयत्न के घर सं० १९१७ में हुआ। आप एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण कर, कुछ दिनों तक प्रोफेसर तथा एकाउण्टेण्ट-जनरल रहकर भी आध्यात्मिक साधना एवं सत्संग में निरत रहे। सं० १९३२ में 'हुजूर साहब' से दीक्षा ग्रहण कर सं० १९६४ में उत्तराधिकारी बन सत्संग कर सं० १९६४ में परमधाम सिधारे। आपकी रचनाओं में सच्चा धर्म, आध्यात्मिक उन्नति, सृष्टि विकास एवं कर्मवाद की विस्तृत विवेचना है। आपके पश्चात् आपकी बहन 'बुआजी साहिबा' गद्दी पर बैठीं। आपने 'सुरतशब्दयोग' का अभ्यास बड़े मनोयोग से किया। आपके पश्चात् प्रयाग में बाबूजी साहब (माधव प्रसाद) गद्दी पर बैठे, पर आपके पुत्र योगेन्द्र तिवारी ने काशी में गद्दी चलाई। आपकी दो पुस्तकें 'सारभेद' तथा 'शब्दबानी' प्रसिद्ध हैं। 'महाराज साहेब' के शिष्य कामताप्रसाद चतुर्थ सन्तगुरु माने गए। आपने आध्यात्मिक विकास के साथ औद्योगिक उन्नति का केन्द्र 'दयाल बाग' स्थापित किया। महाराज साहेब के एक अन्य शिष्य महर्षि शिवव्रतलाल हुए, जिन्होंने सबसे अधिक ग्रन्थ लिखे तथा अनुवादित किये। बुआजी साहिबा के पश्चात् माधवप्रसाद सिंह (बाबू जी साहब) ने आगरे में 'स्वामी-केन्द्र' चलाया, जिसकी 'दयालबाग' से प्रतिद्वन्द्विता रही। इनके अतिरिक्त कुछ उप सम्प्रदाय भी स्थापित हुए। स्वामीजी महाराज के भाई राय वृन्दावन ने 'वृन्दावनी सम्प्रदाय' स्थापित किया और राधास्वामी के स्थान पर सतगुरुराम नाम स्वीकार किया। इसी प्रकार जैमल सिंह बाबू शामलाल ने भी इसके प्रतिकूल शाखाएँ चलाईं। बाबा गरीबदास एवं अनुकूलचन्द्र चक्रवर्ती अनुकूल रहे।

सत्संग का सन्त-मत

राधास्वामी का अभिप्राय परात्पर परमात्मा से है। इस मत का मूल रहस्य सृष्टि रचना सम्बन्धी विचारों में निहित है। पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड को अनुकरण माना गया है। पिण्ड के ३ प्रदेश-पिण्ड, ब्रह्माण्ड एवं दयाल-देश माने हैं, जिसमें प्रथम भौतिक, द्वितीय में चेतन

अंश और तृतीय में शुद्ध चेतन है। इन ३ प्रदेशों के ७ उपखण्डों में उच्चतम परात्पर पद है, जिसका ज्ञान राधास्वामी दयाल के समय-समय पर नर रूपों में आनेवाले प्रतीकों की सहायता से उपलब्ध होता है, अन्यथा वह गुप्त है। समस्त विश्वरचना का मूल 'सो आमी' तथा परमपिता है तथा वहाँ से चेतनधारा रूप प्रवाहित शक्ति 'राधा' जिसका सम्मिश्रित रूप 'राधास्वामी' है। अतः सन्त सत्गुरु द्वारा बताई 'जुगति' के आश्रय से सुरत-शब्दयोग के अभ्यास द्वारा अभीष्ट सिद्धि प्राप्त हो सकती है। साधक नेत्र बन्दकर मध्यबिन्दु पर विचार केन्द्रित कर 'राधा सो आमी' का उच्चारण कर क्रमशः घण्टिका ध्वनि सुनता हुआ 'अनाहत' शब्द का गुप्त एवं अगम्य अनुभव करता है। यह सन्तमत सुमिरन, ध्यान, भजन (धारणा, ध्यान, समाधि) तीन साधनाओं का प्रयोग करता है। इस सत्संग की मुख्य साधना भक्तिप्रधान है, जिसमें शब्दरूप राधा-स्वामी एवं सन्तगुरु की उपासना होती है। गुरु उपासना एवं सेवा शब्दस्वरूप सत्त की उपासना है। भक्ति में शरणापन्न भावना भी अनिवार्य है। दीनता, प्रपत्ति तथा प्रेम तीनों ही ग्राह्य हैं। इस पन्थ के चार मुख्य अंग 'पूरागुरु' 'नाथ', 'सत्संग' एवं 'अनुराग' हैं।

राधास्वामी का सर्वप्रथम प्रयोग हुजूर महाराज साहेब, अन्तःप्रेरणा से गुरु के नाम पर ही कर दिया। इनके गुरु केवल सतनाम का ही उपदेश करते थे। इस सत्संग का विकास एवं उन्नति भी आपने ही अपनी तीव्र बुद्धि, विषय प्रतिपादन की अपूर्व शक्ति से की और संस्था को सुव्यवस्थित एवं संगठित किया। तत्पश्चात् महाराज साहेब ने केन्द्रीय सभा के संगठन एवं संचालनार्थ विधान-निर्माण किया। इसमें निवृत्तिमार्ग आवश्यक नहीं है पर उसके लिए भी व्यवस्था है। इसके नैतिक नियम वही हैं जो भौतिक जीवन से निवृत्त कर जीव को आध्यात्मिक जीवन की ओर उन्मुख करें। सन्त सतगुरु एवं चित्रादि के सम्मुख श्रद्धा प्रदर्शन प्रधान कर्त्तव्य है। इसका प्रचार भारत में सर्वत्र है। इसकी आभ्यन्तरिक कार्य-प्रणाली, प्राणायाम रहित साधना का सारल्य और सदव्यवहार तथा आध्यात्मिक जीवन में समृद्धि की योजना इसके प्रति आकर्षण के प्रमुख अंग हैं।

तृतीय परिच्छेद

सन्तों का काव्यादर्श

किसी कवि की रचनाओं का आलोचनात्मक एवं विवेचनात्मक अनुशीलन करने के पूर्व यह सर्वथा अपेक्षित है कि सर्वप्रथम उसके काव्यादर्श का अध्ययन कर लिया जाए। साहित्यकार के दृष्टिकोण, लक्ष्य के आदर्श का अध्ययन कर लेने से उसकी चिन्तन-पद्धति, विचार-शैली और जीवन-दर्शन स्वतः स्पष्ट हो जाता है। साहित्यकार एक जागरूक प्राणी होता है। उसकी चेतना, व्यापक दृष्टिकोण और दर्शन साहित्य के पृष्ठों में प्रतिबिम्बित होता है।

साहित्य (काव्य) जीवन का सुसंस्कृत एवं साध्य रूप है। साहित्य का आधार मानव-जीवन है। साहित्य जीवन की आलोचना एवं मापदण्ड है। साहित्य जन-जीवन एवं समाज का उन्नायक है। साहित्य का जनता के प्रति महान् उत्तरदायित्व है। साहित्य का प्रयोजन एवं जीवन का प्रयोजन अथवा उनके अन्तिम लक्ष्य में परस्पर नैकट्य का सम्बन्ध है। यदि साहित्य जीवन से प्रभावित भी है, तो वही साहित्य जीवन-दर्शन के लिए उपयोगी तथ्यों एवं तत्त्वों की सर्जना भी करता है।

साहित्य के प्रयोजन के विषय में आचार्यों में मतभेद है। आचार्य मम्मट के अनुसार यश, द्रव्य, व्यवहार-ज्ञान, दुःखनाशादि काव्य-रचना के मूल प्रयोजन हैं।[1] आचार्य मम्मट ने काव्य के स्वरूप में गुण, अलंकार एवं व्यंग्यार्थादि की अनिवार्यता मानी है।[2] आचार्य मम्मट ने काव्य को लौकिक एवं अलौकिक आनन्द के लिए श्रेयस्कर माना है। इससे स्पष्ट है कि लौकिक एवं अलौकिक आनन्द काव्य के लिए महत्त्वपूर्ण है। कतिपय विद्वान् आनन्द को ही काव्य का मूल प्रयोजन मानते हैं।[3] भामह के मत से काव्य धर्म, अर्थ, काम, और

---

१. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिवृत्ये कांता सम्मिततयोपदेशयुजे।
—काव्यप्रकाश, श्लोक २।

२. काव्यप्रकाश, ३–५।

३. सकल प्रयोजन मौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यांतरमानन्दं।
—सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० ४५।

मोक्ष की प्राप्ति का साधन है।[१] 'साहित्य-दर्पणकार' भामह के प्रस्तुत कथन से पूर्णतया सहमत है।[२] भरत, आनन्दवर्धन एवं अभिनव गुप्त आदि विचारक नैतिकता एवं धार्मिकता के विकास के लिए काव्य को प्रयोजनीय नहीं मानते। पाश्चात्य लेखकों में स्पिनगार्न के मत से काव्य का उद्देश्य शिक्षा एवं आनन्द देना नहीं है, वरन् उसका लक्ष्य है अभिव्यक्ति।[३] स्पिनगार्न से साम्य रखनेवाला ब्रेडले का मत है। ब्रेडले के अनुसार काव्य स्वयं अपना साध्य है, वह धर्म, संस्कृति और शिक्षा आदि का साधन नहीं है। टाल्स्टाय के अनुसार काव्य की मुख्य कसौटी नीति और धर्म है।[४] मैथ्यूआर्नल्ड का काव्यादर्श बड़ा उपयोगी और श्रेयस्कर है। वे काव्य को नैतिकता के वर्द्धन और विकास के लिए आवश्यक तत्त्व मानते हैं। मैथ्यूआर्नल्ड नैतिकता के प्रति विद्रोही एवं उदासीन काव्य को जीवन के प्रति विद्रोही एवं उदासीन मानते हैं।[५] इलियट के मत से काव्य का नैतिकता से प्रमुख सम्बन्ध है। जो काव्य नैतिकता के विकास, सम्वर्द्धन, परिपोषण में सहायक नहीं है, वह काव्य सार्थक और उपयोगी रचना नहीं है। टी० एस० इलियट के अनुसार कविता का नैतिकता, धर्म-भावना और सम्भवतः राजनीति से भी कुछ सम्बन्ध अवश्य है, यद्यपि हमें नहीं ज्ञात

---

१. धर्मार्थ काममोक्षेपु वैचक्षण्यकलासु च।
प्रीति करोति कीर्तिञ्च साधुकाव्य निषेवणम्॥
—सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० ४५।

२. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० ४५।

३. We have done with all moral judgement of art....Some said that poetry was meant to instruct. Some merely to please, some to do both. Romantic criticism first enunciated the principle that a art has no aim except expression; that its aim is complete when expression is complete; that beauty is its own excuse for being.

४. In every age and in every human society there exists a religious sense of what is good and what is bad common to that whole society, and it is this religious conception that decides the values of the feelings transmitted by art.
—What is Art (Oxford) 128-129.

५. A poetry of revolt against morals, is a poetry of revolt against life: a poetry of indifference towards moral ideas is a poetry of indifference towards life.

कि वह सम्बन्ध क्या है।[1] आई० ए० रिचर्डस् का मत अंशतः मम्मट से मिलता है। उसके अनुसार कवि अपनी कविता स्वान्तःसुखाय या उपदेश देने के लिए करते हैं, अथवा दोनों दृष्टिकोणों से भी।[2] काव्य रचना का मूलाधार 'स्वान्तः-सुखाय' है। प्रत्येक रचना के मूल में कवि की अपनी अनुभूति विचार और भावनाएँ व्यक्त रहती हैं। इनको अभिव्यक्ति देकर कवि के हृदय का भार कम होता है और वह एक दिव्य आनन्द का अनुभव करता है। काव्य की रचना मूलतः स्वान्तःसुखाय ही होती है। वैसे उसे जन-समाज के कल्याण की भावना भी अपेक्षित होती है। पाश्चात्य विचारक प्लेटो, आरिस्टॉटिल, होरिस, दाँते, मिल्टन, एवं शैले भारतीय विचारक भरत, आनन्द वर्धन एवं अभिनव गुप्त के अधिक निकट हैं। इस प्रकार उपर्युक्त विद्वानों के मतों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि एक वर्ग नैतिकता आदि के लिए काव्य को प्रयोजनीय मानता है, तो द्वितीय वर्ग इसके विरुद्ध है। एक वर्ग 'स्वान्तःसुखाय' काव्य को प्रयोजनीय मानता है, दूसरा वर्ग 'बहुजन हिताय'। पर इतना तो निश्चय है कि काव्य या साहित्य हमारी अनुभूतियों को तीव्र करने के लिए अत्यधिक प्रयोजनीय है। जीवन को समुन्नत और सुसंस्कृत तथा परिष्कृत बनाने में काव्य का प्रमुख योगदान है।

भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के काव्यादर्शों एवं काव्य-प्रयोजनों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि हिन्दी के सन्त-कवियों में से किसी ने उपर्युक्त आदर्शों एवं प्रयोजनों में से एक को भी नहीं स्वीकार किया। सन्तों के काव्य से स्पष्ट है कि उन्हें लौकिक ऐश्वर्य एवं यश की लालसा नहीं थी। जिन सन्तों ने संसार एवं समाज को तुच्छ एवं सारहीन समझकर उसका परित्याग कर दिया था, उनके लिए काव्य द्वारा व्यवहार की शिक्षा महत्त्वहीन थी। सन्तों ने रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह और क्रान्ति की। अतः शिव-अशिव, मांगलिक-अमांगलिक भावना से काव्य-रचना करना उनके लिए निःसार थी। सन्तों का काव्य इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने काव्य का कोई प्रचलित आदर्श नहीं ग्रहण किया। काव्य,

---

१. ....Poetry as certainly has something to do with morals and with religion, and even with politics perhaps, though we cannot say what.

—The Scared Wood, 1928 Edn.

२. The poets either wish to instruct or to delight or to combine the both.

—Principles of Literary Criticism.

काव्य-शास्त्र, छन्द, पिंगल आदि के नियमों का न उन्होंने अध्ययन किया था, न इन सब के प्रति कोई आस्था थी। इसके विरुद्ध उन्होंने काव्य और काव्य-शास्त्र के अन्य आवश्यक तत्त्वों की निन्दा एवं आलोचना की। परन्तु काव्य-शास्त्र के नियमों से अनभिज्ञ भी काव्य रचना कर सकता है, यह बात सन्तों ने प्रमाणित कर दी। सन्तों ने काव्य रचना करके यह स्पष्ट कर दिया कि काव्य के लिए तीव्र अनुभूति और चिन्तन की गहनता अपेक्षित है, न कि छन्द, अलंकार, शब्द-शक्ति और अन्य काव्यगुण। सन्तों ने यह सिद्ध कर दिया कि भाव ही काव्य की आत्मा है और जब काव्य की आत्मा दृढ़ और उच्च है, तब फिर बाह्यावरण और अन्य उपकरण तो स्वतः जुट जाएँगे। सन्तों ने कविता की रचना सचेष्ट होकर नहीं की, न उन्होंने काव्य-शास्त्र का अध्ययन ही किया था। फिर भी उन्होंने कविता लिखी इसलिए वह उपेक्षणीय साहित्य नहीं है। ध्यानपूर्वक सन्त-साहित्य का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है, कि सन्तों के साहित्य में उनके काव्यादर्शों की अभिव्यक्ति हुई है। सन्तों ने काव्य को कला की दृष्टि से नहीं देखा, न उन्होंने काव्य एवं कवि को समाज का सम्मान्य व्यक्ति ही माना है। पर उन्होंने काव्य को स्वभावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया, इसलिए उनका काव्य अध्ययनीय है। इन कवियों की रचनाओं में उनके काव्य विषयक आदश निहित मिलते हैं।

देश की राजनैतिक एवं ऐतिहासिक परिस्थितियों के फलस्वरूप देश का साहित्य प्रत्येक युग में नवीन रूप ग्रहण करता गया। सिद्ध-काव्य से लेकर सन्त-काव्य तक हिन्दी-साहित्य की धारा अनेक बार एक नवीन दिशा की ओर प्रवाहित हुई। फलतः धारा के प्रत्येक नवीन .परिवर्तन पर काव्यादर्शों में परिवर्तन परिलक्षित होता है। हिन्दी-कविता के आदि काल से सन्त-काव्य तक कविता में दो विशेष प्रवृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं। प्रथम प्रवृत्ति है धार्मिकता और द्वितीय चारण प्रवृत्ति है। अतः इस सम्पूर्ण काव्य का आदर्श धार्मिकता तथा वीरों एवं सामन्तों की प्रशंसा और उसका कला विषयक आदर्श संस्कृत काव्य तथा संस्कृत काव्य-शास्त्र है।

सिद्ध-युग सन् ७६०-१३०० ई० तक माना जाता है। इतिहासकारों ने इसे हिन्दी-काव्य का आदि-युग माना है। सिद्धों के काव्य को देखने से प्रकट होता है, कि उनकी दृष्टि में काव्य-शास्त्र विषयक कोई स्पष्ट विचार नहीं था। इन कवियों ने स्वविचार अभिव्यक्ति एवं अपने सिद्धान्तों को जनता तक पहुँचाने के हेतु काव्य का आश्रय ग्रहण किया। सरल भाषा में रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति, योग क्रियाओं का वर्णन एवं बाह्याडम्बरों की आलोचना करके धर्म के

सहज स्वरूप की अभिव्यक्ति ही इन सिद्धों का उद्देश्य था। सामान्यतया इस युग के अधिकांश कवि संस्कृत कवियों के काव्य एवं काव्य-शास्त्र के आदर्श का परिपालन करते हैं। इनमें से कुछ कवियों ने रामायण, महाभारतादि को भी आदर्श माना है। स्वयम्भू ने इसी आदर्श से प्रेरित होकर 'रामायण' और 'हरिवंशपुराण' की रचना की और पुष्पदन्त ने 'महापुराण', 'जसहर चरिउ', 'णायकुमार चारिउ' आदि। 'रामायण' की रचना प्रारम्भ करने के पूर्व स्वयम्भू ने तुलसीदास की भाँति आत्महीनत्व, काव्य-कला, व्याकरण, पिंगल अलंकार, छन्दादि से अनभिज्ञता प्रकट की है। कवि के शब्दों में 'स्वयम्भू बुद्धिमानों से नम्र निवेदन करता है कि मेरे सदृश अन्य सुकवि नहीं है। मुझे व्याकरण का ज्ञान नहीं है, न वृत्तिसूत्र वर्णन की शक्ति ही रखता हूँ, न पाँच महाकाव्य सुने हैं, न भरत के शास्त्र से परिचित हूँ, न छन्दों के लक्षणों का ज्ञाता हूँ, न पिंगल का विस्तार ज्ञात है, न भामह एवं दण्डी लिखित अलंकार से ही परिचित हूँ।'[१] अपने को काव्य के समस्त गुणों से विहीन उद्घोषित करते हुए स्वयम्भू को अलंकार, छन्द, समास आदि का भला ज्ञान था। उन्होंने काव्य की धारा के दोनों कूलों पर लोक भाषा को उज्ज्वल तट माना है। इससे स्पष्ट है कि स्वयम्भू लोक-भाषा को काव्य के लिए विशेष उपयोगी मानते थे। इस दृष्टि से कवि का भाषा विषयक यह काव्यादर्श महत्त्वपूर्ण है :—

अक्खर-वास-जलोह-मणोहर। सुयल कार-छन्द-मच्छोहर॥
दहि - समास - पवाहा - वंकिय। सक्कय-पुलिणां-लंकिय॥
देसी-भासा-उभय-तडुज्जल। कवि दुक्कर-घण-सद्द-सिलायल॥
अत्थ-बहल-कल्लोला णिट्ठिय। आसा-सय सम-ऊह-परिट्ठय।
राम-कहा सरि एंह सोंहती। .... ॥

—हिन्दी-काव्य-धारा, पृ० २६।

अर्थात् अक्षर जिस में मनोहर जोंक है, सुन्दर अलंकार, छन्द मछलियाँ हैं; दीर्घ समास बंकिम जल-प्रवाह है। संस्कृत-प्राकृत के पुलिन बने हुए हैं; देशी भाषा के दो उज्ज्वल तट हैं; कवियों के हेतु दुष्कर घने शब्दों का शिलातल

---

१. बुहु-यण सयंभु पइं विण्णवइ। मइ सरिसउ अण्ण णाहि कुकइ।
वायरणु कयाइ ण जाणियउ। णउ वित्ति-सुत वक्खाणियउ॥
णा णिसुणिउ पंच महाय कव्वु। णउ मरहु णलक्खणु छंदु सव्वु।
णउ बुज्झिउ पिंगल पच्छारु। णउ भामह दण्डियु, लंकारु॥
—हिन्दी-काव्यधारा—राहुल सांकृत्यायन, पृ० २२।

है। अनेक अर्थोंवाली कल्लोलें हैं; सैकड़ों आशाओं के समान तरंगें उठती हैं; राम-कथा की सरिता इस प्रकार शोभित है।

उपर्युक्त उद्धरण इस बात के पोषक हैं कि स्वयम्भू संस्कृत महाकाव्यों के काव्यादर्श के पालक थे। हाँ, लोक-भाषा को इतना महत्त्व प्रदान करना कवि की मौलिकता एवं नवीनता थी। स्वयंभू के अनुसार सुकवि वही है जो अपनी भाषा में काव्य रचना करे :—

कइ अत्थि अणेअ-भेअ भरिया।
जे सुयण सहासहिं आयरिया॥

—हिन्दी-काव्य-धारा, पृ० २४।

सिद्ध और जैन कवियों में अनेक ऐसे हुए हैं, जिन्होंने पण्डित, अक्षर ज्ञान, ग्रन्थ-रचनादि की बड़ी निन्दा की है। इन कवियों के समक्ष ग्रन्थ-रचना मूढ़ता है। कारण कि जिस ग्रन्थ-रचना से परम तत्त्व के दर्शन न हों, उस रचना का अस्तित्व सारहीन है। सरहपा[1], देवसेन[2], योगीन्दु[3], आदि इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। रामसिंह ने ग्रन्थ की रचना करनेवाले पण्डित की बड़ी तीव्र आलोचना की है।

पंडिय पंडिय पंडिया कण छंडिवितुस कंडिया।
अत्थे गंथे तुट्ठोसि, परमत्थु ण जाणहि मूढ़ासि॥[4]

सिद्ध-युगीन कवियों में पुष्पदन्त, अब्दुर्रहमान, बब्बर, अज्ञात कवि आदि ने जनता की दशा, गरीबी, अकाल आदि का भी वर्णन किया है। इससे ज्ञात होता है कि इन कवियों ने काव्य को जीवन के लिए प्रयोजनीय माना था। इतना ही नहीं, इन कवियों में यह भावना भी जाग्रत थी कि कविता जन-जीवन का चित्र है। इस प्रकार सहज सरल शैली में आडम्बर रहित ढंग से स्वभावनाओं की देशी भाषा में अभिव्यक्ति ही सिद्ध-जैन कवियों का काव्यादर्श था।

इन सिद्ध-कवियों के पश्चात् नाथ-कवियों का काव्य विचारणीय है। गोरखनाथ नाथ-सम्प्रदाय के प्रतिनिधि कवि हैं। गोरखनाथ के अनुसार वेद, किताब, कविता, साखी और बानी तत्वज्ञान प्राप्त करने में सहायक नहीं, वरन्

---

१. हिन्दी-काव्य-धारा, पृ० ४।
२. वही, पृ० १४३।
३. वही, पृ० १७४।
४. वही, पृ० २४८।

बाधक हैं। परब्रह्म का ठीक निर्वाचन करने में ये किसी प्रकार सहायक नहीं हैं। ये समस्त उसे आच्छादन के नीचे ले आए हैं। इनके द्वारा वह सत्य रूप अस्पष्ट हो जाता है।[१] इसी प्रकार अनेक स्थलों पर कविने बानी, साखी के लेखक, ग्रन्थों के रचयिता को सम्मानित व्यक्ति नहीं माना है। कवि के अनुसार ये स्वतः भ्रम में पड़े हुए जीव हैं और भ्रम के प्रचारक हैं। इससे स्पष्ट है कि 'नाथ सम्प्रदाय के योगियों' ने काव्य को उच्च कला नहीं माना है। काव्य का उनकी दृष्टि में कोई महत्त्व भी नहीं था। इन कवियों ने भाषा के विषय में भी कुछ नहीं कहा है। पर इनकी कविता तत्कालीन जनता के हेतु अत्यधिक सरल भाषा में व्यक्त हुई है। नाथ-कवियों की रचना का आदर्श रहस्यवाद, लौकिक तत्वों की तीव्र आलोचना एवं पारलौकिक तत्व की भक्ति का चित्रण करना था। इनमें शब्दों के प्रयोग की कला एवं कौशल तथा माधुर्य निम्न-कोटि का है।

शब्दों के प्रयोग की कला एवं कौशल तथा उच्च कोटि का माधुर्य तो विद्यापति की कविता में उपलब्ध होता है। विद्यापति की काव्य-रचना का आदर्श प्रेम एवं श्रृंगार है। विद्यापति ने एक सजग कवि की भाँति अपने काव्य की रचना की। स्वयम्भू की भाँति उन्होंने आत्म-लाघव नहीं प्रदर्शित किया। उन्होंने अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए काव्य लिखा। एक पद की रचना करते हुए विद्यापति ने लिखा है कि :—

सकल पाप कला परिच्युति,
सुकवि विद्यापतिकृत स्तुति,
तोषिते शिवसिंह भूपति,
—कामना फलदे।[२]

इससे स्पष्ट होता है कि विद्यापति काव्य को कल्याण देनेवाला तत्त्व भी मानते थे। शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से विद्यापति ने अपनी पदावली की रचना की। वे काव्य को ईश्वरदत्त प्रतिभा मानते थे। विद्यापति के मत से काव्य का चरम उद्देश्य नागरों, रसिक या श्रीमानों का मनोरंजन है।[३] विद्यापति ने काव्य के हेतु लोक-

१. वेद कतेब न षाणीं बांणी। सब ढंकी तलि-आणी॥
गगन सिषर महि सबद प्रकास्या। तहँ बूझै अलष बिनाणीं।
—गोरखबानी पृ० २-४।

२. विद्यापति-पदावली-पद, १३०।

३. बाल चन्द विज्जावइ भाषा। दुहुँ नहि लागइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हर सिर सोहई। ई निच्चय नायर मन मोहई॥
—कीर्तिलता, प्रथम पल्लव।

भाषा को सर्वाधिक उपयुक्त माना है। लोकभाषा में अद्वितीय माधुर्य और मोहकता होती है, इसीलिए विद्यापति ने 'देसिल बअना' को काव्य का माध्यम बनाया है :—

सक्कय वांणी बुहयन भावई पाउंअ रस को मम्म न पावई।
देसिल बअना सब जन मिट्ठा तें तैंस न जम्पाओ अवहट्ठा॥
—कीर्तिलता, प्रथम पल्लव।

अर्थात् संकृत केवल विद्वानों की प्रिय भाषा है, प्राकृत भाषा में रस का मर्म नहीं उपलब्ध होता है, (पर देशी भाषा सभी को सहज प्रिय प्रतीत होती है अतः मैं) अवहट्ठा में स्वकाव्य की रचना करता हूँ। उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि कवि का काव्य विषयक आदर्श लोकभाषा है और वह उसे श्रीमानों के मनोरंजन करने का साधन मानता है। अतः चमत्कार उसका अभिन्न तत्त्व है।

विद्यापति जहाँ एक ओर काव्य को ईश्वरदत्त प्रतिभा और एक विशेष कला मानते हैं, उसके विपरीत निर्गुण-धारा के प्रवर्तक सन्त कबीर कविता को निःसार वस्तु मानते हैं। कबीर ने कवि और कविता के विषय में कुछ अधिक नहीं कहा पर उनके काव्य में उपलब्ध दो-तीन साखियाँ प्रमाणित करती हैं, कि कबीर की दृष्टि में कवि सम्मान्य व्यक्ति नहीं था। कारण कि वह तत्त्व को त्याग-कर सारहीन पदार्थों में रमा रहता है। कबीर कवि को मृत समझते थे :—

'कवि कवीने कविता मुये'।

कबीर ग्रन्थ-रचना और काव्य-लेखन को व्यर्थ परिश्रम समझते थे। कारण कि इसके द्वारा कभी कोई परमतत्त्व को प्राप्त करनेवाला पण्डित न बन सका।[१] कबीर प्राकृत विषयों पर काव्य रचना के लिए लेखनी उठाने के बहुत विरुद्ध थे। वे कविता को जग जंजाल के गुण-गान का माध्यम बनाने के विरोधी थे। उनकी दृष्टि में वही वास्तविक कवि है जो ब्रह्म के साक्षात्कार का गायन अथवा रचना करे। कवि के शब्दों में ही :—

जग भव का गावना का गावै।
अनुभव गावै सो अनुरागी है॥

कबीर के काव्यादर्श की दृष्टि से निम्नलिखित पंक्तियाँ पठनीय होंगी :—

प्रेमभगति ऐसी कीजिए, मुखि अमृंत बरिखै चंद।
आपहि आप विचारियै, तब केता होइ अनन्द रे॥

१. "पढ़ि पढ़ि पोथी जग मुआ पंडित भया न कोइ।"

तुम्ह जिनि जानौ गीत है, यह निज ब्रह्म विचार।
केवल कहि समझाइया, आतम साधक सार रे ॥[१]

इनमें से तृतीय पंक्ति विशेष ध्यान देने योग्य है। कबीर स्पष्टतया कहते हैं कि "'केवल' ब्रह्म की भावना को व्यक्त करने के लिए मैंने इन पंक्तियों की रचना की है। यह कविता नहीं है वरन् आत्म-साधना का सार है।"

भाषा के विषय में भी कवि का अपना आदर्श है। कबीर काव्य की अभिव्यक्ति के लिए संस्कृत गर्भित भाषा की तुलना में लोकभाषा, या दैनिक जीवन में बोल-चाल की भाषा को अधिक उपयोगी समझते थे। संस्कृत एक सीमित समूह की भाषा है, अतः उससे केवल कतिपय व्यक्ति लाभ उठा सकते हैं। परन्तु देशी-भाषा जनता की भाषा है, अतः वह सभी के लिए सुगम एवं सरल सिद्ध हो सकती है। कबीर संस्कृत को कूप जल के समान सीमित मानते थे और भाषा (जन साधारण की बोली) को वे सरिता के स्वच्छ एवं स्वस्थ जल के समान सर्व उपयोगी मानते थे :—

संसकीरत है कूपजल भासा बहता नीर।

अतः स्पष्ट है कि कबीर स्वाभाविक सरल भाषा को ही काव्य-रचना का उपयुक्त माध्यम मानते थे। कबीर साहित्य और कला को जनता से दूर की वस्तु नहीं मानते थे। भाषा-आदर्श यह सिद्ध करता है कि कबीर कला को जन-जीवन से कभी भी भिन्न नहीं मानते हैं। काव्य और कला जनता के नैतिक स्तर और जीवन की धारा को व्यवस्थित करने का एक अमूल्य साधन है। जो भाषा या काव्य जनता की पहुँच से दूर है, उसे वे संसार के हेतु उपयोगी नहीं मानते हैं।

सन्त-कवि नानक सब्दी और साखी रचना को ब्रह्म के प्रति वास्तविक प्रीति स्थापित करने में बाधक मानते हैं। उनके मत से शब्दों और साखियों में अभिव्यक्त प्रेम वास्तविक नहीं है, वह केवल बाह्य दिखावा है। छन्दों में हृदय के सच्चे भावों की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। इसीलिए इनका रचयिता निश्चय ही यमपुर में दुःख का भागी बनता है। शब्दों व साखियों की रचना में प्रवृत्त मानव व्यर्थ ही अपना समय (हरि नाम स्मरण के बिना) नष्ट करता रहता है।

शब्दन साखी सची नहीं प्रीति।
जमपुर जाहिं दुखाँ की रीति ॥

—प्राण-संगली, पृ० २४।

१. कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ८९।

इसी प्रकार नानक ने पुस्तक ज्ञान, वेद, कतेब आदि की निन्दा अनेक साखियों में की है[१]। इससे स्पष्ट है कि कवि की दृष्टि में काव्य रचनादि का महत्त्व नहीं है। सम्भवतः नानक के समकालीन अथवा पूर्ववर्ती कवि काव्य को ख्याति, यश, नाम आदि प्राप्त करने का साधन मानते थे और भाँति-भाँति के भावों की अभिव्यक्ति करके महत्त्व प्राप्त करने में सफलीभूत हो रहे थे। इसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप कवि ने शब्द-साखी के रचयिता कवि की अन्तिम दुर्दशा का चित्र "जमपुर जाहिं दुखाँ की रीति" में अंकित किया है।

सन्त-कवि मलूकदास का काव्यादर्श कबीर और नानक की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। कवि के अनुसार भाषा और छन्द के साँचे में साखियों को ढालना न तो वास्तविक कवित्व शक्ति का परिचायक है, न दृढ़ एवं सत्य प्रेम का ही स्थापक है। फिर ऐसे निष्प्रयोजन काव्य से क्या लाभ है। जो काव्य न हृदय की सच्ची अनुभूति ही माना जा सकता है, न कला की दृष्टि से उच्च, उससे किसका कल्याण हो सकता है।[२] मलूकदास प्राकृत विषयों पर काव्य-रचना को हेय समझते हैं। कवि के मतानुसार यदि काव्य-रचना करना ही है तो उस ब्रह्म की प्रशंसा एवं गुणगान में करना चाहिए जिसके आधार पर संसार में अस्तित्व है:—

अदम कवित्त का जिसकी कबिताई करूँ,
याद करूँ उसको जिन पैदा मुझे किया है।
गर्भ बास पाला आतस में नहिं जाला,
तिसको मैं बिसारूँ तो मैं किसकी आस जिया हूँ ॥[३]

मलूकदास की दृष्टि में वही रचना कविता है जिसमें ब्रह्म का गुणगान हो। अतः लेखक का काव्यादर्श ब्रह्म का गुणगान मात्र है।

सन्त-कवि जगजीवन साहब ने अपनी रचनाओं में वेद, पुराण, ग्रन्थ आदि की कटु निन्दा की है। उनके अनुसार बिना भजन, बिना भक्ति सब निःसार

१. वेद कतेब तिनि मोहिआ से फूफ सुणावहि लोइ।
नरक सुर्ग पत्थर दिसै चिहु गुण सहसा होइ।
पूछहुँ वेद पढंतिआँ विणु नावै मुठी रोई॥
—प्राण-संगली, पृ० २१७।

२. भासा छन्द जुटाय बैठे साखि बनाय।
सन्तो यह तो प्रेम नीसान न आय॥
—शब्द संग्रह।

३. मलूकदास की बानी, पृ० ३१।

है चाहे काव्य-रचना हो या ग्रन्थ-रचना। अनेक पुराणों का पारायण करता हुआ, अहर्निश "कविताई" करता हुआ, मानव, बिना ब्रह्म के ज्ञान के निःसार है। तत्व के अभाव में कवि व्यर्थ ही तत्व-रहित पदार्थों में फँसे रहते हैं :—

पढ़ै पुराण ग्रन्थ रात दिन करै कविताई सोई।
ज्ञान कथै शब्द कहै कछु तबहू भक्ति न होई॥

—शब्द संग्रह, पृ० ७५।

तुक जुटाकर काव्य की रचना कर लेना कठिन कार्य नहीं है। परिश्रम एवं लगन समस्त कठिनाइयों का हल है। परन्तु जिस शब्द रचना से प्रेरित होकर साधक निशि दिन ब्रह्म की आराधना में प्रवृत्त हो जाय वही काव्य सार्थक काव्य है, और उसी कवि का प्रयास सफलीभूत कहा जा सकता है।[1] ज्ञान उस दिव्य शक्ति की कृपा बिना नहीं प्राप्त हो सकता है चाहे कविताई करने में मानव तन-मन को ही क्यों न नष्ट कर डाले।[2] जिन व्यक्तियों के हृदय में सत्य नाम के प्रति प्रेम नहीं है वे भाँति-भाँति से वाह्याडम्बरों के द्वारा उस अभाव की पूर्ति करते हैं। ब्रह्म से सहज प्रीति स्थापित करते ही भेष आदि का भ्रम विनष्ट हो जाता है और भक्ति अपने शुद्ध रूप में निखर आती है। जगजीवन साहब के अनुसार जिस प्रकार भेष के वाह्याडम्बर माला, तिलकादि हैं, उसी प्रकार वाणी के वाह्याडम्बर हैं शब्द, साखी एवं कविता आदि। वस्तुतः ये निःसार पदार्थ हैं। इनका परित्याग करके ही शुद्ध, सहज भक्ति के द्वारा ब्रह्म की आराधना सम्भव है :—

साधो भेष बाँधि गकिलाने।
रहे भेष भेद तब छूटहि सहज रीति मन जाने।
जबते माला कंठी पहिरी गर्व भयो इतराने।
साखी शब्द वहुत सिखि लीन्हिनि वाद विवादहि ठाने।

—शब्दसागर, पृ० १६३।

कवि कविता को विवाद एवं वाह्य प्रदर्शन का एक साधन मानता है, जो कभी भी साधना में सहायक नहीं हो सकती है :—

---

१. राति दिन छिन नाहि दूरै भक्त सोई अहै।
जगजिवनदास सन्त कोई कोई शब्द को गति कहै॥

—श० सा०, पृ० ६९।

२. सुनु विनु कृपा भक्ति नहिं होई।
ज्ञान कथि कवि पढ़ै पण्डित डारति न मन खोई।

—श० सा०, पृ० ७८।

कलि महँ कठिन विवादी भाई
कानि सन्त्र की मानत नाहीं मन आवै तस गाई।
बहु विद्या पढ़ि शब्द साखी जहा तहा गोहराई।
दाम काम रस वसनि सुवासर रचि बहु भेष बनाई।।
करके स्वांग पुजावहिं सवते नहीं विवेक करि जाई।
विज्ञानी ज्ञानी कविता में नाम दीन्ह बिसराई।।

—शब्द सागर, पृ० १६३।

उपर्युक्त उद्धरणों से जगजीवनदास का काव्यादर्श परिलक्षित होता है। कविता को जगजीवनदास साधना के लिए बाधक एवं वाह्याडम्बर मानते हैं। इन वाह्याडम्बरों से आच्छादित होने के कारण हम साधना का वास्तविक स्वरूप पहचानने में असमर्थ हो जाते हैं।

सन्त-कवि शिवनारायण साहब का काव्य आदर्श ब्रह्म के गुणों की अभिव्यक्ति है। ब्रह्म की स्तुति से पूर्ण भाषा ही कवि के मत से कविता है :—

कविता अस्तुति पूरन भाखा।
शिवनारायण चित-से राखा।

—गुरु-अन्यास, पृ० १९।

शिवनारायण साहब ने उसी साबदी और कविता को कल्याणकारी माना है जिसमें सन्तों द्वारा ब्रह्म का गान हुआ हो :—

सन्त सबद सुनि भौ अनुरागा।
विनु गुरु भक्ति मुक्ति किमि लागा॥

—गुरु-अन्यास, पृ० ९।

'मलूकदासी-सम्प्रदाय' के प्रख्यात कवि-सन्त दुःखहरनदास ने अपनी काव्य-रचना का कारण निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त किया है :—

मोहिं जस ग्यान रहा हिय माँही।
कहेउ सभै कीछु छाड़ेयु नाही॥
एक एक अच्छर खोजि बनावा।
मुरुखन दुख पण्डितन सुख पावा॥

—पुहुपावती, पृ० ५।

प्रस्तुत उद्धरण से स्पष्ट है कि पण्डितों को सुख देने के हेतु उन्हें ज्ञान से अभिज्ञ कराने के हेतु कवि ने अपने काव्य की रचना की। हृदयस्थ ज्ञान की

अभिव्यक्ति के हेतु कवि ने स्वकाव्य की रचना की है। यही कवि का काव्यादर्श है। कवि ने उन्हीं शब्दों (काव्य) को अमर माना है जो उस अमर तत्त्व का गुणगान करें। इससे विपरीत शब्द और काव्य अस्थायी और सन्तों के लिए अनुपयोगी होते हैं :—

अमर सो जाकर जग साखा।
कै कुछु अमर शब्द जो भाषा॥
तेहिते शब्द कहे अब लीन्हा।
भकुराही जाय जगत मह चीन्हा॥

—पुहुपावती पृ० ५

पलटू साहब साखी, सबदी और काव्य को 'परपंच' मानते हैं, चाहे वह काव्य-भक्ति की धारा से परिप्लावित ही क्यों न हो। जब हृदय में शुद्ध भक्ति है तो फिर अन्य वाह्य साधना का क्या महत्त्व है। पलटू कविता रचना को किसी प्रकार भी साधना में उपयोगी एवं सहायक नहीं मानते हैं :—

एक भक्ति मैं जानौं और झूठ सब बात।
और झूठ सब बात कौ हठजोग अनारी।
ब्रह्म दोष वो लेय काया को राखै जारी॥
प्रान करै आयाम कोई फिर मुद्रा साधे।
धोती नेती कौ कोई लै स्वासा बाधै॥
उनमुनि लम्बे ध्यान करै चौरासी आसन।
कोई साखी सबद कोई तप कुस कै डासन॥
पलटू सब परपंच है करै सो फिर पछितात।
एक भक्ति मैं जानौ और झूठ सब बात॥

—पलटू साहिब की बानी, पृ० २६।

कोइ जोग जगत की साधन में, कोई वैराग लै ढूढत है।
कोइ सबद साखी बनाय कहै, जोरि जारि बैठि कै गूँथत है॥
कोइ वेद पुरान सिद्धांत पढ़ै, कोई बैठिके निर्गुन गूनत है।
पलटू फकीर की राह जुदी, इन बातों के ऊपर रत है॥

वही, पृ० २६।

उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि पलटू कविता को प्रपंच मानते हैं। कविता-लेखन में मनुष्य का चित्त और शक्ति ब्रह्माराधना से विलग रहता है। निश्चय ही साधना में बाधक। इस प्रकार की कविता सन्तों में समादृत नहीं हो सकती

है। पलटू साहब कागज, कलम और मसि के माध्यम से लिखित कविता अथवा रचना के समर्थक नहीं हैं। पलटू साहब उसी व्यक्ति को पण्डित या कवि मानने को प्रस्तुत हैं जो लेखन के लिए अनिवार्य समस्त पदार्थों के अभाव में भी लिखने में समर्थ हो सके। जब निःअक्षर समस्त अक्षरों में रहा है, तब फिर हाथ में लेखनी ग्रहण करने से कोई लाभ नहीं है।[1]

रैदास की दृष्टि में कवि, कुलीन और पण्डितादि में अहम्मन्यता का उदय होने लगता है। अतः ये सभी त्याज्य हैं। ये मति भ्रष्ट और संशय से ग्रस्त रहते हैं। वास्तविक ज्ञान के अभाव में सत्य तत्व से अपरिचित ही रह जाते हैं। रैदास का काव्यादर्श आत्मा के सद्स्वरूप का दर्शन करना है। कवि जब स्वतः विकारों से ग्रस्त है, तब वह दूसरों को प्रकाश क्या प्रदर्शित कर सकेगा।[2] कवि के शब्दों में हरि कथा की अभिव्यक्ति के अभाव में यह पाण्डित्य और बानी (कविता) व्यर्थ हैं:—

थाथा पण्डित थाथी बानी।
थाथी हरि बिनु सभै कहानी॥[3]

सन्त-कवि बुल्ला साहब की दृष्टि में न तो कवि का कोई विशिष्ट स्थान है, न बहुत ज्ञान से पूर्ण कविता ही आदर की वस्तु है। ज्ञान के प्रदर्शनमात्र से कोई बड़ा अथवा महत्त्वपूर्ण कवि नहीं बन जाता है। महत्ता वास्तविक रूप में

---

१. बिनु कागद बिनु अच्छरै बिनु मसि से लिखि देय॥
बिनु मसि से लिखि देय सोई पण्डित कहवावै।
बिनु रसना कहै वेद अकथ की कथा सुनावै॥
निःअच्छर अब मिला अच्छर को क्या ले करना।
हीरा लागा हाथ पोत की कौन सरहना॥
पलटू पण्डित सोई है कलम हाथ नहिं लेय।
बिनु कागद बिनु अच्छरै बिनु मसि से लिखि देय॥
—पलटू साहब की बानी, पृ० ७९।

२. राम बिन संशय गाँठि न छूटै।
काम किरोध लोभ मद माया इन पंचन मिलि लूटै॥
हम बड़ कवि कुलीन हम पण्डित हम जोगी संन्यासी।
ज्ञान गुनी सूर हम दाता याहु कहै मति नासी॥
पढ़े गुने कछु समुझि न परई जौ लौं भाव न दरसै।
लोहा हिरन होइ धौं कैसे जो पारस नहिं परसै॥
—रैदास की बानी, पृ० ८।

३. वही, पृ० २६।

विश्वास और अनुभव के कारण है। जिसके हृदय में विश्वास का अंकुर नहीं और जिसने ब्रह्म का दर्शन नहीं किया, उसका अनुभव नहीं प्राप्त किया उसके लिए काव्य-रचना अथवा न लिखना सभी एक ही सदृश है। काव्य तो बाह्य पदार्थ है, आभ्यन्तरिक सौन्दर्य एवं समृद्धि आदि शक्ति का अनुभव है—

का भयो शब्द के कहे बहुत करि ज्ञान दे।
मन परतील नहीं तो कहा जम जान दे।
बुल्ला साहब की बानी, पृ० २५।

इसी प्रकार धनी धर्मदास,[१] दरिया साहब (मारवाड़वाले)[२], गुलाल साहब[३], सहजोबाई[४] आदि सन्तों ने वेद, कतेब, और पुस्तक-ज्ञान तथा काव्य आदि की निन्दा की है। इन सभी सन्तों ने कहा कि कवि व्यर्थ ही असार कार्यों में संलग्न रहता है। तत्त्व की बात है, ब्रह्म का ध्यान करना, सो वह भूलता जा रहा है। तत्त्व को त्यागकर तत्त्वरहित पदार्थों में रमना वैसे ही है जैसे हीरा छोड़कर पोत के लिए हाथ बढ़ाना।[५] इसीलिए समय और शक्ति का ह्रास न करके, हर समय उसी ब्रह्म के ध्यान में व्यतीत करना चाहिए।

सुन्दरदास सभी सन्तों में सर्वाधिक शिक्षित और भाषा-विज्ञ थे। उन्हें छन्द, पिंगल, अलंकारादि का भला ज्ञान था, इसका समर्थन उनके काव्य से प्रकट होता है। सुन्दरदास को छन्द-भंग और काव्य के गुण दोषादि का भी ज्ञान था, जैसा कि उनके काव्य से ज्ञात होता है। कवि के ही शब्दों से उसका काव्यादर्श निम्नलिखित है :—

नख शिख शुद्ध कवित्त पढ़त अति नीको लग्गै।
अंग हीन जो पढ़ै सुनत कविजन उठि भग्गै॥
अक्षर घटि बढ़ि होई पुडावत नर ज्यौं चल्लै।
मात घटै बढ़ि कोइ मनौ मतवारौ हल्लै॥
औढेर काँण सो तुक अमिल अर्थहीन अंधों यथा।
कहि सुन्दर हरिजस जोव है हरिजस बिन मृत कहि यथा॥

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि कवि काव्य में शुद्ध कवित्त, मोहकता, सरसता, तुकान्तता आदि आवश्यक समझता है। कवि की दृष्टि में काव्य में

१. धर्मदास की शब्दावली, पृ० ८, ७९।
२. दरिया साहब मारवाड़ वाले की बानी, पृ० ७, ९, १२।
३. गुलाल साहब की बानी, पृ० ८० और १३०।
४. सहजोबाई की बानी, पृ० ६४।
५. पलटू की बानी, पृ० ७९।

अर्थ-गाम्भीर्य भी अपेक्षित है। परन्तु इन सब गुणों के होते हुए 'हरिजस' के अभाव में काव्य निःसार है। जिस प्रकार प्राणविहीन शरीर आकर्षण रहित हो जाता है उसी प्रकार 'हरिजस' के बिना काव्य फीका और नीरस प्रतीत होता है।

काव्य (पिंगल) शास्त्र में मगण, नगण, भगण, यगण, सगण, तगण, जगण, रगण आदि को विशेष महत्त्व दिया गया है। सुन्दरदास को पिंगल के इस प्रकरण का सम्यक् ज्ञान था। कवि सत्काव्य के लिए इन्हें आवश्यक मानता है। परन्तु इन विविध गणों को कवि ने आध्यात्मिक जगत् में किस कौशल से घटित किया है यह विचारणीय है।

> माधो जी है मगण यहै है भगण कहिज्जै।
> रगण राम जी होइ सगण सगलै सु लहिजै ॥
> तगण कहै तारक्क जरांत सु जगण कहावै।
> भूधर भणिये भगण नगण सुनि निगम बतावै ॥
> हरिनाम सहित जे उच्चरहि तिनकौ सुभगण अठ्ठ हैं।
> यह भेद जके जानै नहीं सुन्दर ते नर सट्ठ हैं ॥
>
> —सुन्दर-ग्रन्थावली-भाग २, पृ० ९७२।

सुन्दरदास के उपर्युक्त दोनों उद्धरण देख जाने के अनन्तर यह निश्चित हो जाता है कि कवि काव्य-शास्त्र की दृष्टि से कविता को शुद्ध एवं सरस बनाने का समर्थक है, पर साथ ही काव्य की आत्मा 'हरि यश गान" का भी उसमें समावेश अनिवार्य है। अतः सुन्दरदास का काव्यादर्श सर्व प्रथम ब्रह्म का यशोगान है, तदनन्तर काव्य-सौन्दर्य, काव्य सरसता आदि। सन्तों के काव्यादर्श को निश्चित करने के लिए सुन्दरदास के उक्त उद्धरण बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। ये उदाहरण सिद्ध करते हैं कि सन्तों का प्रतिनिधि एवं सर्वाधिक शिक्षित कवि भी काव्य की आत्मा ब्रह्म का गुणगान ही मानता है, चमत्कार और कला का प्रदर्शन नहीं, जैसा कि रीति-कालीन कवियों ने किया था।

प्रसिद्ध 'परिचयी' लेखक संत षेमदास काव्य का आदर्श लोक-कल्याण मानते हैं। वे कहते हैं :—

> बकता श्रोता पुरिष की षेमदास वलिजाय।
> कहि सुनि पातिग सब कटै दोऊ परम गति पाइ ॥[१]

संत अनन्तदास काव्य को दुष्कर्मनाश करने में सहायक मानते हैं। उनके

१. परिचयी-साहित्य—त्रिलोकी नारायण दीक्षित, पृ० ३२।

अनुसार काव्य वही है, जो दुष्कर्मों को नष्ट कर के नये संस्कारों का निर्माण कर सके :—

यह परचयी सुनै जो कोई । सहजै सब सुख पावै सोई ।
वक्ता स्रोता पावै मोषा । नासै कर्म हेत के दोषा ॥[१]

संत जनगोपाल भी काव्य को मुक्ति का साधन मानते हैं। 'दादू-जन्म-लीला-परची' की रचना का लक्ष्य स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—

संत सुनै तो अति सुख पावै,
सुध बुध आवै भक्ति उपावै ॥
सुनै असंत होय दुःख भारी,
मलिन हृदय नहि ज्ञान विकारी ॥
जो साधू निश्चय कर गावै,
मुक्ति भुक्ति परमारथ पावै ॥
साधू सबै राम की देही ।
ताको नाहीं और सनेही ॥[२]

सन्त बोधदास का काव्यादर्श निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त हुआ है :—

पढ़हि सुनिहि जो कोइ, सन्त प्रचई गरन्थ यह ।
भला ताहिं का होइ, कठिन करम कटि जाहि सव ॥[३]

सारांश यह है कि सभी सन्तों का काव्यादर्श ब्रह्म का गुण गान, (वाह्याचारों की आलोचना) सहज भाषा, सरल शैली अलंकारादि विहीन जनता में प्रचलित अति साधारण छन्द हैं। इन कवियों ने काव्य के महत्त्व को वहीं तक स्वीकार किया है, जहाँ तक वह ब्रह्म के स्मरण में सहायक हो सके, अन्यथा उसकी कोई उपयोगिता नहीं है । सन्तों ने आध्यात्मिक जीवन को उन्नति एवं विकास के लिए काव्य के महत्त्व को स्वीकार किया है पर काव्य ही सब कुछ है इस भाव का समर्थन किसी भी कवि ने नहीं किया है । दरिया साहब मारवाड़वाले के निम्नलिखित शब्दों से सन्तों का काव्यादर्श सुन्दरतापूर्वक अभिव्यक्त हुआ है :—

सकल कवित का अर्थ है सकल बात की बात ।
दरिया सुमिरन राम का कर लीजै दिन रात ॥

—दरिया साहब की बानी, पृ० ९ ।

---

१. परिचयी-साहित्य—त्रिलोकीनारायण दीक्षित, पृ० ५२ ।
२. वही ,, ,, पृ० ५९ ।
३. वही-वही, पृ० ७३ ।

प्रश्न हो सकता है कि जब सन्तों ने कवि और कविता की इतनी निन्दा की तो फिर स्वयं ही काव्य की रचना क्यों की। और जब सन्तों ने स्वतः काव्य को साधना में बाधक कहा, तो उसकी रचना में क्यों प्रवृत्त हुए ? बात यह है कि सन्तों ने जिस काव्य की रचना की वह आध्यात्मिक जीवन की उन्नति में सर्वथा सहायक है। सम्भवतः इसीलिए काव्य-रचना के विरुद्ध होते हुए भी वे इस ओर उन्मुख रहे। इसके अतिरिक्त काव्य गेय होता है, और गेय होने के कारण वह चिरस्मरणीय भी होता है। सन्तों ने सम्भवतः इसीलिए अपने भावों को सहज भाषा का परिधान पहनाकर काव्य का स्वरूप प्रदान किया। सन्तों के काव्य में कला का सर्वथा अभाव है, पर उसमें भाव-सौन्दर्य, सन्देश की महत्ता और प्रभावशालीनता का कहीं अभाव नहीं है।

सन्त-कवियों का साधक और उपदेशक रूप कवि के रूप से अधिक मधुर और स्वाभाविक है। सहज भावों की स्वाभाविक शैली में अभिव्यक्ति ही उनका काव्यादर्श था। कविता तो उनकी अनुभूति की अभिव्यक्ति का साधन मात्र थी, कवि को सीमा में बाँधने का साधन नहीं।

चतुर्थ परिच्छेद

सन्त-काव्य में अप्रस्तुत-योजना

अप्रस्तुत-योजना काव्य का अभिन्न अंग है। काव्य के दो पक्ष होते हैं— भाव पक्ष और विभाव पक्ष। ये उभय अन्योन्याश्रित हैं। एक के अभाव में द्वितीय की कल्पना सम्भव नहीं है। काव्य में कलात्मकता और रमणीयता का संचार करने का समस्त श्रेय और दायित्व अप्रस्तुत योजना पर है। कवि के लिए अप्रस्तुत-योजना की शक्ति प्रकृति का बड़ा भारी वरदान है। सभी कवियों को यह प्रतिभा समान रूप से नहीं सम्प्राप्त होती है। सभी कवियों में प्रतिभा का स्तर भिन्न और पृथक् होता है। उपमा के क्षेत्र में सभी कालिदास की समता करने का दावा नहीं कर सकते। उसी प्रकार शब्दसंचय में सभी नन्ददास के समान पटुता नहीं प्रदर्शित कर सकते। इस प्रकार की प्रतिभा का मूल कारण है संस्कार तथा वासना। दण्डी का मत है कि 'अद्भुतप्रतिभापूर्ववासना-गुणानुबन्धी' तात्पर्य यह है कि कवि की प्रतिभा में पूर्ववासना का गुण विद्यमान रहता है। रुद्रभट्ट ने प्रतिभा को काव्य का कारण बताते हुए उसे ईश्वरप्रदत्त या स्वतः-सिद्ध माना है :—

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥
सहजोत्पाद्या च स द्विधा भवति
उत्पाद्या तु कथञ्चिद् व्युत्पत्या जन्यते परया॥

आचार्य वामन ने इसी हेतु 'कवित्वं बीजं प्रतिभानम्' अर्थात् प्रतिभा ही कवित्व का कारण है, प्रतिपादित किया है। इस प्रसंग में विचार करते हुए वामन ने कहा है 'कवित्वस्य बीजं संस्कार विशेषः कश्चित्, यस्माद्बिना काव्यं न निष्पद्यते, निष्पन्नं वा हास्यायतनम् स्यात्'। वाग्भट्ट ने प्रतिभा को ही काव्य की उत्पत्ति का कारण मानते हुए कहा है "प्रतिभा कारणान्तस्ये"। वाग्भट्ट आदि विद्वानों के मतों का समर्थन आचार्य जयदेव ने भी निम्नलिखित कथन द्वारा किया है:—

प्रतिभवे श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति।
हेतुमृदम्बुसम्बद्धबीजोत्पत्तिर्लतामिव॥

आचार्य हेमचन्द्र ने भी निम्नलिखित श्लोक द्वारा उपर्युक्त मतों का समर्थन किया है :—

प्रतिभैव च कवीनां काव्यकारणकारणम् ।
व्युत्पत्यभ्यासौ तस्या एव संस्कार कारकौ न तु काव्यहेतु ॥

कवि के व्यक्तित्व में पूर्ववर्ती संस्कारों के रूप में अद्भुत काव्य-प्रतिभा विद्यमान रहती है। इस प्रकार के संस्कारों के कारण ही कवि की दृष्टि समीक्षा, अनुभूति और अभिव्यक्ति गांभीर्य तथा विशदता को प्राप्त होती है। संस्कार पूर्वजन्म के ज्ञान की वासना के रूप में एक स्वतन्त्र गुण है। मम्मट और वामन के अनुसार संस्कार विशेष का अर्थ 'पूर्वजन्मीय वासना' लगाया है।

तो, वासना (दूसरे शब्दों में संस्कार) अप्रस्तुत-विधान का मूलस्रोत है। कवि एक अतिशय भावुक प्राणी होता है, अतः उसके मानस-पटल पर जन्म-जन्मांतर के संस्कारों का प्रभाव अंकित रहता है। हर प्रकार की अप्रस्तुत-योजना के मूल में वासना विद्यमान रहती है।[१] कालिदास के काव्य में इस मत का समर्थन अनेक स्थलों पर हुआ है।[२] अप्रस्तुत-विधान के माध्यम से ही कवि की मानसिक स्थिति की अभिव्यक्ति होती है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उपमान के लिए अप्रस्तुत योजना या 'अप्रस्तुत विधान' शब्दों का प्रयोग किया है। उपमान साहित्य का प्राचीन शब्द है, जिसका अर्थ है 'जिससे उपमा दी जाय'। परन्तु शुक्लजी ने एक व्यापक अर्थ में इसका प्रयोग किया है। काव्य के क्रियात्मक बोधपक्ष का सर्वाधिक ज्ञान 'अप्रस्तुत विधान' या अप्रस्तुत योजना द्वारा होता है। 'उपमान' शब्द की तुलना में अप्रस्तुत-योजना या अप्रस्तुत-विधान अधिक व्यापक और अर्थ-ग्रहण की सामर्थ्य रखता है। विद्वानों का कथन है कि उपमान शब्द से तुलना का

---

१. Eros, Kan, in this sense, is truely the parent of all the goods, and the presiding deity of all Sahitya and literature, which is the only record of his play.

—The Science of Emotions by Dr. Bhagwan Das. p. 397.

२. (क) रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान् ।
पर्युत्सको भवति यत्सुखिनोऽपि जन्तुः ॥
तत्येतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं ।
भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि ॥

(ख) मनोहि जन्मान्तर संगतिज्ञम् । रघुवंश, ७।१५ ।
तथा, पुराणो वा जन्मान्तर निविड़बन्ध परिच्यः ॥

—उत्तर रामचरित ।

बोध होता है। यह शब्द उन्हीं अलंकारों के लिए उचित है, जो औपम्यगर्भ और एक श्रेणी के हैं। शेष अप्रस्तुत-विधान या अप्रस्तुत-योजना का अर्थ विशेष से सम्बन्ध रहता है। बाहर से ग्रहण की हुई प्रायः समस्त वस्तुओं की अप्रस्तुत-विधान के अन्तर्गत परिगणना की जाती है। अप्रस्तुत, विशेष्य, विशेषण, क्रियाएँ, मुहावरे, लोकोक्तियाँ सभी कुछ इसी के अन्तर्गत ग्राह्य होती हैं। वर्तमान काल में उपमेय और उपमान के स्थान पर प्रस्तुत और अप्रस्तुत का भी प्रयोग किया जाता है। उपमेय को प्रासंगिक, प्राकरणिक, प्रकृत तथा प्रधान और उपमान को अप्रासंगिक, अप्रकरणिक, अप्रकृत एवं अप्रधान भी कहा जाता है। अप्रस्तुत योजना कोई अभिनव शब्द नहीं। अलंकार-शास्त्र में प्राचीनकाल से अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार को मान्यता मिलती रही है। आध्यात्मिक जगत् में अप्रस्तुताश्रय अप्रस्तुत की छटा दर्शनीय हो प्रस्तुत महाशून्य और परमप्रकाश के लिए भक्ति-साहित्य में भाँति-भाँति की अप्रस्तुत-योजनाएँ हुई हैं। अप्रस्तुताश्रय अप्रस्तुत के वर्णन की रमणीयता 'पद्मावत' में भी मिलती है। सम्पूर्ण 'पद्मावत' काव्य ही प्रस्तुत-अप्रस्तुत का रहस्य बना हुआ है। अप्रस्तुत-विधान का रूप अलंकारिक होता है। अप्रस्तुतों की योजना सादृश्य-प्रधान-अलंकारों के साम्य के हेतु की जाती है और उसका रूप अप्रस्तुत होता है। इसीलिए अप्रस्तुत-विधान तथा अप्रस्तुत-योजना शब्दों का प्रयोग प्रचलित हुआ। ये एक दूसरे के पर्याय हैं। अप्रस्तुत-योजना या अप्रस्तुत-विधान शब्द चार मुख्य अलंकारों पर विचार को केन्द्रित कर देते हैं। उपमा में उपमेय और उपमान सामने रहते हैं और उपमानांश तर्कसिद्ध रहता है। दृष्टान्त में भी यही बात रहती है। उत्प्रेक्षा में यही उपमानांश लोक से असिद्ध संभावना पर आदि कवि कल्पित होता है। इसमें उपमा जैसा उपमान समक्ष नहीं रहता है और उपमेय अपने को पृथक् करता-सा प्रतीत होता है। रूपक में उपमेय और उपमान की एकरूपता प्रतिपादित होती है। अपह्नुतिमें उपमेय छिपा दिया जाता है। रूपकातिशयोक्ति में उपमान उभय का स्थान ग्रहण कर लेता है। उपमान ही उपमेय का उद्बोधक बन जाता है।

अप्रस्तुत की सम्यक् और प्रभावशाली योजना सरल कार्य नहीं है। इसके लिए कवि में अनेक विशेषताओं का होना परमावश्यक है। यह आवश्यक है कि वह लोकशास्त्र के तत्त्वों का सूक्ष्म ज्ञाता हो। कवि में जितनी अधिक सहृदयता होगी और वह जितना ही अधिक अनुभवी होगा उतनी ही सुन्दर उसकी अप्रस्तुत योजना होगी और वह अप्रस्तुत-योजना हृदयग्राही तथा मार्मिक भी होगी। इस सबके लिए यह भी आवश्यक है कि कवि अपने हृदय में संवेदन-शीलता को जाग्रत करे और जीवन तथा प्रकृति का सूक्ष्म पर्यालोचक बने।

अब अलंकार या अप्रस्तुत-विधान की परिभाषा की ओर ध्यान दीजिए। 'अलङ्करोतीति अलंकारः' अर्थात् अलंकरण का कार्य करनेवाला अलंकार है। जो स्थान लौकिक व्यवहार में स्वर्ण, रत्न आदि पदार्थों का होता है, वही स्थान साहित्य जगत् में अलंकारों का है। आचार्य भामह ने शब्दार्थवैचित्र्य को वक्रोक्ति संज्ञा दी है।[१] भामह ने वक्रोक्ति को ही सम्पूर्ण अलंकारों में व्यापक निर्धारित करते हुए उसे अलंकारों का एकमात्र आश्रय बताया है।[२] काव्य में सौन्दर्य वृद्धि के लिए अलंकारों की आवश्यकता पर भामह ने सर्वप्रथम बल दिया है। दण्डी का मत है 'काव्य शोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते'[३], अर्थात् काव्य के शोभाकारक धर्मों को अलंकार कहते हैं। वामन के अनुसार 'काव्यं ग्राह्यं अलंकारात्। सौन्दर्य अलंकारः' अर्थात् अलंकार की विशिष्टता से ही उक्ति काव्य कहलाती है। वर्णन का चमत्कार-पूर्ण ढंग ही अलंकार है। कुछ विद्वानों का मत है कि अलंकार की तुलना आभूषण से करना उचित नहीं है। आभूषण कभी-कभी सौन्दर्य-वृद्धि में सहायक नहीं हो पाते। कभी-कभी वे अपने लक्ष्य की पूर्ति अधूरे रूप में करते हैं। 'अलं' का अर्थ है 'बस'। जिसका प्रयोग पाठक या श्रोता को यह कहने के लिए विवश कर दे, कि 'बस' 'अब' इसके आगे कथन की कोई सीमा नहीं वही श्रेष्ठ अलंकार है। आचार्य विश्वनाथ के शब्दों में अलंकार की परिभाषा निम्नलिखित है :—

शब्दार्थयोरंस्थिराये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥[४]

अर्थात् शब्द तथा अर्थ के उन अस्थिर धर्मों को अलंकार कहते हैं, जो शब्दार्थधेय काव्य की शोभा को प्रवर्धित करते हैं तथा रस और भावादि के उपकारक तथा उत्कर्षकारक हैं। आचार्य मम्मट ने गुणों को रसों का अभि-धर्मशौर्यादिक आत्मांगी धर्मों के समान तथा रसों के उत्कर्ष के हेतु मानते हुए अलंकारों को हार आदि आभूषणों के सदृश गुणों का उपकारक माना है।[५]

---

१. काव्यालंकार, १, ३६।

२. काव्यादर्श—दण्डी, २, १।

३. काव्यालंकार ३, ६५।

४. साहित्यदर्पण।

५. येरसस्यांगिनोधर्माः शौर्यादय श्वात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्तेस्पुरचलस्थितयो गुणाः॥
उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वोरण जातुचित्।
हारादिवलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥
—काव्यप्रकाश, ८७-८८।

इस आशय को स्पष्ट करते हुए मम्मट ने कहा कि 'काव्योशोभाया: कर्त्तारोधर्मागुणाः। तदिशयहेतव सत्वलंकारा।' मम्मट ने अलंकारों को काव्य सौन्दर्यवर्द्धक गुणों का उत्कर्ष माना है। आचार्य वामन का मत दण्डी से साम्य रखता है। हेमचन्द्र ने अलंकार को काव्यांगाश्रित मानते हुए कहा है 'अंगाश्रिता अलंकाराः।' भाष्याकार का कथन है कि 'रसस्यांगिनो यदंग शब्दार्था तदाश्रिता अलंकारा', अर्थात् रस के अंगी रूप शब्द तथा अर्थ के आश्रित रहनेवाले अलंकार हैं। वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य कुन्तक के मत से 'अलंकृतिरलंकरणम्। अलंक्रियतेयति विग्रह्य। स विवेच्यते विचार्यते।' तात्पर्य यह है कि अलंकृति का अर्थ ही अलंकार है। जिसके द्वारा अलंकृत किया जाए, उसको अलंकार कहते हैं। इस प्रकार विग्रह करने से (अलंकृति शब्द अलंकार के लिए प्रयुक्त होता है) उसका (काव्यालंकार ग्रन्थों में) विवेचन अर्थात् विचार किया जाता है। संक्षेप में संस्कृत के विद्वानों ने काव्य की शोभा बढ़ानेवाले तत्व या धर्म को ही अलंकार माना है।

हिन्दी के रीतिकालीन कवियों में, सर्वप्रथम मतिराम की परिभाषा उल्लेखनीय है। मतिराम ने 'ललितललाम' में अलंकार की निम्नलिखित परिभाषा की है:—

रस अर्थन ते भिन्न जो, शब्द अर्थ के माँहि।
चमत्कार भूषण सरिस, भूषन मानत ताहि॥

—ललितललाम।

चिन्तामणि ने अलंकार की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहा है:—

अलंकार ज्यौं पुरुष को हारादिक मन आनि।
प्रसोपम आदिक कवित अलंकार ज्यौं जानि॥

—कविकुल-कल्पतरु, प्रक० २।१।

कुलपति ने अलंकार की परिभाषा निम्नलिखित शब्दों में दी है:—

रसहि बढ़ावे होय जहँ, कबहुक संग निवास।
अनुप्रास उपमादि है, अलंकार सुप्रकाश॥
उक्ति भेद ते होत है, अलंकार यह जानि।
वक्र उक्ति यातें कही, मैं विधि प्रथम बखानि॥

—रसरहस्य, षष्ट प्रकरण, छन्द १५ प्रक० ७।३।

कवि देव ने उत्कृष्ट काव्य के हेतु अलंकारों को आवश्यक माना है और अलंकार को काव्य का प्राण माना है :—

शब्द सुमति मुखतें कढ़ै, लै पद वचननि अर्थ।
छन्द, भाव, भूषण सरस, सो कहि काव्य समर्थ॥
अलंकार जीव, छन्द तन भाख।
तण भूषण हू विन जिये, बिन जीवन तम राख॥
सो रस बरसत भाव बस, अलंकार अधिकार।
... ...

कविता कामिनी सुखद पद, सुबरन सरस सुजाति।
अलंकार पहिर अधिक अद्भुत रूप लखाति॥

—शब्द-रसायन।

गोप कवि के मत से शब्दार्थ की रुचिर योजना अलंकार है। अलंकार का विकास भाव, रस एवं गुणों के सौन्दर्य से होता है :—

शब्द अर्थ रचना रुचिर अलंकार सो जान।
भाव भेद गुन रूपते, प्रगट होत है आन॥

—रामचन्द्र-भूषण।

आचार्य श्रीपति के मत से जिसके माध्यम से काव्य में चमत्कार की वृद्धि हो वही अलंकार है :—

जदपि दोष बिन गुन सहित, सब तन परम अनूप।
तदपि न भूषन विनु लसै, बनिता कविता रूप॥

रसिक सुमति के मत से शब्दार्थ की विचित्रताएँ ही अलंकार हैं :—

सबद अरथ की चित्रता विविध भाँति की होइ।
अलंकार तासों कहत रसिक विवुध कवि लोइ॥

वर्तमान आलोचकों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की अलंकार विषयक परिभाषा बड़ी सुन्दर है। वे कहते हैं कि 'भावों के उत्कर्ष दिलाने और वस्तुओं के रूप, गुण, क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होनेवाली युक्ति ही अलंकार है।'[1]

काव्य में अलंकार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'अग्निपुराण' में कहा गया है कि अलंकार रहित विधवेव भारती। अलंकार-सम्प्रदाय के आचार्यों के मत से

१. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १२७-१२८।

काव्य रोचक एवं आनन्ददायी तभी होता है, जब उसमें अलंकारों का प्रयोग किया जाए—

तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्

—अलंकारसर्वस्व।

वामन का मत है कि काव्य अलंकार द्वारा ही ग्राह्य होता है—'काव्यं ग्राह्यमलंकारात् ।' इनके अतिरिक्त गुणवादी और रीतिवादी आचार्यों में से मम्मट, दण्डी, आनन्दवर्धन तथा वामन आदि ने भी अलंकार की महत्ता को स्वीकार किया है। अलंकार काव्य-सौष्ठव का महत्त्वपूर्ण और सुन्दर साधन है। यह (अलंकार) वर्णन की सुंदर और चमत्कारपूर्ण शैली या प्रणाली है। अलंकार हमारी भावानुभूति के प्रकाशन को तीव्रता एवं उत्कर्ष प्रदान करनेवाले साधनों में प्रमुख है। अलंकार साधन है, साध्य नहीं। अलंकार की महत्ता काव्य जगत में सदैव रही है और रहेगी। साधन के रूप में अलंकार अनजाने में ही हमारे दैनिक वार्तालाप तक में आते रहते हैं। किसी तथ्य अनुभूति, घटना की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के हेतु अलंकारों का महत्त्व होता है। अलंकार वाणी के विभूषण हैं।

'काव्यशास्त्र' में अलंकारों की उपयोगिता प्रतिपादित हुई है। विद्वद्वर राजशेखर ने इसे वेद का सप्तम् अंग निर्धारित किया है। ध्वनिकार ने अलंकारों की स्थिति के सम्बन्ध में लिखा है कि 'अंगीश्रतास्त्वलंकाराः मन्तव्यकाव्यादिवत्' (ध्वन्यालोक)। इसी कथन का आचार्य विश्वनाथ ने समर्थन करते हुए कहा है 'रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्' (साहित्यदर्पण)। वाग्भट के मत से काव्य में अलंकारों की स्थिति अनिवार्य है :—

दोषैर्युक्त गुणोपर्युक्तमपि येनोज्झितवयः।
स्मीरूपमिव नो भातितं ब्रुवेऽलंक्रियोच्ययम् ॥

वामन ने काव्य में अलंकारों की उपयोगिता स्वीकार करते हुए कहा है:—

(क) **काव्यं ग्राह्यलंकारात्—** (काव्यालंकारसूत्रवति, १।१।१)

(ख) **काव्यं खलु ग्राह्यमुपादेयं भवति, अलंकारात् ।**
काव्यशब्दोऽयं गुणलंकार संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते ।
भक्त्या तु शब्दार्थमात्र वचनोऽत्र गृह्यते ॥

(ग) **कोऽसावलंकार इत्यत आह सौंदर्यमलंकारः ।**

वही, १।१।२।

(घ) **"ते दोषगुणलंकारह्वादाने । शस्त्रादसमति । शास्त्रतो हि ज्ञात्वा दोषम् जह्याद् गुणालंकारांश्चावदीत ।"**

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि वामन की दृष्टि में काव्य के लिए अलंकार उपयोगी हैं। इसी प्रकार रुद्रट ने उत्तम काव्य के लिए अलंकारों को आवश्यक माना है। उनका मत है कि काव्य को चिरस्थायी बनाने के लिए अलंकार का प्रयोग नितान्त आवश्यक है :—

ज्वलपुञ्जवलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन्महाकविः काव्यम्।
स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनेति यशः परस्यापि ॥

—काव्यालंकार, १।४।

अलंकारों की उपयोगिता पर विचार प्रकट करते हुए 'साहित्यदर्पण' के यशस्वी लेखक विश्वनाथ ने कहा है :—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायकाः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गादादिवत् ॥

हिन्दी के आचार्यों में केशवदास[१], चिन्तामणि[२], कुलपति[३], देव[४], श्रीपति[५] ने भी काव्य के लिए अलंकारों को उपयोगी माना है। आचार्य शुक्लजी भावों के उत्कर्ष को व्यक्त करने के लिए अलंकारों को उपयोगी मानते हैं : "अलंकार चाहे अप्रस्तुत वस्तुयोजना के रूप में हो (जैसे उपमा, उत्प्रेक्षा आदि में) चाहे वक्रता के रूप में (जैसे अप्रस्तुत प्रशंसा, परिसंख्या, व्याजस्तुति, विरोध इत्यादि में) चाहे वर्णविन्यास के रूप में (जैसे अनुप्रास में) लाये जाते हैं, वे प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष साधन के लिए ही कवियों की दृष्टि में भी अलंकार उपयोगी तत्व है।"[६] हिन्दी के प्रमुख कवि पं० सुमित्रानन्दन पंत का कथन यहाँ पर पठनीय होगा। उनका कथन है कि भाव की अभिव्यक्ति के

---

१. जदपि सुजाति सलक्षणी, सुबरन सुरस सुवृत्त।
भूषण बिन न बिराजई, कविता, वनिता मित्त ॥
—कविप्रिया, १।५।

२. कविकुल कल्पतरु।

३. रस-रहस्य।

४. सो रस बरसत भाव बस, अलंकार अधिकार।
... ...
कविता कामिनि सुखन पद, सुवरण सरस सुजाति।
अलंकार पहिरि अधिक, अद्भुत रूप लखाति ॥
—शब्दरसायन।

५. जदपि दोष बिनु गुण सहित, सब तन परम अनूप।
तदपि न भूषण बिन लसै, कविता वनिता रूप ॥
—काव्यसरोज।

६. चिन्तामणि : भाग १, पृ० २४७।

लिए विशेष माध्यम अलंकार ही है। उनके विचार से काव्य की परिपूर्णता के लिए, भाषा की पुष्टि के लिए, अलंकार अत्यन्त उपयोगी हैं।[१] अलंकार चमत्कार के सृजन में सहायक होते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ का मत है कि 'काव्य का प्राण चमत्कार है' अतः काव्य के लिए चमत्कार और अलंकार दोनों ही आवश्यक हैं। क्षेमेन्द्र का कथन है कि 'नहिचमत्कारविरहितस्य कवेः कवित्वं, काव्यस्य वा काव्यत्वम्।'[२] क्षेमेन्द्र ने अन्यत्र भी अलंकारों की अनिवार्यता पर जोर दिया है।[३]

अब अलंकारों के प्रति संतों की दृष्टि का अध्ययन करना आवश्यक है। यह सर्वविदित तथ्य है कि हिन्दी के संत-कवियों में अधिकांश अल्प-शिक्षित या अशिक्षित थे। काव्य के प्रति उनकी क्या भावना थी, क्या दृष्टिकोण था यह 'सन्तों का काव्यादर्श' परिच्छेद में आलोचित हुआ है। संतों के लिए काव्य-रचना एक साधन था, साध्य नहीं। संतों ने हृदय की अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए काव्य को माध्यम बनाया। उनकी कविता में हृदय की सत्यता का चित्रण हुआ है। कविता के लिए हृदय की सत्यता और कल्पना की आवश्यकता होती है। यह हृदय की सत्यता पूर्णरूप से संतों के काव्य में विद्यमान् है। उनके काव्य में जीवन की अनुभूतियों को चित्रित किया गया है। काव्य का कांव्यत्व इसी में है कि वह जीवन की अभिव्यक्ति तथा आलोचना हो। इस दृष्टि से भी संतों का काव्य सफल और ठीक दिशा में अग्रसर साहित्य है। यही कारण है संत-साहित्य में गाम्भीर्य और प्रभावित करनेकी शक्ति है। अशिक्षित साधकों द्वारा विरचित यह साहित्य भारतीय जनता में सैकड़ों वर्षों से प्रचलित है और जनता की सराहना प्राप्त कर रहा है, इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि इस साहित्य में सत्य-जीवन और अनुभव की कलात्मक अभिव्यंजना हुई है। सत्य-जीवन और अनुभव की कलात्मक अभिव्यंजना करनें के पीछे संत-कवि काव्य के समस्त बहिरंग उपादानों—छन्द, रस, अलंकार आदि को विसर गये। उनकी ये अनुभूतियाँ सहज और सरल रूप में उनके कण्ठ और हृदय से फूट पड़ी हैं और जन-जन के संताप को दूर करने के लिए आज भी जीवित हैं। इसी प्रकार की अनुभूति से सम्पन्न होने पर दादू ने कहा कि:—

---

१. पल्लव, पृ० २८-२९।

२. औचित्यविचार-चर्चा।

३. यथौचित्यवतासूक्तिरलंकारेण शोभते।
पीनस्तनस्थितेनैव हारेण हरिणेक्षणा ॥१५॥
—औचित्य-विचार-चर्चा।

ऐसी प्रीति प्रेम की लागी, ज्यू पंषी पीव सुणावै।
त्यूं मन मेरा निस बासुरै, कोई पीव कूं आणि मिलावै रे॥

स्पष्ट है संतों के काव्य में हृदय के सरल भाव, प्रेम की पीर, अनुभूति और सात्विकता की अभिव्यंजना हुई है। संतों के साहित्य में वह सतर्कता एवं सावधानी नहीं उपलब्ध होती, जो एक लिखित रचना के हेतु आवश्यक मानी जाती है। उनका काव्यादर्श इस बात का समर्थक है कि वे कवि और कवि-कर्म को हेय मानते थे। काव्य सौन्दर्य की अभिवृद्धि के कृत्रिम साधनों—छन्द, अलंकारादि की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई। इसीलिए उनकी साखियों और पदों पर अलंकारों का मुलम्मा चढ़ाने का प्रयत्न नहीं किया गया। फिर भी संतों के काव्यों में अलंकार स्वतः-सिद्ध हैं। उनके साहित्य में केवल उन्हीं अलंकारों का बाहुल्य है जिनकी योजना कवि की प्रतिभा अज्ञात रूप से भावों को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए किया करती है। संतों के काव्य में उपमा, रूपक, अनुप्रासादि अलंकारों की प्रचुरता का यही कारण है। रहस्य-द्रष्टा इन संतों के रूपक और उपमाएँ दैनिक जीवन से सम्बन्ध रखती हैं। उन्हें प्रतीकात्मक मूर्त भावों के हेतु कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। संतों की काव्य-रचना सम्बन्धी सफलता उनके रूपकों और उपमाओं में दर्शनीय है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उनके काव्य में अन्य अलंकारों का अभाव है। सुन्दरदास के काव्य में अनेकानेक अलंकारों का प्रयोग हुआ है, यद्यपि वे अलंकारों के वाह्य-प्रदर्शन के विरोधी हैं। एक छन्द में उन्होंने अलंकार प्रिय केशवदास की बड़ी निन्दा की है:—

रसिक प्रिया रस मंजरी और सिंगारहि जानि।
चतुराई कहि बहुत विधि विषै बनाई आनि॥
विषै बनाई आनि लगत विषयनि को प्यारी।
जोग मदन प्रचण्ड सराहैं नखशिख नारी॥
ज्यों रोगी मिष्टान पाइ रोगहि विस्तारे।
सुन्दर यह गति होत, जु तो रसिक प्रिया धारे॥
रसिक प्रिया के सुनत ही, उपजै बहुत विकार।
जो या माँही चित दे, वहै होत नर ष्वार॥
वहै होत नर ष्वार पार तो कछुक न लागै।
सुनत विषय की बात लहरि विष ही की जागै॥
ज्यों कोई ऊँघै लही पुनि सेज बिछाई।
सुन्दर ऐसी जानि सुनत रसिक प्रिया भाई॥

—सुन्दर ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ४३९-४४०।

सन्तों के साहित्य में निम्नलिखित अलंकारों का प्रयोग हुआ है :—

१. रूपक,	२. उपमा,	३. प्रतिवस्तूपमा,
४. दृष्टान्त,	५. अतद्गुण,	६. तद्गुण,
७. स्वभावोक्ति,	८. सहोक्ति,	९. अत्युक्ति,
१०. विशेषोक्ति,	११. समासोक्ति,	१२. अन्योक्ति,
१३. विनोक्ति,	१४. वक्रोक्ति,	१५. लोकोक्ति,
१६. उल्लास,	१७. उल्लेख,	१८. भ्रमालंकार
१९. उत्प्रेक्षा,	२०. व्यतिरेक,	२१. अनन्वय
२२. उदात्त,	२३. विरोधाभास,	२४. उदाहरण,
२५. श्लेष,	२६. विभावना,	२७. असंगति,
२८. अवज्ञा,	२९. अधिक,	३०. पर्याय,
३१. सम और विषम,	३२. विचित्र,	३३. काव्यलिंग,
३४. एकावली,	३५. सार,	३६. निमति,
३७. सर्वगुरु,	३८. वीप्सा,	३९. आद्याक्षरी,
४०. आदि अंत अक्षर भेद,	४१. मध्याक्षरी,	४२. चित्रकाव्य,
४३. अन्तर्लापिका,	४४. बहिर्लापिका,	४५. प्रतिलोम-अनुलोम,
४६. भाषा-समक,	४७. तुल्ययोगिता,	४८. कारणमाला,
४९. परिणाम,	५०. क्रम,	५१. भेदकातिशयोक्ति,
५२. यमक,	५३. अनुप्रास,	५४. प्रतीक, तथा
५५. उलटवांसी।		

रूपक

भरत मुनि ने रूपक के सम्बन्ध में अपने मत को प्रकट करते हुए कहा है:—

नानाद्रव्यानुषंगाधार्यदोपम्यं गुणाश्रयम्।
रूपनिवर्णनायुक्तं तद्रूपकमिति स्मृतम्॥
स्वविकल्पन रचितं तुल्यावयवलक्षणम्।
कियंत्सादृश्यसम्पन्नं यद्रूपं रूपकं तु तव॥

—नाट्यशास्त्र १७।५७--५८।

संतों की रचनाओं में रूपक अलंकार की प्रधानता है। विद्वानों का कथन है कि कबीर रूपकों के राजा हैं। इस कथन का आलोचक जो भी अर्थ लगाए पर इतना सत्य है कि कबीर ही नहीं प्रायः सभी संतों की रचनाओं में इस अलंकार की प्रधानता है। जिस प्रकार कवि-कुल-कमल कालिदास उपमा अलंकार

के लिए जगतप्रसिद्ध हैं उसी प्रकार संत कवि अपनी रूपक योजना के लिए प्रसिद्ध हैं। रहस्यवादी कवि के हेतु रूपक अलंकार की विशेष आवश्यकता पड़ती है। कारण कि अपनी मधुरानुभूति की अभिव्यंजना वह सीधे-सादे शब्दों में कर ही नहीं पाता। सौन्दर्य्यानुभूति उसमें इतनी प्रबल हो जाती है कि वह रूपक के माध्यम से अपनी बात कहने में सफल हो पाता है। आत्मा परमात्मा का सम्बन्ध तथा जीवन की क्षणभंगुरता को व्यक्त करने के लिए सन्तों ने रूपकों को ही माध्यम बनाया है। सन्तों के प्रतीक सांकेतिक होने के कारण यत्र-तत्र दुरूह भी हो गए हैं, परन्तु फिर भी ये प्रभावोत्पादक हैं। सन्तों के रूपकों में निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :—

उनके सभी रूपक सावयव अध्यवसित हैं। उनमें व्यक्त अप्रस्तुत सरल और सामान्य जीवन से ग्रहीत हैं। उनके उपमान सामान्यतया प्रतीकात्मक हैं। ये रूपक फलसाम्य या वस्तुसाम्य पर निर्भर हैं। ये रूपक सरल और प्रभावोत्पादक प्रतीकों से सम्पन्न हैं। कबीर के रूपकों में ये सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं। कबीर के रूपक रोचक होने के साथ ही विविधतापूर्ण हैं। कबीर की दार्शनिकता कहीं-कहीं गूढ़ हो गई है। ऐसे स्थलों में रूपक भी दुरूह बन जाते हैं।

संत कवियों में रूपकों की रचना करने में कबीर[१], दादू[२], मूलकदास[३], सुन्दरदास[४], धरनीदास[५], धरमदास[६], यारी साहब[७], दरिया साहब बिहारवाले[८],

१. क. कबीर-पदावली—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ५८।
   ख. वही — वही, पृ० ५९।
   ग. वही — वही, पृ० ६१।
   घ. कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ९३।
   ङ. वही, पृ० ८७।
   च. कबीर-पदावली, पृ० ६६।
   छ. वही, पृ०, ६७।
   ज. वही, पृ०, ४०।
   झ. संतबानी-संग्रह, भाग २, पृ० ४, ३, २५, तथा २७।
२. संतबानी-संग्रह—भाग २, पृ० ९२, ९६, १००।
३ वही वही—भाग १, पृ० ९९, १००।
४. वही वही भाग २ पृ० १०७, १०८, ११०।
५. वही वही भाग १, पृ० ११३, ११४।
६. वही वही भाग २, पृ० ३७, ४०, ४१, ४२, ४३।
७. वही वही भाग २, पृ० १४६।
   तथा वही भाग १, पृ० १२०।
८. वही वही भाग १, पृ० १२१, १२२, १२३ तथा १२४

दूलनदास[१], बुल्लासाहब[२], केशवदास[३], चरनदास[४], सहजोबाई[५], दयाबाई[६], गरीबदास[७], गुलाल साहब[८], भीखा साहब[९], पलटू साहब[१०], तुलसी साहब[११] आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सांगरूपक की रचना में कबीर[१२], मलूकदास[१३], रज्जब[१४], भीखा[१५], पलटू साहब[१६] कुशल हैं, अभेदरूपक रचना में कबीर[१७], और सांकेतिक रूपक की रचना में दरिया (बिहार वाले)[१८] विशेष उल्लेखनीय हैं। समस्तवस्तुसावयव अधिक अभेद रूपकालंकार की रचना में कवि सुन्दरदास बड़े कुशल हैं।

सन्तों के रूपक अधिकतर रोचक तथा स्पष्ट हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भावों की अभिव्यक्ति, सौन्दर्यानुभूति के प्रकटीकरण, दिव्यानुभूति के उल्लेख तथा दूसरों को 'गूँगे के गुड़ का स्वाद' बताने के हेतु, सन्तों को रूपक का माध्यम सबसे अच्छा प्रतीत हुआ। उनके दाम्पत्यप्रेम-परक रूपकों में व्यक्त भाव-सौन्दर्य हृदयग्राही है। विवाह प्रेम और विरह से सम्बन्धित उनके रूपक बड़े हृदयग्राही और प्रभावशाली हैं। इन सन्तों ने प्रायः रूपकों को दो रूपों में बाँधने का प्रयत्न किया है। इनमें से प्रथम उलटबांसी[१९] है और द्वितीय आश्चर्य-

१. संतबानी-संग्रह, भाग २, पृ० १५७, १५९, १६०।
२. वही वही भाग २, पृ० १७०-७१।
३. वही वही भाग, २, पृ० १७६, १७७।
वही वही भाग १, पृ० १४१
४. वही वही भाग २, पृ० १८०, १८४, १८५।
५. वही वही भाग २, पृ० १९१, १९३, १९४।
६. वही वही भाग १, पृ० १६६, १६८, १७०, १७३, १८०।
७. वही वही भाग २, पृ० १९०, १९७, २००।
८. वही वही भाग २, पृ० २०३, २०७, २११, २१४।
९. वही वही भाग २, पृ० २१४।
१०. वही वही भाग २, पृ० २१८, २१९, २२३, २२५।
११. वही वही भाग २, पृ० २३८, २४०, २४४, २४५, २४७।
१२. कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ९३, पद १६।
१३. मलूकदास की बानी, पृ० ८, पद ५।
१४. रज्जबजी की बानी, पृ० ११, ३३, ४८, ३३७।
१५. भीखा की बानी, पृ० ९९।
१६. पलटू की बानी, पृ० १०४।
१७. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३, तथा ७१।
१८. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृ० १२२।
१९. सुन्दर-ग्रन्थावली प्रथम उल्लास, पृ० ५-६।

जनक घटनाओं की सृष्टि है।[1] इन दोनों प्रकार के रूपकों का सम्बन्ध रहस्यानुभूति और रहस्यवाद से है। ऐसे दुरूह पदों या रूपकों में उनकी घनीभूत अनुभूति के दर्शन होते हैं। 'कबीर का रहस्यवाद' में डॉ० रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि ऐसे "रूपकों के अव्यवस्थित होने का कारण यह हो सकता है कि जिस समय कवि एकाग्र होकर दिव्य शक्ति का सौन्दर्य देखता है, संसार से बहुत ऊपर उठकर देवलोक में विहार करता है, उसी समय वह उस आनन्द और भाव-उन्माद को नहीं सँभाल सकता, उस मस्ती में दीवाना होकर वह भिन्न-भिन्न रीतियों से अपने भावों का प्रदर्शन करता है। शब्द यदि उसे मिलते भी हैं तो उसके विह्वल आह्लाद से वे बिखर जाते हैं और कवि का शब्द-समूह बूढ़े मनुष्य के निर्बल अंगों के समान शिथिल पड़ जाता है। यही कारण है कि भाषा की बागडोर उसके हाथ से निकल जाती है और वह असहाय होकर बिखरे हुए शब्दों में, अनियन्त्रित वाग्धाराओं में, टूटे-फूटे पदों में अपने उन्मत्त भावों का प्रकाशन करता है। यही कारण है कि उसके रूपक कभी उन्मत्त होते हैं, कभी शिथिल और कभी टूटे-फूटे।"

संतों की उल्टवाँसियों में भी चमत्कार प्रचुर रूप से अभिव्यक्त हुआ है और बहुत ही स्वाभाविक ढंग से। कहीं उन्होंने स्वाभाविक व्यापारों के विपरीत कार्य की कल्पना द्वारा[2] चमत्कार का सर्जन किया है, कहीं आश्चर्यजनक घटनाओं की सृष्टि द्वारा।[3]

उपमा

रूपक अलंकार के अनन्तर संतों का प्रिय और सर्वाधिक प्रयुक्त अलंकार उपमा है। संस्कृत के विद्वानों का मत है कि उपमा अलंकारों का शिरोरत्न है।[4] संतों के काव्य में उपमा के सभी भेद-प्रभेद मिलते हैं। सादृश्यमूलक अलंकारों की ओर उनका ध्यान अधिक गया है। संतों ने उपमानों का चयन जनजीवन से किया है। इसलिए उनकी उपमाएँ मधुर, रमणीय तथा आकर्षक हैं। सन्तों की साखियों में उपमा अलंकार का वैभव चित्रित हुआ है। सुन्दर उपमाओं के

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९०, ९१।
२. वही, पृ० ९१, ९२।
३. वही पृ० ९०।
४. अलंकार शिरोरत्नं सर्वस्वकाव्यसम्पदाम्।
उपमा कवि वंशस्य मातैति मतिर्मम॥ —अलंकार शेखर।

विधान में कबीर[१], रैदास[२], दादू[३], मलूकदास[४], सुन्दरदास[५], दरिया साहब (बिहार वाले)[६], दरियासाहब (मारवाड़ वाले)[७], दूलनदास[८], केशवदास[९], चरनदास[१०], सहजोबाई[११], दयाबाई[१२], गरीबदास[१३], पलटू[१४], तुलसी साहब[१५], पीपा[१६], बुल्ला,[१७], आदि सन्तों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

सन्त कवि रैदास[१८] तथा चरनदास[१९], की रचनाओं में मालोपमा के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। संतों ने जिन उपमाओं का प्रयोग किया है, वे परम्परागत न होते हुए भी जनजीवन से ग्रहीत होने के कारण स्पष्ट और प्रभावशाली हैं। उदाहरणार्थ :

(१) पानी केरा बुदबुदा अस मानुस की जाति।
देखत ही छिप जायगी, ज्यूँ तारे परभाति॥

(२) यह मन कागद की गुडी, उड़ि चढ़ि आकास।
दादू भीगे प्रेम जल, तब आइ रहे हम पास॥

---

१. सन्तवानी संग्रह, भाग १, पृ० ३, ६, ८, ९, ११, १३, १५, १६, २०, २१, २५, २६, २९, ३०, ३१, ३२, ३५, ३७, ४८, ५०, ५५, ५७।

२. वही, भाग १, पृ० ६५।

३. वही, भाग १, पृ० ६४, ६५।

४. वही भाग १, पृ० ८१, ८३, ९६, ९७, ९८।

५. वही, भाग १, पृ० १०३। (ख) वही भाग २, पृ० १०३। (ग) सन्तकाव्य पृ० ३५४।

६. वही, भाग १ पृ० १०६, १०८, १११, ११२, ११५, १२२।
(ख) वही, भाग २, पृ० ११९, १२०। (ग) सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ४०२।

७ सन्तवानी संग्रह, भाग १, पृ० १२२।

८. वही, वही, भाग १, पृ० १२९।

९. वही, वही, पृ० १३८, १३९।

१०. वही, भाग १, पृ० १४१।

११. वही, भाग १, पृ० १४८, १४९।
वही, भाग २, पृ० १७९, १८५।

१२. वही, भाग १, पृ० १५५, १९२।

१३. वही, भाग १, पृ० १७०, १७१, १७८।

१४. वही, भाग १, पृ० १८४, १९०, १९१, १९८।

१५. (क) वही, भाग २, पृ० २३८।
(ख) वही, भाग १, पृ० २१५।

१६. वही, भाग १, पृ० २२८, २३०, २३२, २३५, २४२।

१७. वही, भाग २, पृ० २८।

१८. वही, भाग २, पृ० ६४।

१९. वही, भाग २, पृ० १७९।

इन दोनों साखियों की उपमा-साहश्य, व्यापार-गुण साहश्य, व्यापार-साहश्य और भाव-साहश्य है। सन्तों की उपमाएँ चमत्कार से पूर्ण हैं और साथ ही स्वाभाविकता से सम्पन्न हैं। बड़ी सरल उपमाओं द्वारा सन्तों ने गूढ़तम और दूरूहतम तथ्यों को अंकित करने का प्रयत्न किया है। उदाहरणार्थ :

(१) ज्यों तिल माँही तेल है, ज्यों चकमक में आगि।
तेरा साँई तुझ में, जागि सकै तो जागि॥

(२) जैसे काठ में अगिन है, फूल में है ज्यों वास।
हरिजन में हरि रहत है, ऐसे पलटूदास॥

इन उद्धरणों से सन्तों की उपमा विषयक सूझ और प्रतिभा का परिज्ञान हो जाता है। सामान्यतया साहश्य दो प्रकार का होता है—प्रथम आकार-प्रकार का साम्य तथा द्वितीय गुण-क्रिया साम्य। सन्तों की रचनाओं में दोनों साम्य उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ :

(१) जैसे मोती ऐसि का, तैसो यह संसार।
विनसि जाय छिन एक में, दया प्रभु उरधार॥
(दयाबाई)

(२) खरबूजा संसार है, नारी छूरी बैन।
पलटू पंजा सेर का, यों नारी का नैन॥
(पलटू साहब)

(३) प्रेम तो ऐसा कीजिए, जैसे चन्द चकोर।
घींच टूटि भुईं या परै, चितवै वाही ओर॥
(कबीरदास)

दृष्टान्त

दृष्टान्त के विषय में आचार्य मम्मट का मत है—"दृष्टोऽन्ते आश्चर्ये यत्र स दृष्टान्तः"। सन्तों ने दुरूहतम दार्शनिक तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों को व्यक्त करने तथा उसे बोधगम्य बनाने के लिए दृष्टान्तों का प्रचुर प्रयोग किया है। सन्तों की उपमाओं की भाँति उनके दृष्टान्त जन-जीवन से संग्रहीत हैं। ये दृष्टान्त व्यापार-साम्य और गुण-साम्य सम्पन्न होने के कारण प्रभावशाली और रोचक बन गए हैं। कबीर[1], नानक[2], दादू,[3] सुन्दरदास[4], धरनीदास[5],

---

१. सन्तबानी-संग्रह, भाग १, पृ० ९, १३, २४, २६, ३१, ४६, ४९, ५१, ५३, ५७।

२. आदिग्रन्थ-महल १।

३. सन्तबानी-संग्रह, भाग २, पृ० ९२, ९८।

४. वही वही, पृ० १०९, ११५, ११८, १२०, १२२-१२५।

५. वही, भाग १, पृ० ११६।

दरिया साहब[1], सहजोबाई[2], पलटू[3], तुलसी साहब[4], यारी साहब[5], दूलनदास[6], बुल्लासाहब[7], रज्जबसाहब[8], आदि संतों के काव्य में दृष्टान्त अलंकार के अच्छे उदाहरण मिलते हैं।

संतों के दृष्टान्त अलंकार बड़े स्पष्ट और सरल हैं। प्रीति के लिए मीन, चातक, सीप, कुमुदिनी आदि के दृष्टांत देकर उन्होंने अपने काव्य को स्वाभाविक सौंदर्य प्रदान किया है। उनके दृष्टांतों में गूढ़ व्यंजना उपलब्ध होती है। उदाहरणार्थ :

(१) जल तरंग अरु फेन बुदबुदा, जल ते भिन्न न होई।
इह परपंचु परब्रह्म की लीला, विचरत आनन्द होई॥

(२) कुएँ बंधा जलु रहै, जल बिनु कुंभ न होई।
गियान का बंधा मन रहै, गुरु बिन गियान न होई॥

इन दोनों साखियों में कवियों की सूक्ष्म-दृष्टि, अप्रस्तुत और वर्ण्य-विषय का साम्य विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। इसी प्रकार कवि कबीर ने अद्वैतवाद के आधार-भूत सिद्धान्त विवर्तवाद की अभिव्यंजना के लिए रोचक दृष्टांतों का सहारा लिया है। उदाहरणार्थ :

(१) पाणी ही थे हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाय।
जो कुछ था सोई भया, अब कछु कह्या न जाय॥

(२) जैसे बहु कंचन के भूषन ये कहि गालि तवाहिगे।
ऐसे हम लोक वेद के बिछुरे, सुन्नहि माँहि समावहिगे॥

(३) जैसे जलहि तरंग तरंगनि ऐसे हम दिखलावहिगे॥

(४) जल में कुंभ कुंभ के जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहिं समाना, यह तत कथ्यो गियानी॥

---

१. संतवानी-संग्रह, भाग १, पृ० १५६।
२. वही, भाग १, पृ० १५८।
३. (क) वही, भाग १, पृ० २१९, २२०, २२५, २२६।
(ख) वही, भाग २, पृ० २२१, २२३।
४. वही, भाग १, पृ० २२८।
५. वही, भाग २, पृ० १४७।
६. वही, भाग २, पृ० १६४।
७. वही, भाग २, पृ० १६४।
८. रज्जब की बानी, पृ० ७९।

(५) एकहि खाक गढ़े सब भाड़े एकहि सिरजन हार ॥

(६) ज्यों दर्पन प्रतिबिम्ब देखिये आप दवा सूं सोई ॥

तद्गुण

आचार्य विश्वनाथ ने प्रस्तुत अलंकार की परिभाषा निर्धारित करते हुए लिखा है "तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्ट गुणग्रहः"। संत-साहित्य में जहाँ पर भी कवियों ने संगति का प्रभाव दिखाने की चेष्टा की है वहीं पर तद्गुण अलंकार मिलता है। कबीर[१] तथा मारवाड़वाले दरिया[२] में इस प्रकार के उदाहरण प्रचुरता के साथ मिल जाते हैं। संतों के इस अलंकार के प्रभावित करने की शक्ति इसलिए है कि जिन वस्तुओं को अप्रस्तुत रूप में लाया गया है वे सब हमारे जीवन से लिये गए हैं। चंदन, केला, काँटा, भुजंग सभी संतों द्वारा प्रयुक्त तत्त्वों से हम परिचित हैं। ये सब हमें प्रभावित करते हैं।

अतद्गुण

अप्पयदीक्षित के मत से 'संगतान्यगुणानंगीकारमाहुरतद्गुणः"। संगति रहने पर भी दूसरे के गुणों को ग्रहण न करना अतद्गुण अलंकार है। संतों ने जहाँ पर भी दुर्जन पर संगति का प्रभाव न पड़ना दिखाया है, वहीं पर अतद्गुण अलंकार की अभिव्यक्ति हुई है। कबीर[३], दादू[४] तथा गरीबदास[५] की साखियों में अतद्गुण अलंकार की अभिव्यक्ति मिलती है। इस अलंकार के वर्णन में भावाभिव्यक्ति सरल एवं स्पष्ट हुई।

स्वभावोक्ति

इसकी परिभाषा देते हुए आचार्य मम्मट ने लिखा है "स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादे : स्वक्रियारूपवर्णनम्"। कबीर[६], बुल्ला साहब[७] आदि के काव्य में यह अलंकार अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। संतों की साखियों में इस अलंकार को

---

१. संतवानी-संग्रह, भाग १, पृ० २९।
   (ख) कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ५०।
२. संतवानी संग्रह, भाग १, पृ० १२९।
३. वही, भाग १, पृ० ३१।
४. वही, भाग १, पृ० ८८, ८९।
५. वही, भाग १, पृ० २०१, २०२।
६. वही, भाग १, पृ० २३, २४, २५, २७।
७. वही, भाग १, पृ० १४०।

पढ़ते समय कौतूहल का उद्रेक होता है। यह अलंकार चमत्कारवर्द्धक है। उदाहरणार्थ :

(१) जाके मुँह माथा नहीं, नाही रूप अरूप।
पुहप वास तें पातरा, ऐसा तत्व अनूप॥

(२) ना वह टूटै न वह फूटै, ना कबहीं कुम्हिलाय।
सर्व कला गुन आगरी, मो पै बरनि न जाय॥

ये उक्तियाँ सरल और प्रभावशाली हैं।

सहोक्ति :

आचार्य मम्मट के मत से इस अलंकार की निम्नलिखित परिभाषा है "सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्"। इस अलंकार का प्रयोग संत काव्य में हुआ तो है पर कम। कबीर की कविता से एक उद्धरण प्रस्तुत है :

ज्ञानी अभिमानी नहीं, सब काहू से हेत।
सत्यवान परस्वारथी, आदर भाव सहेत॥
संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० २७।

अतिशयोक्ति

संत-काव्य में अतिशयोक्ति के कम उदाहरण मिलते हैं, कबीर[१] ने अवश्य इस अलंकार की व्यंजना की है। इस अलंकार में चमत्कार का प्राधान्य है। इसमें कवि के भावों की प्रबलता प्रतिबिम्बित होती है।

विशेषोक्ति

मम्मट के मत से 'विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः।' कबीर[२] ने जहाँ पर धरती को कागद, पानी में घर बनाकर भी प्यासे रहने, अग्नि के जलने पर भी धुआँ न होने की, जिन स्थलों में रहस्यपूर्ण बात कही है, वहीं विशेषोक्ति के दर्शन होते हैं। धरनीदास[३] की कविता में भी विशेषोक्ति के उदाहरण मिलते

---

१. सपनेहू में बर्राई के धोखेहु निकरै नाम।
वाके पग की पैतरी, मेरे तन को चाम॥
—संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० ५।

२. संतबानी संग्रह भाग १, पृ० २, ३, ५, १७।

३. वही, भाग १, पृ० ११५।

हैं[१]। संतों की विशेषोक्तियाँ सरल एवं स्पष्ट हैं। 'हिरदे भीतर दव बलै, धुवाँ न परगट होय' से चमत्कार एवं कौतूहल वृद्धि होती है।

अन्योक्ति

आचार्य भिखारी दास के शब्दों में "अन्य उक्ति और हि कहै, औरहि के सिर डारी" अन्योक्ति की परिभाषा है। संत-काव्य में अन्योक्ति अलंकार का प्रयोग प्रचुरता के साथ हुआ है। संतों की अन्योक्तियाँ आध्यात्मिक विषयों से सम्बन्धित हैं। इन संतों ने मार्मिक शब्दों में मानवजीवन की अनेकानेक प्रवृत्तियों तथा तथ्यों को औरों पर घटित कर दिया है। कबीर[२], चरनदास[३], गरीबदास[४], पलटूसाहब[५], सुंदरदास[६] के काव्य में अन्योक्तियों के सुंदर उदाहरण मिलते हैं। आध्यात्मिक जगत् में अन्योक्ति-लेखन की परम्परा बड़ी सुन्दर रही है। इस अलंकार में अप्रस्तुत को प्रधानता दी जाती है। आत्मा और परमात्मा के वर्णन में संतों ने सर्वत्र अन्योक्ति का सहारा लिया है। इसी प्रकार तर्क पूर्ण ढंग से दूसरों को उपदेश देने के लिए संतों ने अन्योक्ति को माध्यम बनाया है। संत-साहित्य में अन्योक्तियाँ बड़ी सुन्दर बन पड़ी हैं। यहाँ दो-एक उदाहरण देना असंगत न होगा।

(१) जो ऊगै सौ अत्थवै, फूलै सो कुम्हिलाय।
जो चुनिये सोढहि पड़ै, जामै सो मरिजाय॥
(कबीर)

(२) चींटी चावल लै चली, बिच में मिलि गई दार।
कह कबीर दोउ न मिलै इक लै दूजी डार॥
(कबीर)

(३) आग जो लागा नील का, सौमन साबुन धोय।
कोटि जतन पर बोधिये, कागा हंस न होय॥
(कबीर)

---

१. सन्तवानी संग्रह, भाग १, पृ० ८, १०, १३, १७, २२, ३१, ३२, ४०
२. वही, भाग १, पृ० ४३, ६१, ९७।
३. वही, भाग १, पृ० १५१।
४. वही, भाग १, पृ० २०७।
५. वही, भाग १, पृ० २२५।
६. वही, भाग १, पृ० ११०।

(४) केला तबहिं न चेतिया, जब ढिग लागी बेर।
अबके चेते क्या भया, काटों लीन्हा घेरि॥
(कबीर)

इन अन्योक्तियों में चमत्कार और प्रभावित करने की शक्ति है।

वक्रोक्ति

आचार्य भामह ने शब्दार्थ वैचित्र्य को ही वक्रोक्ति की संज्ञा दी है "वक्राभिधेयशब्दो शक्तिशिष्टावाचामलंकृतिः"[१]। सन्तकाव्य में वक्रोक्ति के सीमित उदाहरण मिलते हैं। कारण यह है कि सन्त कवि स्पष्टवादी और प्रत्यक्षदर्शी थे। इसीलिए उन्होंने वक्रोक्ति का अधिक सहारा नहीं लिया। फिर भी सुन्दरदास की कविता में वक्रोक्ति के उदाहरण मिल जाते हैं।[२] वक्रोक्ति अलंकार का प्रयोग करते हुए भी सुन्दरदास के उद्धरणों में भाव सरलता उपलब्ध होती है।

लोकोक्ति

लोक-प्रसिद्ध कहावतों के प्रयोग में ही लोकोक्ति अलंकार होता है। आचार्य भिखारीदास के शब्दों में "शब्दजु कहिये लोकगति, सो लोकोक्ति प्रमान"। सन्तों के काव्य में लोकोक्तियों का प्रचुरता के साथ प्रयोग हुआ है। सन्तों की लोकोक्तियों की सूची 'सन्तों की भाषा' परिच्छेद में मिल जाएगी।

उदाहरण

जिन असमान धर्मवाले उपमेय और उपमान जैसे दो वाक्यों में वाचक शब्द के द्वारा समानता दिखलाई जाए, उसमें उदाहरण अलंकार होता है। सन्तों के काव्य में उदाहरण अलंकार प्रचुरता से मिलता है। कबीर[३], प्रानदेव[४] रैदास[५], रज्जब साहब[६], दरिया (मारवाड़वाले)[७] दयाबाई[८], गुलाल साहब[९],

१. काव्यालंकार १।३६।
२. सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ३८८ तथा ३८९।
३. संतबानी संग्रह, भाग २, पृ० ९-१०।
४. सन्तकाव्य, पृ० १४९, १५२, १५३।
५. वही पृ० २१३, २२२।
६. रज्जबजी की बानी, पृ० २०, ८१, १३८, १८१।
७. दरिया साहब की बानी, पृ० ४।
८. दयाबाई की बानी, पृ० ५।
९. संतकाव्य, पृ० ४२३।

शिवनारायण साहब[1] के काव्य में उदाहरण अलंकार का प्रचुरता के साथ प्रयोग हुआ है। सन्तों ने बारम्बार दीपक तथा पतंग, संगीत और मृग, मीन और वंसी, भ्रमर और पराग, कृषक और खेत, चकवी और सूर्य तथा चातक और स्वाती आदि उदाहरणों के द्वारा जनता तक अपने हृदय के भावों को पहुँचाने का प्रयत्न किया है। ये उदाहरण परम्परा से भारतीय जनता में प्रयुक्त होते आ रहे हैं। सरलता के साथ इनमें चमत्कार है। सच यह है कि कवि ने इतने उपयुक्त उदाहरण प्रस्तुत किये हैं कि उनमें चमत्कार का सर्जन स्वतः हो जाता है। एक स्थान पर कबीर ने कहा है :

अलल बसै अकाश में, नीची सुरति निवास।
ऐसे साधू जग में, सुरत पिउ पास॥

इस साखी में बड़ी स्वाभाविकता के साथ उदाहरण अलंकार का प्रयोग हुआ है। यथार्थ के साथ चमत्कार का समन्वय यहाँ दिखाई देता है।

उत्प्रेक्षा

उप्रेक्षा की परिभाषा—'आन बात को आन में जँह सम्भावन होय।
वस्तु हेतु फल युत कहत उत्प्रेक्षा है सोय॥'

सन्त-काव्य में उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग कम हुआ है। सन्तों ने अपने भावों की व्यंजना में सादृश्यमूलक अलंकारों का आश्रय अधिक लिया है। इसीलिए सन्त-साहित्य में यह अलंकार कम मिलता है। सुन्दरदास की कविता से यहाँ एक उद्धरण प्रस्तुत है :

कामिनी कौदहै मानौ कहिबे सघन बन,
उहाँ कोऊ जाइ सुतौ भूति कै परतु है।
हुजर की गति कहि केहरि कौ भय जामे।
बेनी काली नागिनीऊ फनकौ धरतु है।
कुच है पहार जहाँ काम चोर रहै तहाँ।
साधिकै कटाक्ष बान प्रान कौ हरत है।
सुन्दर कहत एक और डर अति तामे।
राक्षस बदन षाऊं षाऊं ही करतु है।

'सुन्दरग्रन्थावली' पृ० ४३७।

सम्भावना होने के कारण उत्प्रेक्षा में विशेष चमत्कार का सृजन हो जाता है।

---

१. सन्त काव्य, पृ० ४८५।

सुन्दरदास ने एक पद में वचनों की तलवार बरसने की सम्भावना व्यक्त की है।[१] ऐसे स्थलों में चमत्कार और कौतूहल की सृष्टि स्वतः हो जाती है।

उदात्त

मम्मट का मत है कि "उदात्तं वस्तुनः सम्पत्" (अर्थात् उदात्त अलंकार वह होता है जहाँ किसी वस्तु के बड़प्पन का वर्णन किया जाय)। संत-साहित्य में इस अलंकार की अभिव्यक्ति तीन प्रसंगों में मिलती है। इनमें से प्रथम है संतगुरु-वंदना, द्वितीय है परमतत्त्व का महत्ता-वर्णन तथा तृतीय है साधु महत्ता का वर्णन। कबीर[२], सुन्दरदास[३] और यारी के काव्य से इस अलंकार के उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। संतों की उदात्त-अभिव्यक्ति अतिशयोक्ति तक नहीं पहुँचने पाई है। उत्कृष्टता का कवियों ने सरल और स्वाभाविक वर्णन किया है।

विभावना

मम्मट के अनुसार विभावना की परिभाषा है 'क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फल-व्यक्तिर्विभावना।' विश्वनाथ का मत है कि "विभावना बिना हेतुं कार्योत्पत्तिर्य-दुच्यते।" संतों ने ब्रह्म का विवेचन करते समय विभावना अलंकार का प्रयोग किया है। कबीर ने जहाँ बिना प्राणों के साँस लेने[४], कछुई के अंडों का पोषण करना,[५] बिना पाँव की राह[६], बिना बस्ती का देश और बिना पिंड का पुरुष[७], बिना जल के भारी बूँद का गिरना, बिना बादल के बिजली चमकना, बिना सूर्य के प्रकाश होना, बिना सीपी के मोती के उत्पन्न होने का वर्णन किया है, वहाँ पर विभावना अलंकार विद्यमान है। कबीर के काव्य में इस प्रकार के वर्णन अनेक हैं। उदाहरणार्थ :

(१) बाँझ का पूत बाप बिन जाया, बिन पाऊ तरवर चढ़िया।
अस बिन पाषर गज बिन गुड़िया, बिन षंडे संग्राम जुडिया॥
बीज बिना नारी पुहुप बिन परमल, बिन नीरै सरवर भरिया॥

---

१. सन्तवानी संग्रह, भाग २, पृ० ११४।
२. वही, भाग १, पृ० १।
३. वही, भाग १, पृ० १२०।
४. वही, भाग १, पृ० १९।
५. वही, भाग १, पृ० २२।
६. वही, भाग १, पृ० ३५।
७. वही, भाग २, पृ० १।

देव बिनु देहुरा पत्र बिन पूजा, बिन पाषा भंवर बिलंबिया ।
सूरा होइ परमपद पावै, कीट पतंग होइ सब जरिया ॥
दीपक बिन जोति, जोति बिन दीपक, हद बिन अनहद सबद वागा ।
चेतन होइ सो चेति लीज्यौ, कबीर हरि के अंग लागा ॥
कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १४० ।

(२) अकथ कहाणी प्रेम की, कछू कही ना जाई ।
गूंगे केरी सरकरा; बैठे ही मुसुकाई ॥
मोमि बिना अरु बीज बिन, तरवर एक भाई ।
अनन्त फल प्रकासिया, गुरु दिया बताई ॥
कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १३९ ।

(३) पंडित होइ सु पदहि बिचारै, मूरखि नांहिन बूझै ।
बिन हाथनि पाइंन बिन काननि, बिन लोचन जग सूझै ॥
बिन मुख खाइ चरन बिन चालै, बिन जिभ्या गुण गावै ।
आछै रहै ठौर नहि छाडै, दस दिसिहि फिर आवै ।
बिनहीं तालां ताल बजावै, बिन मंदल पट ताला ।
बिनहीं शबद अनहद बाजै, तहाँ निरतत है गोपाला ॥
बिनां चोलनै बिना कंचुकी, बिनहीं संग संग होई ।
दास कबीर औसर भल देख्या, जानैगा जब कोई ॥
कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १४० ।

कबीर के इन उद्धरणों में विभावना के सुन्दर और प्रभावशाली उदाहरण मिलते हैं । दयाबाई[१], गरीबदास[२], दादू[३] गुलाल साहब[४], दरिया साहब (मारवाड़-वाले[५]) मलूकदास[६], चरनदास[७], भीखा साहब[८], धरनीदास[९] की रचनाओं में विभावना के बड़े ही सुन्दर उदाहरण प्राप्त होते हैं ।

१. सन्तवानी संग्रह, भाग १, पृ० १७९ ।
२. (क) वही, भाग १, पृ० १८५, १८६, १९३, १९५ ।
(ख) सन्तकाव्य, पृ० ४५४ ।
३. वही, पृ० २९४ ।
४. सन्तवानी संग्रह, भाग १, पृ० २०८, २०९ ।
५. (क) वही, भाग १ पृ० १३१ । तथा वही भाग २, पृ० १५५ ।
६. वही, भाग २, पृ० १०२ ।
७. (क) वही, भाग २ पृ० १०२ ।
(ख) सन्तकाव्य, पृ० ४७५ ।
८. सन्तवानी संग्रह, भाग २, पृ० २१० ।
९. सन्तकाव्य, पृ० ४०३, ४०४ ।

विभावना अलंकार के प्रयोग में सन्तों ने उपनिषदों का अनुकरण किया है। उपनिषदों में भी ब्रह्म का विभावनात्मक वर्णन मिलता है। सन्तों के काव्य में विभावना का प्रयोग गूढ़ भावों को स्पष्ट करने के लिए हुआ है। इस अलंकार में बड़ा चमत्कार है। कारण के बिना कार्य सृष्टि सम्पन्न होने के कारण रचना स्वयं ही चमत्कार पूर्ण हो जाती है।

विरोधाभास

विरोधाभास की परिभाषा पद्माकर ने बड़े ही उपयुक्त शब्दों में अंकित की है। उनका कथन है "कहत विरोधाभास तहँ, झूठो जहाँ विरोध"। सन्त-काव्य में विरोधाभास के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। सन्तों ने विरोधाभास अलंकार का आश्रय लेकर आध्यात्मिक अनुभूतियों तथा तत्त्वों एवं दार्शनिक विचारों को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। कबीर[1], दादू[2], सुन्दरदास[3], तुलसी साहब[4], गरीबदास[5] तथा धर्मदास[6] के काव्य में विरोधाभास के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं।

आलोच्य कवियों ने दार्शनिक उक्तियों के कथन के लिए विरोधाभास अलंकार को माध्यम बनाया है। कहीं-कहीं पर विरोधाभास के सुन्दर उदाहरणों की रचना हुई है। उदाहरणार्थ :

(१) अगनि जु लागी नीर में, कंदू जलिया झारि।
उतर दखिन के पांडिता रहे बिचारि बिचारि॥ (कबीर)

(२) कुल खोया कुल ऊबरै, कुल राख्या कुल जाइ।
राम निकुल कुल मेटिलै, सब कुल रह्या समाइ॥ (कबीर)

(३) विषका अमृत करि लिया पावक का पाणी।
बांका सूधा करि लिया, सोसाधा विनाणी॥ (दादू)

इनमें भावों की स्पष्टता, अभिव्यंजन की सरलता तथा उक्ति वैचित्र्य ध्यान देने योग्य है। ये साखियाँ चमत्कार से भी पूर्ण हैं। सूक्ष्म सिद्धान्तों से परिचित व्यक्ति

---

१. (क) सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृ० ७, ८, २३, ३६, ३७।
(ख) कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २३, ८६।

२. सन्तवानी संग्रह, भाग १, पृ० ८७।

३. वही, भाग १, पृ० ८७।

४. वही, भाग १, पृ० २३६।

५. वही, भाग १, पृ० १८६।

६. वही, भाग २, पृ० ४५।

भी इन साखियों में आनंद पा सकता है। यही संतों के विरोधाभास का चमत्कार और सफलता है।

व्यतिरेक

मम्मट के मत से व्यतिरेक की परिभाषा है :—"उपमानद्यदन्यस्य व्यतिरेक स एव सः" अर्थात् उपमान की अपेक्षा उपमेय का जो विशेष गुण रूप उत्कर्ष कहा जाता है, वही व्यतिरेक नामक अलंकार है। सन्तकाव्य में व्यतिरेक के अधिक उदाहरण नहीं मिलते हैं। कबीर की कविता से यहाँ दो उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं :

(१) कबीर ते नर अंध हैं, गुरु को कहते और।
हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहि ठौर ॥[1]
(२) गुरु बड़े गोविंद ते, मन में देखु बिचार।
हरि सुमिरे सौवार है, गुरु सुमिरे सो पार ॥[2]

पलटूसाहब की बानी से भी एक उद्धरण दिया जाता है :

पलटू तीरथ को भला, बीचै मिलिगै सन्त।
एक मुक्ति को खोजते, मिलि गइ मुक्ति अनन्त ॥[3]

कबीर ने उपमेय (गुरु) को उपमान (हरि) से अधिक बढ़ा कर कहा है। पलटू ने भी संत को उपमेय से बढ़ा कर वर्णित किया है। अतः दोनों काव्यों के उदाहरण उत्कृष्ट और सफल हैं।

वीप्सा

आचार्य भिखारीदास के मत से इस अलंकार की परिभाषा है :

एक शब्द बहुबार जहँ, हरषादिक तें होइ।
ता कहँ वीप्सा कहत है, कवि कोविद सब कोइ ॥

अर्थात् हर्ष, क्रोध आदि मनोविकारों की सूचना सम्प्रेषित करने के लिए जहाँ एक शब्द का प्रयोग होता है, वहाँ वीप्सा अलंकार की रचना होती है। सुंदरदास इस अलंकार की रचना में बड़े पटु थे। उनकी कविता से एक उदाहरण यहाँ उद्धृत है :

---

१. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृ० २।
२. वही, भाग १, पृ० २।
३. पलटू साहबकी बानी, पृ० १०६।

हटकि हटकि मन रापत जु छिन छिन।
सटकि सटकि चहुँ ओर अब जात है ॥
लटकि लटकि ललचाइ लोल बार बार।
गटकि गटकि करि विष फल खात है ॥
भटकि भटकि तार तौरत करमहीन।
भटकि भटकि कहु नैकुं न अघात है ॥
पटकि पटकि सिर सुंदर ज्ञु मानी हरि।
फटकि फटकि जइ सुधौं कौन बात है ॥[१]

इसी प्रकार यारी साहब के शब्दों से एक उद्धरण प्रस्तुत है। इसमें झिलमिल, रुनझुन, रिमझिम, निरमल की भावोन्मेष में पुनरुक्ति के कारण वीप्सा अलंकार की स्थिति है।

झिलमिल झिलमिल बरखै नूरा, नूर हजूर सदा भरपूरा ॥
रुनझुन रुनझुन अनहद बाजे, भवन गुंजार गगन चढ़ि गाजै ॥
रिमझिम रिमझिम बरखै मोती, भयो प्रकास निरंतर जोती ॥
निरमल निरमल निरमल नामा, कह यारी तह लियो विश्रामा ॥[२]

वीप्सा अलंकार को स्पष्ट करते हुए जिन उद्धरणों को यहाँ उद्धृत किया गया है उनमें कवियों की भावों की प्रबलता ध्यान देने योग्य है। शब्दों की पुनरुक्ति में चमत्कार का तत्त्व उपलब्ध होता है। भावों की प्रबलता पाठकों को भी प्रभावित करती रहती है।

विचित्र

अप्पयदीक्षित ने इस अलंकार की परिभाषा देते हुए कहा है "विचित्र तत प्रयत्नश्चेद विपरीत फलेच्छया।" संतों ने गूढ़ आध्यात्मिक व्यंजना के लिए विचित्र अलंकार को माध्यम बनाया है। संतों की उलटबाँसियों में यह अलंकार प्रचुर रूप से मिलता है। कबीर से एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है :

डाल गह्या थै मूल न सूझै, मूल गह्यां फल पावा।
बंबई उलटि शरप को लागी, धरणि महारस खावा ॥
बैठि गुफा में सब जग देख्या, बाहरि कछू न सूझै।
उलटै धनक पारधी मार्‌यौ, यहु अचरज कोइ बूझै ॥

कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १४१

१. सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ४४२।
२. रत्नावली—पृ० ३।

विषम

जहाँ कार्य कारण में असमानता होती है वहाँ विषमालंकार होता है। सन्तों के काव्य में विषम अलंकार के दर्शन प्रतीक एवं उलटबाँसियों में अधिक होते हैं। कबीर के पदों से विषम का एक उदाहरण :

हरि के पारे बड़े पकाये जिनि जारे तिनि घाये।
ग्यान अचेत फिरै नर लोई, ताथै जनम जनम डहकाये॥
घौल मंदलिया बैल रबाबी, कउवा ताल बजावै।
पहिर चोलना गदहा नाचै, भैसा निरति करावै॥
स्यंघ बैठा पान कतरै, घूस गिलौरा लावै।
उदरी बपुरी मंगल गावै, कछुए आनन्द सुनावै॥
कहै कबीर सुनहु रे संतो, गडरी परवत खावा।
चकवी बैसि अंगारे निगलै, समंद अकासा धावा॥

कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ९२।

कबीर के साहित्य में विषम अलंकार के अनेक सुन्दर उदाहरण मिलते हैं।[१] सुन्दर दास[२] तथा रज्जब[३] की बानियों में भी विषम के अच्छे उदाहरण उपलब्ध होते हैं। विषम अलंकार का विषय अस्पष्ट होता है। असंगत कार्य-कारण की योजना इसमें होती है। असंगत योजना के अन्तर्गत कवि की चिन्तन शक्ति, भावोन्मेष तथा भाषाभिव्यक्ति की सामर्थ्य दिखाई देती है। विषमता के कारण इसमें चमत्कार नैसर्गिक होता है।

अनन्वय

राजा जसवन्त सिंह के शब्दों में "उपमेयहि उपमान जब कहत अनन्वय ताहि"। सन्तों ने सतगुरु की महत्ता, साधु, संतों की महानता, मनुष्य जन्म की उत्कृष्टता और परमतत्व की दिव्यता के वर्णन में अनन्वय अलंकार का प्रयोग किया है। कबीर,[४] सुन्दरदास[५] रैदास[६] की रचनाओं में अनन्वय के उदाहरण

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६ तथा ११३।
२. सुन्दरग्रन्थावली, पृ० ४६५।
३. रज्जबजी की बानी पृ० १२२।
४. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृ० १।
५. वही, भाग २, पृ० ११३, १२५।
६. रैदास की बानी पृ० २२५।

प्रचुर रूप में मिल जाते हैं। इस अलंकार में चमत्कार अधिक मिलता है। चमत्कार की दृष्टि से निम्नलिखित उद्धरण पठनीय है :

देह और देखिये तौ, देह पंचभूतन कौ।
ब्रह्म अरु कीट लग, देह ही प्रधान है॥
प्राण और देखिए तो, प्राण सबही को एक।
क्षुधा पुनि तृषा दोऊ, व्यापत समान है।
मन और देखिए तो मन को सुभाव एक।
संकल्प विकल्प करे, सदा ही अज्ञान है॥
आतम विचार किए, आतमा ही दीसै एक।
सुन्दर कहत कोऊ दूसरो न आन है॥

असंगति

जहाँ कार्य, कारण, स्थान और काल की स्थिति नियम विरुद्ध दिखाई देती है, वहाँ असंगति अलंकार होता है। संत साहित्य में जीवन की असंगतियों पर चमत्कार पूर्ण ढंग से प्रकाश डाला गया है। अतः असंगति अलंकार के प्रचुर उदाहरण अधिकतर उलटबासियों में मिलतें हैं। कबीर की निम्नलिखित साखियाँ असंगति के सुन्दर उदाहरण हैं :

आंगणि बेलि अकास फल, अण व्यावण का दूध।
ससा सींध की धुनहडी, रमै बाझ का पूत॥

कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ८६।

अगिन जु लागी नीर में, कहू जलिया झारि।
उतर दषिन के पंडिता रहे विचार विचारि॥

कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ११।

कबीर के काव्य में असंगति के सहस्त्रों उदाहरण व्यक्त हुए हैं।[1] यारी[2], दरिया मारवाड़वाले[3], चरनदास[4], सहजोबाई[5] आदि की रचनाओं में भी असंगति के सफल प्रयोग मिलते हैं। संतों ने स्वानुभूति की अभिव्यक्ति तथा साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए प्रमुख रूप से असंगति अलंकार का आश्रय लिया है।

१. कबीर-ग्रंथावली, पृ० १६, ६४, ६९, ९१, ९२, ११३, १२४, १३४, १३५, १३७।
२. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृ० १२०।
३. वही, भाग १, पृ० १३१।
४. वही, भाग १, पृ० १४४।
५. वही, भाग १, पृ० १५५।

असंगत, लोकविरुद्ध कार्यों एवं व्यापारों के वर्णन और निर्वाह में उनकी चिन्तन-शक्ति तथा वर्णन क्षमता दृष्टिगत होती है। इस अलंकार के वर्णन में चमत्कार का कहीं भी अभाव नहीं है। चमत्कार के कारण ही इस अलंकार से युक्त रचना प्रभावशाली बन जाती है।

काव्यलिंग

अप्पय दीक्षित के अनुसार समर्थनीय बात का समर्थन करने में काव्यलिंग अलंकार होता है, "समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिंग समर्थनम्"। कबीर[१], सुन्दरदास[२] सहजोबाई[३] के काव्य में काव्यलिंग के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। इस अलंकार में सिद्ध करने योग्य बात को प्रमाणित करने के लिए चमत्कारपूर्वक उसका कारण पद के अर्थ में कहा जाता है। अतः स्पष्टता और चमत्कार का सृजन स्वतः हो जाता है। उदाहरणार्थ सुन्दरदास का एक छन्द प्रस्तुत है :

गोविन्द के किये जीव जात हैं रसातल कौ
गुरु उपदेसे सुतौ छुटै जम फंदते।
गोविन्द के किये जीव बस परे कर्मनि के
गुरु के निवाजे सो फिरत है स्वच्छन्द ते।
गोविन्द के किए जीव बूड़त भौसागर में
सुन्दर कहत गुरु काढे दुःख द्वंद ते।
और ऊ कहाँ लौ कछु मुख ते कहैं बनाइ
गुरु की तौ महिमा अधिक है गोविन्द ते॥

सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ३९२।

काव्यलिंग अलंकार के इस उदाहरण में अभिव्यक्ति तथा वर्णन चमत्कार विद्यमान है।

एकावली

मम्मट के मत से एकावली की परिभाषा निम्नलिखित है :

स्थाप्यतेऽपोह्यतेवापि यथापूर्वं परंपरम्।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा॥

जिस अलंकार में पूर्व-पूर्व वाली वस्तु पिछली-पिछली वस्तु के विशेषण रूप से

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६।
२. सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ३९२।
३. सन्तबानी संग्रह भाग २, पृ० १९१-१९२।

स्थापित की जाय या निषिद्ध हो वहाँ एकावली अलंकार होता है। संतों में इसके कम उदाहरण मिलते हैं। सुन्दरदास के काव्य से एक उद्धरण दिया जाता है :

भूमि परै अप अपूह के परै पावक हैं।
पावक कै परै पुनि वायुहू वहत है।
वायु परै व्योम व्योम हूँ कै परै इन्द्रीवश,
इन्द्रिय कै परै अंतःकरण रहतु है।
अंतःकरण परै तीयौ गुन अहंकार,
अहंकार परै यह तत्व को कहतु है।
महातत्व परै मूल माया माया परै ब्रह्म,
तांहितै परात्पर सुन्दर कहतु हैं॥

सुंदर ग्रन्थावली, पृ० ३९४।

श्लेष

मम्मट के शब्दों में श्लेष की परिभाषा है "श्लेष : स वाक्ये एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत्।" संतों के काव्य में श्लेष अलंकार को भावाभिव्यक्ति का माध्यम बहुलता के साथ बनाया गया है। कबीर, सुन्दरदास, सहजोबाई आदि की कविता में श्लेष के अनेक उदाहरण मिलते हैं। यहाँ पर कतिपय उद्धरण प्रस्तुत किए जाते हैं :

आसै पासै जो फिरै, निपट पिसावै सोय।
कीला से लागा रहै, ताको विघन न होय॥[1]—कबीर

पीपर देसै गवन करि वरवट गये रिसाई।
पराषसरि मों रोवना साल रिदै नहिं जाई॥[2]—सुंदरदास

बारे दीवे चांदना, बड़ा भये अंधियार।
सहजो तृन लहरा तिरै, डूबे पत्थर-भार॥[3]—सहजोबाई

पीर पीर सब कोइ कहै, पीर न चीन्हइ कोइ।
जो पर पीर न चीन्हई, सो काफिर बे-पीर॥[4]—मलूकदास

श्लेष में कवि की बुद्धि का वैभव दिखाई देता है। श्लेष में एक से अधिक

---

१. सन्तबानी-संग्रह, भाग १, पृ० १२।
२. सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ९४१।
३. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृ० १६०।
४. वही, भाग १, पृ० ९९।

अर्थ होते हैं। अतः उसमें चमत्कार स्वतः-सिद्ध होता है। चमत्कार सर्जन में श्लेष विशेष सहायता करता है।

चित्रकाव्य

चित्रकाव्य अलंकार के सम्बन्ध में प्रस्तुत परिभाषा पठनीय है :

चित्रबरन-विन्यास है, कमलादिक आकार।
गोरखधंधा सम निरस, त्यागत सुकवि विचार ॥

इस अलंकार में वर्णों का प्रयोग इस शैली से किया जाता है कि विशेष-विशेष विन्यास से विशेष चित्रों का निर्माण हो जाता है। यह अलंकार कौशल कम एक पृथक काव्य कोटि है। इसके अन्तर्गत कवि का परिश्रम और चातुर्य्य दर्शनीय होता है। काव्य चातुर्य्य और कौशल का प्रदर्शन करना सन्तों के लिए अभीष्ट नहीं था। फिर भी संत सुन्दरदास ने इस प्रकार की रचनाएँ की हैं। संत सुन्दरदास ने इस अलंकार के शास्त्रीय पक्ष का निर्वाह करते हुए अपने आध्यात्मिक लक्ष्य को नहीं बिसराया। यह शब्दालंकार के अन्तर्गत परिगणित होता है। संत सुन्दरदास ने निम्नलिखित बन्धों का चित्रण किया है :

१—छत्र बन्ध	६—जीनपोस बन्ध
२—कमल बन्ध	७—वृक्ष बन्ध
३—चौकी बन्ध	८—नाग बन्ध
४—गोमूत्रिका बन्ध	९—हार बन्ध
५—चौपड़ बन्ध	१०—कंकड़ बन्ध

'सुन्दर-ग्रन्थावली' के पृष्ठ ९६३ से ९७२ के मध्य इन बन्धों के उदाहरण और चित्र देखे जा सकते हैं।

निर्मात्रिक और दीर्घमात्रिक (सर्वगुरु व दीर्घाक्षरी)

इसकी गणना शब्दालंकार के अन्तर्गत होती है। इसमें कवित्व की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जाता जितना कि शब्द-चातुर्य की ओर ध्यान दिया जाता है। इसमें शब्द-योजना कवि की सफलता की कसौटी बनती है। इन पदों में प्रयुक्त शब्दों के निर्मात्रिक या मात्रा हीन होने के कारण, बहुधा निर्मात अथवा 'अभङ्ग' की संज्ञा दी जाती है। इसी प्रकार कुछ वे भी पाए जाते हैं जिनमें प्रयुक्त शब्दों के केवल दीर्घमात्रिक होने के कारण सर्व गुरु दीर्घाक्षरी

की संज्ञा दी जाती है। सुन्दरदास ही संतों में एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने इस प्रकार के प्रयोग किए हैं। निर्मात्रा का उदाहरण :

जप तप करत धरत व्रत जत सत,
मन वच क्रम भ्रम कपट सहत तन।
वलकल वसन असन फल पत्र जल,
कसत रसन रस तजत बसत वन॥
जात मरत नर गरत परत सर,
कहत लहत हम गय दल बल धन।
पचत पचत भय न टरत सठ,
घट घट प्रकट रहत न लबत जन॥

सुन्दर-ग्रन्थावली, पृ० ४५५।

दीर्घाक्षरी व सर्वगुरु का उदाहरण

झूठे हाथी झूठे घोरा झूठे आगे झूठे दौरा।
झूठे बंध्या झूठा छोरा झूठा राजा रानी है॥
झूठी काया झूठी माया झूठे धंधा लाया।
झूठा भूपा झूठा जाया झूठा चाकी वानी है॥
झूठा सोवै झूठा जागे, झूठा झूमै झूठा भाजै,
झूठा पीवै झूठा लागे, झूठा झूठी मानी है।
झूठा लीया झूठा दीया, झूठा षाया झूठा पीया,
झूठा सौदा झूठे कीया, ऐसा झूठा प्रानी है॥

सुन्दर-ग्रन्थावली, पृ० ४१०।

अन्तर्लापिका और वहिर्लापिका

'कविप्रिया' में केशवदास ने अन्तर्लापिका और वहिर्लापिका की परिभाषा निम्नलिखित शब्दों में दी है :

उत्तर वाण जु वाहिरै, वहिरलापिका होय।
अन्तर अन्तरलापिका, यह जाने सब कोय॥

इस अलंकार में शब्द-चातुर्य और चमत्कार की प्रधानता है। केवल सुन्दरदास ऐसे संत हैं जिन्होंने इस अलंकार के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। सुन्दरदास शिक्षित और काव्य-शास्त्र के ज्ञाता थे। इसीलिए उन्होंने दुरूह से दुरूह अलंकारों का प्रयोग अपने काव्य में किया है। अन्तर्लापिका और वहिर्लापिका के चार उदाहरण सुन्दर ग्रंथावली में दिए गए हैं। अन्तर्लापिका का उदाहरण :

कापालिक मत कौन कौन त्रेता युग कर्मा ।
रवि सुत कहिये कौन कौन जैननि के धर्मा ॥
त्यक्त संयज्ञा कौन कौन संतति मुख सोहै ।
बचन प्रमान सु कौन कौन कतहूँ नहिं मोहै ॥
कहि सुन्दर अंकुश कौन सिरि आन पकरि काले कहौं ।
योग यज्ञ यम नेम तजि नाम सत्य दृढ करि गहौं ॥
सुन्दर-ग्रन्थावली, १९३ ।

वहिर्लापिका की परिभाषा

बाहर से उत्तर कढ़ै वहिर्लापिका सोय ।

उदाहरण देखें :

उत्तम जन्म सु कौन कौन बपु चित्रत कहिये ।
ब्रह्मा को ज्यौं कवन कौन पय अपरि लहिये ।
धनुष संधियत कौन कौन अक्षय तरु प्रागा ।
दृग उन्मीलित कौन कौन पशु निपट अभागा ॥
अब दान कवन कर दीजिए, कौन नाम शिव रसन धर ।
कहि सुन्दर याकौ अर्थ यह 'नमोनाथ सब सुखकर' ॥
सुन्दर-ग्रन्थावली, पृ० १९४ ।

निगड़बन्ध

यह अलंकार चित्रालंकार के अन्तर्गत आता है। संतों में से केवल संत सुन्दरदास ने अपने काव्य में इसके उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। निगड़बन्ध एक प्रकार से अन्तर्लापिका का ही रूप है। निगड़ का अर्थ होता है शृंखला। इसमें वाक्यों के अन्तर्गत शब्द गुथे रहते हैं। उदाहरण देखै :

अधर लगै जिनि कहत वर्ण कहि कौन आदि कौ ।
सबही ते उतकृष्ट कहा कहिये अनादि कौ ॥
कौन बात सो आहि सकल संसार हि भावै ।
घटि बढ़ि फेरि न होइ नाम सो कहा कहावै ॥
कहि संत मिलै उपजै कहा दृढ़ करि गहिये कौन कहि ।
अब मनसा बाचा कर्मना, सुन्दर भज परमानन्दहि ॥
सुन्दर-ग्रंथावली, पृ० १९५ ।

सिंहावलोकिनी और प्रतिलोम अनुलोम

यह एक प्रकार की अन्तर्लापिका है। सुन्दरदास के अतिरिक्त किसी अन्य संत कवि के काव्य में इसके उदाहरण नहीं मिलते।

सिंहावलोकिनी के उदाहरण

संज्ञा को अखंड कौन हरि सेवा लावै।
कंठ विराजे कौन कौन नर संग कहावै।।
गुनहगार का षाइ कहा चाहे सब कोई।
कपि के गल में कहा कहा दुंदुवनि मिलि होई।।
अब सुन्दर पथिक कहा कहै मुक्त क्षेत्र का नाम है।
कहि हर रिनु हजरति थान कौ 'सदाभारसी काम' है।।

सुन्दरग्रन्थावली, पृ० ९९६।

प्रतिलोम अनुलोम का उदाहरण

काढ़ माहिं का देत कहा प्रतिम कौ कीजै।
पाव चढ़त सो कहा धनुप हि संधीजै।।
कापर ह्वै असवार वचन का प्रत्यक्ष कहावै।
पान करै सो कहा कहा सुनि अति सुख पावै।।
अन कहा हढ़ावै जैनमत का निरहनि उर लगि बकी।
कहि सुन्दर प्रति अनुलोम है यह रस कथा दयाल की।।

यमक

एक ही शब्द की भिन्न-भिन्न अर्थों में आवृत्ति में यमक अलंकार की सृष्टि होती है। आचार्य मम्मट के अनुसार इसकी परिभाषा निम्नलिखित है:

"अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः।"

संतों के काव्य में यमक अलंकार के उदाहरण प्रचुरता के साथ मिलते हैं। संतों की कविता से यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं:—

देह धरे को गुन यही, देद देह कछु देह।
बहुरि न देही पाइये, अबकी देह सो देह।।[१]—कबीरदास
मलुका सोई पीर है, जो जानै पर पीर।
जो पर पीर न जानही, सो काफिर बेपीर।।[२]—मलूकदास
बाहिर कहिये कौन सों, माहे मुशकिल काम।
अंतरि अंतर मेटिये, अंतरजामी राम।।[३]—रज्जब

१. संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० ५०।
२. वही, पृ० ८९।
३. रज्जब की बानी, पृ० १०४।

सुन्दरदास के काव्य में यमक के अनेक उदाहरण मिलते हैं। उदाहरणार्थ :

ग्रह तज्यौ अरु नेह तज्यौ पुनि षेह लगाइ कै देह संवारी।
मेघ सहे सिर सीत सह्यौ तनु धूप समै जु पंचागनि बारी॥
भूष सही रहि रूंष तरे परि सुंदरदास सहै दुख भारी।
डासन छाँडि कै कांसन ऊपर आसन मार्यौ पै आस न मारी॥

सुन्दरग्रन्थावली, पृ० ४९५।

सन्तों के काव्य में यमक का प्रयोग करते हुए जिन अप्रस्तुतों का प्रयोग हुआ है वे स्वाभाविक, सरल और जनजीवन से ग्रहीत हैं। इसीलिए उनमें प्रभावित करने की शक्ति है। साथ ही अर्थ एवं भाव ग्रहण करने में कोई कठिनाई नहीं होती।

अनुप्रास

जहाँ स्वर भिन्न होने पर भी वर्णों का साम्य होता है, वहाँ अनुप्रास अलंकार की स्थिति मानी जाती है। मम्मट ने अनुप्रास का लक्षण निर्धारित करते हुए कहा है "वर्णसाम्यमनुप्रासः" तथा "स्वरवैसादृश्येऽपि व्यञ्जनसदृशत्वं वर्णसाम्यम्। रसाद्यनुगतः प्रकृष्टोन्यासोऽनुप्रासः।" संत-काव्य में अनुप्रास का बाहुल्य है। उनका काव्य इस अलंकार से भरा है। अनुप्रास अलंकार अपने बड़े हो स्वाभाविक रूप में इस साहित्य में उपलब्ध होता है। इसी कारण उनके अनुप्रासों में माधुर्य और रमणीयता विद्यमान है।

संतों में कबीर[1], दादू[2], मलूक[3], सुन्दरदास[4], धरनीदास[5], जगजीवन साहब[6]

---

१. (क) कबीरग्रन्थावली, पृ० १०४।
   (ख) सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृ० ७।
   (ग) वही भाग १, पृ० १४।
   (घ) वही भाग १, पृ० ३३।
२. (क) वही भाग १, पृ० ७७।
   (ख) वही भाग १, पृ० ८३।
३. (क) वही भाग १, पृ० ९९।
   (ख) वही भाग १, पृ० १०३।
४. वही भाग १, पृ० १०६, ११०।
५. वही भाग १, पृ० ११३।
६. वही भाग १, पृ० ११८।

दरिया (बिहारवाले)[1] दरिया (मारवाड़वाले[2]), दूलनदास[3], बुल्लासाहब[4], केशवदास[5], चरनदास[6], सहजोबाई[7], दयाबाई[8], गरीबदास[9] गुलाल साहब[10], पलटू साहब[11] तथा तुलसीसाहब[12] इस अलंकार के प्रयोग में विशेष पटु हैं।

इन अलंकारों के अतिरिक्त पन्द्रह अलंकार और हैं जिनके प्रयोग संत-काव्य में बहुत अल्प मात्रा में मिलते हैं। इन अलंकारों की सूची और उदाहरण निम्नलिखित हैं :

अलंकार	उदाहरण
१–सम	सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ४६५।
२–सार	सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ५९४-५९५।
३–भ्रम	सन्तबानी संग्रह, पृ० ३५।
४–अवज्ञा	संत न छाड़े संतई कोटिक मिलै असंत। चन्दन भुजंगम लिपटिया सीतलता न तजंत॥
५–अधिक	सुन्दरग्रन्थावली, पृ० ३९१।
६–पर्याय	सुन्दरग्रन्थावली, पृ० १४।
७–भेदातिशयोक्ति	रज्जबजी की बानी, पृ० १७।
८–तुल्ययोगिता	रज्जबजी की बानी, पृ० ३१४।
९–परिणय	रज्जबजी की बानी, पृ० १६७।
१०–क्रम	गरीबदास की बानी, पृ० ७०।
११–कारणमाला	दरियासाहब (विहार) के पद एवं साखी, पृ० ५२।
१२–आद्याक्षरी	सुन्दरग्रन्थावली, पृ० ९५३-९५४।

१. संतवानी-संग्रह—भाग १, पृ० १२२, १२३।
२. वही भाग १, पृ० १२८, १३२।
३. वही भाग १, पृ० १३३।
४. वही भाग १, पृ० १४०।
५. वही भाग १, पृ० १४१।
६. वही भाग १, पृ० १४३।
७. वही भाग १, पृ० १६१ तथा १६५।
८. वही भाग १, पृ० १७१।
९. वही भाग १, पृ० १८५।
१०. वही भाग १, पृ० २०९।
११. वही भाग १, पृ० २२०।
१२. वही भाग १, पृ० २२८।

अलंकार	उदाहरण
१३. आदि अंत अक्षर भेद	सुन्दरग्रन्थावली, पृ० ९५४-९५९।
१४. मध्याक्षरी	सुन्दरग्रन्थावली,
१५. भाषा समक	सुन्दरग्रन्थावली, पृ० १००२-१००४।

संतों के काव्य में अलंकार का अप्रस्तुत विधान का अध्ययन कर लेने के अनन्तर अब हम उन विशेषताओं का अध्ययन करेंगे जो संतों के अलंकारों के सम्बन्ध में अध्ययन करते समय उपलब्ध होती हैं। यह मूल्यांकन हम निम्न-लिखित उपशीर्षकों में करेंगे :

१. सन्तों की अप्रस्तुत योजना में औचित्य विचार।
२. सन्तों के अप्रस्तुत विधान के भेद।
३. सन्तों के अप्रस्तुत विधान की यथार्थता।
४. सन्तों के अप्रस्तुत विधान की भाव व्यञ्जकता।
५. सन्तों के अप्रस्तुत विधान की ध्वन्यात्मकता।
६. सन्तों के अप्रस्तुत विधान की मार्मिकता।
७. सन्तों के अप्रस्तुत विधान में प्रभाव-साम्य।
८. सन्तों के अप्रस्तुत विधान में विरोधात्मक सत्ता।
९. सन्तों के अप्रस्तुत विधान में व्यंग्य।

काव्य-शास्त्र के विद्वानों ने काव्य को दो दृष्टियों से देखने का प्रयत्न किया है, कुछ विद्वानों ने शब्द-निष्ठ माना है और कुछ ने उसे अर्थ-निष्ठ। एक और कोटि के विद्वान् वे हैं, जो उसे उभयनिष्ठ मानते हैं। शब्द-निष्ठ मत के प्रतिपादकों का अभिमत है कि "औतपत्तिकास्तुशब्दस्यार्थेन सम्बन्धः"। काव्य को शब्द-निष्ठ निर्धारित करने से उसकी अर्थ-निष्ठता स्वयं सिद्ध हो जाती है। इनके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र[1] में काव्य की पाँच निम्नलिखित विशेषताएँ बताई गई हैं :

(१) काव्य में शब्दार्थ का सौष्ठव हो; (२) काव्य सरल एवं सुबोध हो; (३) वह मृदु और ललित पदों से युक्त हो; (४) काव्य युक्ति से युक्त हो; (५) काव्य का नृत्यादि अभिनयों में भी प्रयोग किया जा सके।

अग्निपुराण[2] में सत्-काव्य की तीन विशेषताएँ मानी गई हैं :—(१) वह गुणों से युक्त हो; (२) काव्य दोष रहित हो; (३) उसमें अभीष्ट अर्थ सूक्ष्मरूप

१. नाट्यशास्त्र, १६।११८।
२. अग्निपुराण, ३३५। २—३।

से कथन किया गया हो। भामह ने शब्दार्थ को काव्य का सबसे प्रधान गुण माना है। वामन[1] ने काव्य में सौंदर्य को प्रधानता दी है। रुद्रट भामह के ही समर्थक हैं। मम्मट का मत है कि "तद्दोषो शब्दार्थों सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।" आनन्दवर्धन ने[2] उसकी अनिर्वचनीय विशेषताओं की ओर भी ध्यान दिया है :

प्रतीपमानं पुनरन्य देव वस्तवस्ति वाणीषु महाकवीनां।
एतत् प्रसिद्धायवातिरिक्तं आभाति लावण्यनि युवांगनासु॥

यहाँ पर लावण्य नामक अनिर्वचनीय तत्त्व की ओर विद्वान् लेखक ने ध्यान आकर्षित किया है। ध्वनिकार का मत है कि यह लावण्य तत्त्व ध्वनि से समुत्पन्न होता है। उत्तररामचरित में महाकवि भवभूति ने काव्य को अमृतरूपा तथा आत्मा की कला निर्धारित किया है।[3] यहाँ पर 'आत्मा की कला' शब्द विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। आत्मा की कला या अमृत रूपा काव्य वही होता है जो आत्मा की अभिव्यक्ति से सम्पन्न होता है। इस प्रकार के काव्य का अन्तरंग इतना धनी, प्रबल और शक्ति से सम्पन्न होता है कि उसके लिए बहिरंग की अपेक्षा नहीं होती। ऐसे काव्य से अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होती है। छन्द, रस, अलंकार, भाषा, गुण तथा काव्य सम्बन्धी अन्य विशेषतताएँ उसके साथ उसी प्रकार हो लेती हैं, यथा तेज पहाड़ी झरने के साथ पार्श्ववर्ती तत्त्व बह चलते हैं। ऐसे काव्य में आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति तथा सच्चिदानन्द-स्वरूपी आत्मा की अभिव्यक्ति मिलती है। ऐसे साहित्य में रामरसायन की अविरल धारा प्रवाहमान रहती है।[4] ऐसे साहित्य की अमोघ धारा का जल पान करते ही त्रिविध ताप तथा वासनाओं की प्रखर होली शात हो जाती है।[5] यह साहित्य निर्मल, सरल, कृत्रिमता-विहीन और लोक-कल्याण की भावना से सम्पन्न होकर मानवता के धरातल पर युग-युग से प्रवाहित रहा है और रहेगा। यह धारा अपनी निर्मल कांति और अकृत्रिम छटा के कारण सबका मन अपनी ओर मोह लेती है। कहीं-कहीं दुरूह चिन्तन, दार्शनिक विचारों और आध्यात्मिक अनुभूतियों को अशिक्षित, अपढ़ तथा ग्रामीण जनता तक पहुँचाने के लिए इन सन्तों ने अप्रस्तुतों का भी विधान किया है। रूपक, उपमा, अन्योक्ति, प्रतीक

१. काव्यालंकार, २।१।
२. ध्वन्यालोक, १।४।
३. उत्तररामचरित १।१।
४. कबीरग्रन्थावली, पृ० १७, साखी ८।
५. कबीरग्रन्थावली, पृ० १६।

और उलटवासियों की सहायता से उन्होंने अपने कठिन विषय को बोधगम्य बनाने की चेष्टा की। इतना होने पर भी विषय और अप्रस्तुत के व्यापार तथा प्रकृति-साम्य एवं औचित्य पर इनकी दृष्टि हमेशा रही है। क्षेमेन्द्र का विचार है कि औचित्य विहीन काव्य, चाहे कितना ही अलंकारों से समलंकृत हो, गुणों से युक्त हो और सुन्दर शब्द योजना से सम्पन्न हो, वह कभी भी प्रभावशाली, चिरस्थायी और जनप्रिय नहीं हो सकता है।[१] संतों ने जो भी अप्रस्तुत योजना की है वह औचित्यपूर्ण और मनोवैज्ञानिक है। यहाँ पर कतिपय उद्धरण विभिन्न सन्तों की रचनाओं से प्रस्तुत किये जाते हैं। इनको देखकर औचित्य और मनोवैज्ञानिक विशेषता स्वतः प्रतिभासित हो जाते हैं।

(१) मनुष जन्म दुर्लभ अहै, होय न बारम्बार।
तरवर से पत्ता झरै, बहुरि न लागै डार ॥[२]

(२) कबीर नाव है झाँझरी, कूरा खेवन हार।
हलके हलके तिरिगये, बूड़े जिन सिर भार ॥[३]

(३) विरह कमण्डल कर लिये, वैरागी दोउ नैन।
मांगै दरस मधूकरी, छके रहै दिन रैन ॥[४]

(४) पूजा सेवा नेम व्रत, गुड़ियन का सा खेल।
जब लगि पिउ परिचय नहीं, तब लगि संसय मेल ॥[५]

(५) धरती करते एक डग, दरिया करते फाल।
हांकौ परवत फाड़ते, सो भी खाये काल ॥[६]

(६) सुन्दर मछरी नीर में, बिछरत अपने ख्याल।
बगुला लेत उठाइ कै, तोहि ग्रसै यों काल ॥[७]

(७) पलटू निकसे त्यागि कै, फिरि माया के ठाठ।
धोबी का गदहा भयो, ना घर को ना घाट ॥[८]

---

१. औचित्यविचार-चर्चा—क्षेमेन्द्र।
२. संतबानीसंग्रह, भाग १, पृ० १३।
३. वही, पृ० १२।
४. वही, पृ० १५।
५. वही, पृ० ६३।
६. वही, भाग १, पृ० ८०।
७. वही, पृ० १११।
८. वही, पृ० २१९।

(८) मिंहदी में लाली रहै, दूध मांहि घिव होय।
पलटू तैसे संत है, हरि बिन रहै न कोय ॥[१]

इन आठ उद्धरणों में औचित्य से पूर्ण तथा मनोवैज्ञानिक अप्रस्तुत योजना विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। सन्तों के साहित्य में सहस्रों ऐसे उदाहरण हैं, जिन्हें पढ़ कर पाठक प्रभावित हो उठता है। कबीर हर प्रकार की औचित्यपूर्ण अप्रस्तुत योजना में बड़े कुशल थे। चेतावनी से लेकर दिव्यमिलन या आध्यात्मिक विवाह का चित्र उन्होंने अप्रस्तुत योजना के माध्यम से बड़े औचित्यपूर्ण शैली में अंकित किया है:

दुलहिन गावहु मंगलचार,
हम घरि आये हो राजा राम भरतार ॥
तन रत करि मैं मन रत करिहूँ, पंच-तत्त बराती।
रामदेव मोरे पाहुने आये, मैं जोवन मदमाती ॥
सरीर सरोवर वेदी करिहूँ, ब्रह्मा वेद उचार।
रामदेव संगि भाँवर लेहू, धनि धनि भाग हमार ॥
सुर तैतिस हूँ कौटिक आये, मुनियर सहस अठासी।
कहै कबीर हम व्याहि चले हैं, पुरिष एक अविनासी ॥[२]

सत्य यह है कि सन्तों की अप्रस्तुत योजना पूर्णतया गुण, व्यापार, फल, रूप साम्य के आधार पर हुई है। यह औचित्य सन्तों की उलटवासियों में भी उपलब्ध होता है। औचित्य, सन्तों के काव्य की सबसे बड़ी शक्ति है। भाव, भाषा, रस, छन्द सभी दृष्टियों से उन्होंने औचित्य का निर्वाह किया है।

अप्रस्तुत-विधान के भेद

'साहित्य-मीमांसा' के अनुसार जाति, गुण, द्रव्य, क्रिया, शक्ति और स्वभाव आदि अप्रस्तुत योजना के गुण या धर्म हैं:

एवं जाति गुणद्रव्यक्रियाशक्तिस्वभावतः।
एकैकद्वित्रिसामस्त्ययोगादस्य विचित्रिता ॥

कहीं जाति जाति का, कहीं पर जाति द्रव्य का और ऐसे ही उक्त द्रव्य, गुण आदि के एक-एक या दो-तीन या सभी के योग से काव्य में वैचित्र्य लक्षित होता है। जहाँ जाति-जाति, गुण-गुण, द्रव्य-द्रव्य का योग होता है, अर्थात् उपमानो-

१. संतबानीसंग्रह, भाग १, पृ० २१७।
२. कबीरग्रन्थावली, पृ० ८७।

पमेय भाव रहता है, वहीं पर काव्य का स्वारस्य अभिवृद्ध हो जाता है। अप्रस्तुत-विधान के अनेक प्रकार हैं पर सबका आधार सादृश्य और साधर्म्य है। बिम्ब ग्रहण में सादृश्य तथा प्रभाव निरूपण में साधर्म्य पर कवि को ध्यान देना आवश्यक है। हमारे सन्त-कवियों ने सादृश्य और साधर्म्य पर विशेष ध्यान दिया है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित साखियाँ पठनीय होगीं।

(१) बखतर पहिरे प्रेम का, घोड़ा है गुरु ज्ञान।
पलटू सुरति कमान लै, जीति चलै मैदान ॥[1]

(२) आसा तृस्ना नदी में डूबे तीनूँ लोक।
मनसा माया विस्तरी, आतम आतम दोष ॥[2]

(३) मातुपिता सुत बंधना, सब मिलि करै पुकार।
अकेल हंस चलि जातु है, कोइ नहि संग तुहार ॥[3]

इनके गुण, जाति, क्रिया, शक्ति और स्वभाव का साम्य उपलब्ध होता है।

अप्रस्तुत-विधान की यथार्थता

अप्रस्तुत-विधान में यथार्थता का होना बहुत आवश्यक है। अप्रस्तुत-विधान में यथार्थता तभी सम्भव है जब कि उसका सादृश्य स्वरूप बोधक और भावोत्तेजक हो। यदि अप्रस्तुत-विधान स्वरूपबोधक मात्र है, तो वहाँ सौंदर्य सृष्टि नहीं होती है। समानता विद्यमान रहने पर भी काव्य उच्च कोटि का नहीं बन सकता। आचार्य शुक्लजी का अभिमत है कि "उपमा का उद्देश्य भावना को तीव्र करना ही होता है, किसी वस्तु का बोध या परिज्ञान नहीं। बोध का परिज्ञान कराने के लिए एक ही वस्तु को दूसरी वस्तु के समान कह देते हैं।··· पर इस प्रकार की समानता उपमा नहीं है।" विद्वानों का मत है कि जिस स्थल के अप्रस्तुत विधान स्वरूपबोधन के साथ ही सौंदर्य-बोधक भी होते हैं, वे काव्य-कोटि में भी आ सकते हैं और उसमें उपमा अलंकार भी माना जा सकता है। अप्रस्तुत योजना के स्वरूपबोध में रमणीयता का समावेश होने पर ही काव्यत्व की प्रतिष्ठा होती है अन्यथा नहीं। राजशेखर का विचार है कि रस के उपयुक्त शब्दों, विचारों, और धारणाओं के औचित्य पर काव्यकला की परिपक्वता निर्भर है :

१. सन्तबानीसंग्रह, भाग १, पृ० २१६।
२. वही, भाग १, पृ० २०७।
३. वही, भाग १, पृ० १२२।

तस्मात् रसोचित सूक्ति निबन्धनः पाकः (काव्य मीमांसा)

रमणीयता बहुत कुछ उपयुक्त उपमानों की योजना पर निर्भर होती है। स्वरूप-बोधन के कारण अगोचर वस्तु को प्रत्यक्षता प्राप्त होती है। ऐसे प्रसंगों में स्थूल दृश्य वस्तु को साम्य के लिए ग्रहण किया जाता है। भावानुकूल साम्य-योजना यथार्थ कही जाती है। प्रस्तुत कथन पुष्टि के लिए निम्नलिखित साखियाँ उद्धृत की जाती हैं :

(१) यह तन कांचा कुंभ है, लिया फिरै था साथि।
ढबका लागा फुटि गया, कछू न आया हाथि॥

(२) हाड़ जरै ज्यों लाकड़ी, केस जरै ज्यों घास।
सब जग जरता देखि करि, भये कबीर उदास॥

(३) पानी केरा बुदबुदा, अस मानुस की जाति।
देखत ही छिप जायगी, ज्यों तारा परभाति॥

इन साखियों में नश्वरता का भाव, अनेक अप्रस्तुत-विधानों द्वारा व्यक्त किया गया है। इन साखियों को पढ़ने पर संसार की नश्वरता के प्रति भावोत्तेजन के साथ ही स्वरूपबोध में भी सहायता मिलती है। यह तन कुंभ के सदृश कच्चा, संसार घास के समान जलता है, पानी के बुदबुदों के समान मानव जाति, आदि कथन भावोत्तेजन में सहायक होते हैं। संक्षेप में सन्तों का अप्रस्तुत-विधान रस, रूप एवं भावानुकूल है।

अप्रस्तुत-विधान की भाव-व्यंजकता

भावों की सुचारु व्यंजना के लिए ही अप्रस्तुत की योजना की जाती है। भावों की व्यंजना में कवि की पटुता प्रतिबिम्बित हो जाती है। जो कवि जितने सुन्दर उत्कृष्ट और गंभीर भावों की व्यंजना करता है या कर सकता है, वह उतना ही अधिक पाठकों को प्रभावित और आह्लादित कर पाता है। भावों में नवीनता, और सुचारुता होना अपेक्षित है। भावों की सुचारु व्यञ्जना के लिए प्रबल अनुभूति का होना भी आवश्यक है। कहना न होगा कि संतों में अनुभूति की गहनता सर्वत्र विद्यमान है। अनुभूति की प्रबलता के वेग में आकर ही संतों ने रूपकों और अन्योक्तियों की योजना की। भावों की सुन्दर व्यञ्जना के लिए कबीर का निम्नलिखित पद पठनीय होगा :

सतगुरु है रंगरेज चुनर मेरी रंगि डारी॥
स्याही रंग छुड़ाइ केरे, दियो मजीठा रंग।
धोये से छूटै नहीं रे, दिन दिन होत सुरंग॥

भाव के कुंड नेह के जल में प्रेम रंग दई बोर।
चसकी चास लगाइ केरे, खूब रंगी झकझोर॥
सतगुरु ने चुनरी रंगी रे, सतगुरु चतुर सुजान।
सब कछु उन पर वार दूँ रे, तन मन धन औ प्रान॥
कह कबीर रंगरेज गुरु रे, मुझ पर हुए दयाल।
सीतल चुनरी ओढ़ि के रे, भइहौ मगन निहाल॥

संतबानी संग्रह, भाग २, पृ० २।

इसी प्रकार कबीर के 'मनफूला फूला फिरै जगत में'[१] 'हंसा करो नाम नौकरी'[२], रैदास का पद 'अब कैसे छूटै नाम रट लागी[३], धर्मदास का 'मोरा पिया बसै कौन देस हो'[४] आदि पद भाव व्यंजना की दृष्टि से पठनीय हैं। सुन्दर-दास का पद 'किधौं पेट चूल्हो किधौं, भाठि किधौं भाड आदि'[५] तथा पलटू साहब का पद 'सुन्दरी पिया की पिया को खोजती'[६] इस दृष्टि से विशेष पठनीय हैं।

अप्रस्तुत-विधान की ध्वन्यात्मकता

ध्वन्यात्मक अप्रस्तुत-योजना मार्मिक और प्रभावशाली होती है। इसे संलक्ष्यक्रम व्यंग्य भी कहा जाता है। ध्वन्यात्मक अप्रस्तुत-योजना के दो प्रकार हैं, शब्द-शक्ति उद्भव तथा अर्थशक्ति उद्भव। व्यंजक स्वतः सम्भवी, कवि प्रौढ़ोक्ति और कवि निबद्धपात्र की प्रौढ़ोक्ति के रूप में तीन प्रकार के होते हैं, और व्यंग्य वस्तु रूप में या अलंकार रूप में होते हैं। संतों के अप्रस्तुत-विधान में ध्वन्यात्मकता उपलब्ध होती है। कबीर के 'मन फूला फूला फिरै जगत में कैसा नाता रे' पद में ध्वन्यात्मकता उपलब्ध होती है। इसी प्रकार सुन्दरदास का पद 'गेह तज्यो पुनि नेह तज्यो, पुनि खेह लगाइ के देह संवारी'[७] पद से ध्वन्यात्मकता प्रकट होती है। कबीर के 'विनस जाइ कागद की गुडिया, जब लग पवन तवै लग उडिया' में मानव की क्षणभंगुरता ध्वनित हो जाती है।

---

१. संतबानी-संग्रह, भाग २, पृ० ३।
२. वही, वही, पृ० ३।
३. वही, वही, पृ० ३४।
४. वही, वही, पृ० ४४।
५. वही, वही, पृ० १२१।
६. वही, वही, पृ० २३३।
७. वही, भाग २, पृ० १२३।

अप्रस्तुत-विधान की मार्मिकता

संतों ने अपनी अप्रस्तुत-योजना में सादृश्य, और साधर्म्य का पूर्ण ध्यान रखा है, इसीलिए उनकी रचनाओं में रमणीयता, भावोद्बोधकता और मार्मिकता उपलब्ध होती है। संतों की भावानुगामिनी अप्रस्तुत-योजनाएँ बड़ी मार्मिक हैं। वे भावों का हृदय खोल देती हैं। संत-साहित्य मार्मिक अप्रस्तुत विधान से भरा पड़ा है। अपने काव्य की मार्मिकता और सन्देशों की कल्याणकारिता के कारण उनका साहित्य इतना चिरस्थायी बन सका है। कबीर के पद 'तोरी गठरी में लागे चोर, बटोहिया काहे सोवै'[१] 'कौन ठगवा नगरिया लूटत हो'[२], हटरी छाडि चला बनिजारी[३] आई गवनवाँ की सारी[४], दादू का पद 'सजनी रजनी घटती जाई'[५], तथा सुन्दरदास का पद जैसे ईख रस की मिठाई[६] भाँति-भाँति के सुन्दर तथा मार्मिक अप्रस्तुत-योजना से युक्त हैं। इन पदों में जीवन के महत्त्वपूर्ण अनुभवों तथा सत्य की अभिव्यञ्जना कलात्मक ढंग से की गई है। इसीलिए सन्तों की रचना में अप्रस्तुत विधान मार्मिक बन गया है।

अप्रस्तुत-विधान में प्रभाव-साम्य

कवि को अप्रस्तुत-विधान की योजना गुण एवं रूपसाम्य के अतिरिक्त प्रभाव को भी ध्यान में रख करनी होती है। प्रभाव का अर्थ है भावना पर पड़ने वाला प्रभाव। उदाहरणार्थ मन के लिए कुरंग, वायु, भृङ्ग, मीन आदि उपमानों का प्रयोग किया जाता है। परन्तु इनके प्रयोग के अवसर और प्रसंग भिन्न हैं। मन की लोलुपता प्रदर्शित करने के लिए भृंग तथा मीन उपमान के रूप में लाए जा सकते हैं, परन्तु गति की तीव्रता प्रकट करने के लिए कुरंग या वायु ही प्रसंगानुसार उपयुक्त रहेंगे। प्रभाव-साम्य के हेतु वस्तु के प्रत्येक कार्य या गुण का पूर्णतया साम्य होना आवश्यक नहीं है। प्रभाव-साम्य अप्रस्तुत विधान के लिए उपेक्षणीय वस्तु नहीं है। सन्तों की अप्रस्तुत योजना में प्रभाव-साम्य को प्रमुखता दी गई है। यथा :

---

१. सन्तवानी संग्रह, पृ० ५।
२. वही, पृ० ४।
३. वही, पृ० ८।
४. वही, पृ० ९।
५. वही, पृ० ९२।
६. वही, पृ० ११०।

(१) पानी केरा बुदबुदा, अस मानुप की जाति।
देखत ही छिप जायगी, ज्यों तारा परभाति ॥[1]

(२) झूठे सुखको सुख कहत मानत है मन मोद।
जगत चवेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद ॥[2]

(३) मोर तोर की जेवरी, बटि बांधा संसार।
दास कबीरा क्यों बंधे, जाके नाम अधार ॥[3]

रूपक, उपमा और दृष्टांत अलंकारों के माध्यम से सन्तों ने इस प्रकार के प्रभाव साम्य सम्बन्धी अनेक विधान किए हैं।

अप्रस्तुत-विधान में विरोधात्मक-समता

सन्तों की कविता में विरोधात्मक समता के उदाहरण भी मिलते हैं। विरोधात्मक अप्रस्तुत विधान में विरोध का रूप स्पष्ट होता है। इसकी विशेषता यह है कि इसके एक रूप में समता परिलक्षित होती है तो अन्य रूपमें विभिन्नता प्रत्यक्ष रहती है। अप्रस्तुत विधान के द्वारा विरोधात्मक समता की सृष्टि से अतिशय चमत्कार का विधान होता है। सन्त काव्य में विरोधात्मक समता की सृष्टि से अतिशय चमत्कार का धिधान होता है। सन्त-काव्य में विरोधात्मक समता के प्रयोग प्रचुर उदाहरण मिलते हैं।

(१) आगे आगे दौ जले, पीछे हरिया होइ।
बलिहारी ता बिरख की, जड काम्या फल होइ ॥

(२) निरबन्धन बंधा रहै, बंधा निरबंध होय।
करम करै करता नहीं, दास कहावै सोय ॥

(३) निरझर झरै अनाहद बाजै, तब उपजै ब्रह्म गियान।
अविगत अन्तर प्रकट की, लागा प्रेम निज ध्यान ॥

अप्रस्तुत-विधान में व्यंग्य-व्यंजकता

सन्तों की व्यंग्य-व्यंजकता बहुत प्रसिद्ध है। सन्तों की शैली की एक विशेषता है—व्यंग्यात्मकता। सन्त-काव्य में लेखकों ने व्यंग्यों के द्वारा बड़े तथ्य से पूर्ण बातें कह डाली हैं। उदाहरणार्थ :—

---

१. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृ० ९।
२. वही, वही, पृ० ९।
३. वही, वही, पृ० १०।

(१) पंडित केरी पोथिया ज्यों तीतर का ज्ञान।
और न सगुन बतावही, आपन फंद न जान।

(२) नारी की झांई परत, अंधा होत भुजंग।
कबीर तिनकी कौन गति, नित ही नारी संग॥

(३) पंडित और मसालची, दोनों सूझै नाहिं।
औरन को करै चांदना, आप अंधेरे माहिं॥

पञ्चम परिच्छेद

सन्त-काव्य में कल्पना-विधान

संगीत में राग का जो महत्त्व और उपयोगिता होती है वही काव्य-जगत् के अन्तर्गत कल्पना का स्थान है। शब्द-जगत् में राग जिस दायित्व की पूर्ति करता है, उसी दायित्व को कल्पना भावजगत् में परिपूर्ण करती है। बाह्यजगत् के प्रत्यक्ष तत्त्वों के दर्शन एवं चिन्तन के आधार पर ही कल्पना का उद्भव, विधान, एवं विकास होता है। कल्पना-शक्ति एक प्रकार का सौन्दर्य-बोधात्मक एवं चेतनता से सम्पन्न व्यापार है। इतना ही नहीं कल्पना सौंदर्य के विकास में विशेषरूप से सहायक होती है। कवि के सौंदर्यबोध को शक्ति देने का बहुत कुछ श्रेय इसी कल्पना को है। कल्पना के समागम से कविता रुचिर मनोवेगों के हेतु रमणीयता का सर्जन करती है। कल्पना का क्षेत्र व्यापक, व्यापार अद्भुत और कार्य महत्त्वपूर्ण है।

संस्कृत के आचार्यों ने कल्पना के स्थान पर शक्ति या प्रतिभा की स्थिति का प्रतिपादन किया है। इन साहित्याचार्यों ने कल्पना का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं प्रदान किया है। 'क्लृप्' धातु से कल्पना का आविर्भाव हुआ है। 'क्लृप्' का अर्थ होता है सृजन करना अथवा करने की सामर्थ्य रखना। संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् भट्ट तोत (अभिनवगुप्त के साहित्य गुरु) ने प्रतिभा (कल्पना) की व्याख्या करते हुए लिखा है "प्रज्ञा नव नवोन्मेषशालिनी प्रतिभामता" अर्थात् अभिनव अर्थों एवं भावों की उद्भावना करने वाली प्रज्ञा को ही प्रतिभा कहा जाता है। ध्वन्यालोक की टीका 'लोचन' में अभिनवगुप्त ने प्रतिभा की परिभाषा निर्धारित करते हुए कहा है :—"अपूर्व वस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा प्रतिभा।" तात्पर्य यह है कि अपूर्व वस्तु या भावों के निर्माण में समर्थ प्रज्ञा ही प्रतिभा है। रसगंगाधर के यशस्वी रचयिता पण्डितराज जगन्नाथ का मत उपर्युक्त दृष्टि से भिन्न है। पण्डितराज का कथन है कि "काव्य घटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः।" स्पष्ट है कि पण्डितराज प्रतिभा को कवि और कविता तक ही सीमित रखते हैं। उनके मत से प्रतिभा काव्योत्पादक समर्थज्ञान है। मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' में शक्ति को विशेष संस्कारों के फलस्वरूप कवित्त बीज रूप समुत्पन्न माना है। उनका कथन है "शक्ति कवित्व बीजरूपः संस्कार विशेषः कश्चित।" अर्थात् काव्य निर्माण के

मूल में प्रतिभा या शक्ति ही है तथा यह एक संस्कार विशेष है जो केवल कवि में ही उपलब्ध होता है। मम्मट का पण्डितराज से दृष्टिसाम्य है। 'वाचस्पत्यम्' में कल्पना पर विचार करते हुए उल्लेख किया गया है कि "आरोपस्य अविद्यामानं पदार्थस्य अन्यत्रस्थितस्य अन्यत्रप्रतिभास रूपः मानस व्यापारः।" अर्थात् कल्पना वह मानसिक व्यापार है जो अन्यत्र स्थित रूप को तथा अविद्यमान पदार्थ को प्रतिभासित कर दे। यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह परिभाषा भी अभिनवगुप्त की दृष्टि से साम्य रखती है।

अंग्रेजी के लेखकों में वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स, कॉलरिज, मनोवैज्ञानिक मर्फी आदि के मत पठनीय हैं। जिसे संस्कृत के विद्वानों ने प्रतिभा कहा है उस कल्पना के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए अंग्रेजी के विद्वानों ने उसका प्रसार केवल कला एवं साहित्य तक ही नहीं सीमित माना है वरन् जगत् के मूल में भी स्वीकार किया है। कवि वर्ड्सवर्थ के अनुसार पूर्णशक्ति, सुस्पष्ट सूझ, मन के ऐश्वर्य, वैभव तथा तर्क की उच्चतर मनः स्थिति का दूसरा नाम ही कल्पना है।[१] यहां कवि ने कल्पना को उच्च मनःस्थिति के रूप में देखा है। शैली के मत से कविता कल्पना की अभिव्यक्ति तथा तर्क कल्पना का विरोधी व्यापार है।[२] कारण कि तर्क संश्लेषणात्मक तथा कल्पना विश्लेषणात्मक व्यापार हैं। कल्पना के माध्यम से ही विचारों में वस्तुओं का सम्बन्ध ज्ञान प्राप्त करके, सामान्य विशेषताओं का उद्‌घाटन, यथातथ्य चित्रण के माध्यम से सम्पन्न होता है।[३] तर्क और कल्पना में एक और अन्तर है। तर्क वस्तुगत वैभिन्य पर दृष्टि रखता है और कल्पना वस्तुगत साम्य पर। कल्पना का तर्क से उसी स्तर पर सम्बन्ध है जो साधक एवं साधन, आत्मा और शरीर से तथा पदार्थ एवं छाया से है।[४]

---

१. Imagination, which is truth, is but another name for absolute power and clearest insight, amplitude of mind and reason in her most exalted mood.

—*The Prelude, BK. xiii*, p. 246.

२. Poetry is the expression of imagination.

—*A defence of Poetry.*

३. Algebraical representation.

४. Reason respects the differences and imagination of the similitudes of things. Reason is to imagination as the instrument to the agent, as the body to the spirit, as the shadow to the substance.

—*A defence of Poetry.*

शैली के मत से कल्पना अखिल समष्टि में परिव्याप्त एवं सान्निहित सत्य की अभिव्यक्ति है। स्पष्ट है कि कवि का दृष्टिकोण भावप्रधान एवं काव्यात्मक है। शैली का अभिमत रहस्यात्मक दार्शनिक नहीं वरन् मनोवैज्ञानिक है। कीट्स का कथन है कि उन्हें पवित्र हृदयजनित सहानुभूति तथा कल्पना के सत्य में बहुत विश्वास है। कल्पना द्वारा ग्रहण की गई वस्तु (का चाहे अस्तित्व हो या न हो) सत्य प्रमाणित होकर रहती है। कल्पना सौंदर्य के समान सदा सत्य है।[१] कीट्स ने एक स्थान पर कहा है, सत्य ही सौंदर्य है और सौंदर्य ही सत्य है।[२] इस दृष्टि से कल्पना, सत्य और सौंदर्य में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। कल्पना शाश्वत सत्य (या एटर्नल ट्रुथ) है। कल्पना ही सत्य की अभिव्यक्ति है। कालरिज का कल्पना-सम्बन्धी मत शुद्ध साहित्यिक है। उसका मत है कि कल्पना वह मानसिक शक्ति है जिसके द्वारा मस्तिष्क में बिम्बों का विधान होता है।[३] तथ्य यह है कि अंग्रेजी के 'इमैजिनेशन' शब्द की व्युत्पत्ति 'इमेज' से हुई है। 'इमेज' का अर्थ 'बिम्ब' है। अतः बिम्बों का विधान कल्पना का मुख्य कार्य है। मनोवैज्ञानिक मर्फी ने कल्पना को अलभ्य लक्ष्यों की प्राप्ति का साधन माना है जो पूर्णतया सत्य है।[४] इस परिभाषा से कल्पना की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया स्पष्ट हो जाती है। मर्फी ने मनोवैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर यह परिभाषा प्रस्तुत की है जो पूर्णतया उपयुक्त है।

फारसी के विद्वान् नसीरुद्दीन तूसी ने अपने ग्रंथ 'असासुल अक्तबास' में लिखा है कि "ख्याल बहकीकत महाकोत नफस अस्त आयाने महसूसातरा[५]" अर्थात् कल्पना, बाह्य जगत् की अनुभूति का मानसिक रूप-विधान है। उर्दू के प्रसिद्ध लेखक मौलाना हाली कल्पना को वह अद्भुत शक्ति मानते हैं, जो अपने

१. I am certain of nothing but the holiness of heart's affection and the truth of imagination—What the imagination seizes as beauty must be truth whether it existed before or not.

To Benjanin Barly (*Nov.* 22, 1817).

२. Beauty is truth and truth is beauty, that is all ye know on earth and ye need to know.

—*John Keats*.

३. Imagination is the faculty of forming images in the mind.

—*Coleridge*.

४. Imagination is a device for attaining unattainable Goals.

—*A brief General Psychology*. p. 346. *Murphy*.

५. असासुलएक्तबास—पृ० ५९१।

अनुभव तथा निरीक्षण के द्वारा प्राप्त मानसिक ज्ञानकोष का पुनः सृष्टि-विधान कर उसे अभिनवरूप प्रदान करती है और फिर उसे शब्दों के माध्यम से मनोरंजक एवं रमणीय ढंग से अभिव्यक्त करती है जो साधारण ढंगों से भिन्न होती है।[१] मौलाना शिवली ने कल्पना को कलाकार की सम्पत्ति एवं ऐश्वर्य मानते हुए कहा है 'तरवैययु दर असल कूवेत इरवतराआत का नाम है'"[२]। शिवली साहब कल्पना को रचनात्मक शक्ति मानते हैं। एक प्रसंग में कल्पना के व्यापक महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा है "वह कूबत जिसका यह काम है कि उन अशिया को जो मरी नहीं है, या जो हमारे हवाश की कमी की वजह से हमको नजर नहीं आती हमारे नजर के सामने कर दे।[३] मुकदमें–शेर व शायरी के मुरतिब डा० वहीद कुरेशी ने कल्पना को मैनिपुलेशन के अर्थ में प्रयोग किया है। उनकी दृष्टि में कल्पना वह अद्‌भुत शक्ति है जो वस्तुओं या घटनाओं को इस प्रकार से प्रस्तुत करे जिससे प्रत्येक मानव प्रभावित हो जाय।[४]

अब हिन्दी के लेखकों की परिभाषाओं पर विचार करें। रीतिकालीन आचार्य श्री पति ने अपने "काव्यसरोज' में प्रतिभा को ही काव्योत्पत्ति का आधार माना है, श्रीपति की मति से रमणीयता, माधुर्य और भावों को प्रत्यक्ष करा देने वाली मानसिक शक्ति-पुंज ही प्रतिभा है।[५] प्रतापसिंह ने अपने 'काव्य-विलास' में कल्पना को काव्य की अद्‌भुत शक्ति माना है। वर्तमान विचारकों में सर्वप्रथम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी उल्लेखनीय हैं। कल्पना के सम्बन्ध में उनका कथन है कि "मानसिक विधान का नाम ही संभावना या कल्पना है"। शुक्लजी का यह मत कालरिज एवं नासिरुद्दीन तूसी के मतों से बहुत कुछ साम्य रखता है। जब शुक्ल जी मानसिक रूपविधान की बात कहते हैं तो उनका अभिप्राय होता है किसी व्यापार या वस्तु का चित्रांकन जो अन्तर्वृत्ति के किसी भाव से आन्दोलित हो। इसी प्रकार कल्पना पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है कि—"सौंदर्य के भाव का जगना, सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं या व्यापारों का मन में आना ही है। इसी प्रकार मनोवृत्तियों का भावों की

---

१. मुकदमे—शेर व शायरी, पृ० १३४।

२. शेरुल अजम–जिल्द ४, पृ० ११।

३. वही वही पृ० १०।

४. नूतन तर्क प्रसन्न पद युक्ति बोध करतार।
प्रतिभा ताहि बखानिये, श्रीपति सुमति अगार॥

५. बीज मूल है कवित्त की सोई शक्ति गनाय।
काव्य चमत्कृत रूप जहं जामे उपजत जाय॥

सुन्दरता, भीषणता आदि की भावना भी रूप होकर मन में उठती है। किसी की दयाशीलता या क्रूरता की भावना करते समय दया या क्रूरता के किसी विशेष व्यापार या दृश्य का मानसिक चित्र भी मन में रहता है जिसके अनुसार भावना तीव्र या मन्द होती है"।[१] शुक्लजी कल्पना की परिभाषा निर्धारित करने में कुछ भावुक हो गए हैं। उनकी तुलना में डा० श्यामसुन्दर दास की परिभाषा अधिक स्पष्ट है। उनके शब्दों में "विज्ञान में जो बुद्धि है, दर्शन में जो दृष्टि है वही कविता में कल्पना है[२] तथा कल्पना तत्व से हमारा अभिप्राय मन में किसी विषय का चित्र अंकित करने की शक्ति से है, जिसे कवि या लेखक अपनी कृति में प्रदर्शित करके पाठकों के हृदय-चक्षु के सम्मुख भी वैसा ही चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न करता है।[३] डा० गुलाबराय का मत है कि "कल्पना वह शक्ति है जिसके द्वारा हम अप्रत्यक्ष के मानसिक चित्र उपस्थित करते हैं।" डा० नगेन्द्र के शब्दों में अचेतन दशा में जो स्वप्न अवस्था है, वही चेतन दशा में कल्पनावस्था समझनी चाहिए।[४]

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं पर विचार करने के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि स्पष्टता की दृष्टि से डा० श्यामसुन्दरदास तथा व्यापकता की दृष्टि से डा० नगेन्द्र के मत ग्रहण करने योग्य हैं। डा० नगेन्द्र का यह भी मत है कि काव्य के अंग-प्रत्यंग में कल्पना ही ओत-प्रोत है उसके बिना काव्य का अस्तित्व ही नहीं है।[५]

काव्य-जगत् में कल्पना कला, रमणीयता, अभिनवता और माधुर्य की जननी है। इस अखिल सृष्टि का रचयिता ईश्वर है और ईश्वर के निर्माण-कार्य में कल्पना ही योग प्रदान करती है।[६] मानव के सम्पूर्ण कर्तव्यों, क्रिया-कलापों के अन्तस् में उसकी बहुरंगी कल्पनाएं कार्य करती हैं। कल्पनाएं नीरस, शुष्क तथा असफलताओं से ग्रस्त जीवन में भी आशा का दीप जाग्रत कर देती है। जिस प्रकार भौतिक वातावरण की विसंगतियों का अनुशासन प्रकाश के द्वारा होता है, उसी प्रकार मनुष्य के मानसिक परिवेश के बिखराव का अनुशासन

१. रस-मीमांसा, पृ० २६०।
२. साहित्यालोचन, पृ० १०३।
३. वही , पृ० २५१।
४. विचार और अनुभूति, पृ० २०।
५. वही , वही, पृ० २१।
६. Imagination partakes the act of God.
Romantic Imagination—Coleridge, p. 107.

कल्पना के द्वारा होता है। कल्पना हमारे अंतस् में अचेतन एवं सुप्त मानव को जागृत करती है और जीवन के तत्वों को संगठित करके उसे कल्याणकारी रूप प्रदान करती है[१]।

काव्य-साहित्य और जीवन में कल्पना का विशेष महत्व है। प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो का मत है कि कल्पना एक रहस्यमयी शक्ति है जिसके माध्यम से ईश्वर भी अपने को प्रेषणीय बनाता है। अरिस्टाटिल का मत है कि संसार में कल्पना के बिना कोई धारणा हो ही नहीं सकती है। एण्डर्सन ने उसे मूर्ति विधान करने वाली शक्ति के रूप में स्वीकार किया है और काव्य-सर्जन के लिए अनिवार्य बताया है। क्रोचे के अनुसार कल्पना के माध्यम से ही मानव सौंदर्यानुभूति करता है। कल्पना मन का सौंदर्य बोधात्मक व्यापार है[२]। माण्टेन का मत है कि सशक्त कल्पनाएं ही महान् घटनाओं की जननी है।[३] विश्व विख्यात वीर नैपोलिन का विचार है कि कल्पना ईश्वर के समकक्ष है। वही विश्व का अनुशासन करता है[४]। मानव-जाति जीवन में कल्पना द्वारा प्रेरित होकर ही कर्तव्य पथ पर अग्रसर होती है।[५] जान ड्राइडन कविता को वह स्वर्गीय विधान मानते हैं जिसका आधार, प्राण, और सर्वस्व है कल्पना।[६] रस्किन की दृष्टि में कल्पना मानवता की रक्षक है। कल्पना के कोमल संस्पर्श से विहीन मनुष्य न किसी का आदर कर सकता है और न दया भाव को हृदयंगम कर सकता है।[७] हाथर्न की दृष्टि में कल्पना ईश्वर के साथ तादात्म्य संस्थापित करने

---

१. Religion of an Artist.

—*Ravindra Nath Tagore* p. 10.

२. The aesthetic activity—the activity which gives us the artistic aspect of reality, which presents reality to us as single immediate, individual thing, free as yet from every logical or conceptual element, is a faculty of imagination.

—*Willdon Cars* p. 54.

३. A powerful imagination produces the event.

—Mountaigue.

४. Imagination rules the world—Napolean.

५. The human race is governed by its imagination.

६. Poetry is that fairly kind of writing, which depends only upon the force of imagination.

—*John Dryden.*

७. An unimaginative preson can neither be reverent nor kind.

—*Ruskin.*

की एक कड़ी है।[1] इमर्सन इन सब विचारकों से आगे बढ़कर कहता है कि वैज्ञानिक को यह नहीं ज्ञात है कि वह कल्पना शक्ति के ऋण से कितना अधिक दबा है।[2]

संस्कृत के प्रसिद्ध ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने निम्नलिखित शब्दों में कवि प्रतिभा (कल्पना) का महत्त्व स्वीकार किया है :—

ध्वनेरित्थं गुणीभूत व्यंग्यस्य च समाश्रयात्।
न काव्यार्थ विरामोऽस्ति यदिस्यात् प्रतिभागुणः ॥[3]

क्षेमेन्द्र का मत है कि प्रतिभा से सलंकृत कवि की रचना, लक्ष्मी से सम्पन्न गुणवान् पुरुष के निर्मल कुल के सदृश शोभा प्राप्त करती है :—

प्रतिभाभरणं काव्यसुचितंशोभते कवेः।
निर्मलसुगुण स्येव कुलं भूति बिभूषितम् ॥[4]

भट्ट तौत ने कल्पना या प्रतिभा को नवनवोन्मषशालिनी कहा है तथा उसे काव्य के लिए अनिवार्य माना है।[5] मम्मट ने प्रतिभा को काव्य का मूल कारण कहा है। इसी प्रकार रीतिकाल के हिन्दी-कवि श्रीपति ने भी प्रतिभा को कविता का मूल कारण माना है[6]। प्रतापसिंह ने कल्पना विहीन काव्य को खिलवाड़ और निर्जीव माना है[7]। आचार्य लछिराम ने कल्पना को काव्य का अभिन्न अंग माना है।[8]

---

१. Keep the imagination sane, that is one of the truest conditions of communion with God.....Haw Thorne.

२. Science does not know its debt to imagination.
—*Emerson.*

३. ध्वन्यालोक ४।६।

४. औचित्यविचार चर्चा ॥३५॥

५. प्रज्ञानवनवनेन्मेष शालिनी प्रतिभा मता।
तदनु प्राणनाज्जीवेद वर्णना निपुणा कविः ॥

६. शक्ति सुपुण्य विशेष है, जा विन कविता न होय।
जो कोऊ हठ सो रचै, हंसी करै कवि लोय ॥
काव्य-सरोज, पृ० ३।

७. विना शक्ति का काव्य जो, छन्द प्रवन्धा बनाइ।
सुहृदै मन रंजन अनहि, उपहसनीय कहाइ ॥
काव्य-विलास।

८. रत्नाकर साहित्य गुन, रतन कल्पना रंग।
परखत कवि जन जौहरी, मिलि नव सुमन तरंग ॥
श्रवणेश्वर, कल्पतरु, पृ० ३१।

हिन्दी के आधुनिक लेखकों में, आचार्य रामचन्द्रशुक्ल का, कल्पना के महत्त्व के विषय में मत पठनीय है। वे कहते हैं "भाषा शैली के अधिक व्यंजक, मार्मिक और चमत्कारपूर्ण बनाने में भी कल्पना ही कार्य करती है"।[१] "यहां पर शुक्लजी का मतसाम्य ध्वनिकार आनन्दवर्धन से है। संस्कृताचार्य राजशेखर के समान शुक्लजी भी कवि और पाठक दोनों के लिए कल्पना को अनिवार्य मानते हैं। वे कहते हैं :—काव्य की पूर्ण अनुभूति के लिए कल्पना का व्यापार कवि और श्रोता दोनों के लिए अनिवार्य है।[२] शुक्लजी अलंकारों के विधान के मूल में भी कल्पना का ही हाथ मानते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि अलंकार-विधान में उपयुक्त उपमान लाने में कल्पना ही काम करती है।[३] डाक्टर श्यामसुन्दर दास कल्पना से विहीन साहित्य या कला के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं। यह कल्पना का सबसे बड़ा महत्त्व है। वे कहते हैं—कवि ने अपनी कल्पना के बल से कितने ऐसे महान् पात्रों की सृष्टि की है जो संसार के हृदय पर शासन करते हैं और चिर काल तक करेंगे। उन्होंने कितनी ही कामिनियों का श्रृंगार सजाया है, जिन्हें देखकर मनुष्य एकांत भाव से मुग्ध हुआ है।[४] कल्पना के महत्त्व को स्थापित करते हुए डाक्टर साहब फिर कहते हैं "कुछ कवियों के लिए प्रकृति ऐसा निर्मल, सहज और स्वच्छ आनन्द देने वाली होती है जिसे सभी मनुष्य उसके दर्शन और संसर्ग से लाभ उठा सकते हैं, पर मनः कल्पना मूर्च्छित होने के कारण वे उससे अधिकांश वंचित ही रहते हैं। कवियों की वाणी उस मूर्च्छा को दूर कर देती है और जो दृश्य उनकी चेतना को जाग्रत नहीं करते थे, परम रम्य बनकर एक नवीन प्रेरणा से उनकी आत्मा को भर देते हैं।[५] डा० नगेन्द्र कल्पना की सत्ता के प्रबल समर्थक हैं। उनका मत है कि कल्पना के बिना तो काव्यशास्त्र एक पग आगे नहीं बढ़ सकता है।[६]

अब सन्त-साहित्य में कल्पना के स्वरूप पर आइये। सन्तों के साहित्य की रचना स्वभावाभिव्यक्ति तथा स्वानुभूति अभिव्यक्ति के लिए हुई। यह साहित्य

---

१. रस मीमांसा, पृ० २६५।
२. रसमीमांसा, पृ० २९९।
३. वही पृ० ३४९।
४. साहित्यालोचन, पृ० १०४।
५. साहित्यालोचन—पृ० १०६।
६. वास्तव में उस कल्पना की सत्ता के बिना तो कोई काव्यशास्त्र एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। अंतर केवल इतना ही है कि विदेश में उसे काव्य का एक अनिवार्य तत्त्व माना गया है, और यहां अनिवार्य उपकरण।
विचार और अनुभूति—पृ० २०।

सरल, शुद्ध तथा साधना में रत हृदयों की अभिव्यक्ति मात्र है। इस साहित्य का प्रयोजन या हेतु अंधकार में भटकती हुई भारतीय जनता है। उसी जनता को प्रकाश दिखाने के हेतु सन्तों ने साहित्य दीपक संजोया है। सन्तों के साहित्य आदर्श हरिस्मरण और जन-जन को प्रबुद्ध करना था। सन्त-साहित्य का वर्ण्य-विषय प्रमुख रूप से दो भागों में विभाजित है :—

(अ) आध्यात्मिक
- रचनात्मक उदाहरणार्थ सतगुरु, आत्मा, जीव, जगत्।
- आलोचनात्मक उदाहरणार्थ, माया, तृष्णा, कनक-कामिनी, तीर्थ व्रत।

(आ) सामाजिक
- रचनात्मक उदाहरणार्थ समदृष्टि, समता
- आलोचनात्मक भेदभाव, जातिपाति।

उपर्युक्त इन सभी विषयों में सन्तों की कल्पना का प्रसार हुआ। सन्तों की कल्पना का विशेष प्रसार सद्गुरु, ब्रह्म, आत्मा, माया, जगत्, विरह, प्रेम, साधु, असाधु, चेतावनी, नाम, सुमिरना आदि प्रसंगों में हुआ है। सन्त कवि कल्पना के धनी थे। उनकी समस्त कल्पनाएं सक्रिय मन की उद्भावना हैं। उनकी कल्पना-शक्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें व्यवहारिकता तथा कलात्मकता का सुन्दर समन्वय है। संतों ने भाव या वर्ण्य-विषय को ही काव्य की आत्मा या सब-कुछ मान कर बाह्यावरण तथा कलात्मक उपकरणों को जुटाने का प्रयास नहीं किया है। उन्होंने भावों की अभिव्यक्ति के लिए जिन-जिन उपकरणों को स्वीकार किया है वे सब अत्यन्त स्वाभाविक और सहज हैं। कल्पना, भाव, भाषा, रस, छन्द, अलंकार, प्रतीक विधान जो कुछ भी लीजिए सब में सन्तों की सहज प्रतिभा और जन-कल्याण-कारी भावना के दर्शन होते हैं। सन्तों ने कल्पना को काव्य में इसलिए स्थान दिया कि उनका वर्ण्य विषय अधिकाधिक प्रभावशाली, स्पष्ट तथा चमत्कारपूर्ण बन सके। अब हम उनके साहित्य से एक-एक विषय को लेकर उसमें कल्पनाशक्ति का परीक्षण करेंगे।

सतगुरु

सन्तों ने सतगुरु को ब्रह्म का पर्याय माना है। कबीर ने तो सतगुरु को ब्रह्म से भी श्रेष्ठ और अधिक पूज्य माना है। इसी हेतु उन्होंने कहा है :—

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूं पांय।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो लखाय॥

गोविन्द से भी श्रेष्ठतर सतगुरु के महत्त्व को अभिव्यक्त करने के लिए सन्तों ने अनेकानेक कल्पनाओं को जन्म दिया है। गुरु और शिष्य के हेतु कीट एवं भृंग के व्यापार की कल्पना अनेक सन्तों ने की है। इन सन्तों में कबीरदास[१] गरीबदास[२], मारवाड़ वाले दरिया साहब[३] विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कबीर ने एक साखी में गुरु के कुम्हार और शिष्य के कुम्भ होने की कल्पना की है। यह सजीव एवं स्वाभाविक कल्पना है :—

गुरु कुम्हार शिष कुंभ है, गढ़ि गढ़ि काढ़ै खोट।
अन्तर हाथ सहार दै, बाहर बाहै चोट[४]॥

सन्तों ने सत्-गुरु के लिए बधिक तथा शिष्य के लिए मृग की कल्पना की है। यहां पर कल्पना का औचित्य ध्यान देने योग्य है। इस कल्पना को अपने काव्य में स्थान देने वालों में कबीरदास[५] तथा चरनदास[६] विशेष हैं। सन्तों ने सतगुरु को सच्चा सूरमा मानकर उनकी वीरता, शब्द-बाणों, साहस, सूझ, शक्ति आदि की प्रशंसा[७] की है। इस रूपक को व्यक्त करने में उन्होंने अनेक कल्पनाओं को जन्म दिया है। कबीर[८], दादू[९], दरिया साहब (मारवाड़ वाले)[१०], चरनदास[११], गरीबदास[१२], आदि ने सतगुरु के तीक्ष्ण उपदेश, प्रभावशाली व्यक्तित्व, सशक्त प्रहार के लिए अनेक कल्पना की है। दादू[१३], मलूकदास[१४], गरीबदास[१५] दरियासाहब[१६] (बिहार वाले), दरिया (मारवाड़ वाले)[१७] चरनदास[१८] ने सतगुरु

१. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृ० २१४।
२. वही, वही पृ० १८४।३१।
३. वही, वही पृ० १२७।९।
४. वही, वही पृ० २।९।
५. वही, वही पृ० २।१८
६. वही, वही पृ० १४३।१२।
७. देखिए 'सन्त-दर्शन' में 'सन्तों के सूरमा' परिच्छेद
८. संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० ३।२१-२३।
९. वही, वही पृ० ७६।२।
१०. वही, वही पृ० १२७।२, ५।
११. वही, वही पृ० १४३।१०, ११, १३, १४।
१२. वही, वही पृ० १८२।१५।
१३. वही, वही पृ० ७६।३।
१४. वही, वही पृ० ९९।२।
१५. वही, वही पृ० १८२-१८३ साखी १८९ वं १९।
१६. वही, वही पृ० १२१।१।
१७. वही, वही पृ० १२६।३।
१८. वही, वही पृ० १४३।१४।

के जहाज, नौका, नाविक तथा कुशल तैराक होने की कल्पना की है जिसने शिष्य को भवसागर की माया मोहादि की उत्ताल तरगों में डूबने से बचा लिया। दादू ने गुण-साम्य के कारण गुरु-मुख के लिए मथानी की कल्पना की है जो शब्द-रूपी दूध से ब्रह्मानन्द रूपी घृत की प्राप्ति में सहायता प्रदान करता है।[1] इसी प्रकार वे एक साखी में उनकी कल्पना का स्वरूप दर्शनीय है :—

मन ताजी चेतन चढ़े, ल्यौकी करै लगाय।
सबद गुरु का ताजना, कोई पहुँचै साधु सुजान[2] ॥

इस साखी में कल्पना की स्वाभाविकता तथा औचित्य ध्यान देने योग्य है। सन्त सुन्दरदास ने गुरु के लिए स्वर्णकम् तथा शिष्य के लिए स्वर्ण को कल्पना की है।[3] गरीब दास ने सतगुरु के लिए पारस और शिष्य के लिए लोहे की कल्पना की है।[4] सहजोबाई ने सतगुरु के संस्पर्श से अज्ञानी के ज्ञानी होने की बात कौआ के हंस हो जाने की कल्पना द्वारा व्यक्त की है।[5] धरनीदास ने कल्पना की है सांसारिक जीवन के समस्त यश एवं वैभव धुआं के धौरहर और बालू की भीति के समान क्षणिक है। यह क्षणभंगुरता परखने की शक्ति गुरु ने ही दी।[6] दरिया साहब (मारवाड़ वाले) ने गुरु की उपमा सघन मेघों से देकर अपनी अद्भुत कल्पना-शक्ति का परिचय दिया है।[7] उन्होंने सांग रूपक के द्वारा घन रूपी गुरु के सम्बन्ध में अनेक नवीन कल्पनाएं की हैं।[8] दूलनदास ने गुरु के मुख से निकले हुए उपदेशों को चन्द्रमा से झरते हुए सोमरस की कल्पना की है।[9] सहजोबाई ने भी सतगुरु की दिव्य शक्ति के विषय में नवीन कल्पना की है। जिस प्रदेश में चींटी नहीं चढ़ सकती है, सरसों के लिए स्थान नहीं है, वहां सहजो के सतगुरु ने उन्हें पहुंचा दिया।[10] कबीर[11] की भांति सहजो ने भी

---

१. संतवानी संग्रह, भाग १, पृ० ७९।६।
२. वही, वही पृ० ७६।११।
३. वही, वही पृ० १०७।१४।
४. वही, भाग १, पृ० १८३।२८।
५. वही, भाग १, पृ० १५५।८।
६. वही, भाग १, पृ० ११२।३।
७. वही, भाग १, पृ० १२६।७।
८. वही, भाग १, पृ० १२६।८।
९. वही, भाग १, पृ० १३४।४।
१०. वही, भाग १, पृ० १५५।९।
११. वही, भाग २, पृ० २।

गुरु के रंगरेज होने की कल्पना की है ।[1] कबीर ने सतगुरु की सूझ, शक्ति सामर्थ्य और पहचान के विषय में अद्‌भुत कल्पनाएं की है । सतगुरु ने कबीर को उस दिव्य महल में पहुंचा दिया जहां जाने का रास्ता इतना चिकना है कि उस पर कदम रखना कठिन है। उस मार्ग पर अग्रसर कबीर कितनी ही बार गिरे पर सतगुरु ने उन्हें उठाया और पुनः अग्रसर किया ।[2] चरनदास अपने गुरु की महत्ता का वर्णन करते हुए उसे वेद, कल्प-वृक्ष, कामधेनु, गंगा, सूर्य, शेष, ब्रह्मा, विष्णु और महेश तक कहने के लिए उद्यत हैं ।[3] चरनदास की शिष्या दयाबाई ने अपने गुरु को करुणाकर सागर और दया का निधान कहा । वह गुणों में संलग्न मन को सात्विक बना देता है । वह काले कौए के रूप में शिष्य को हंस के समान कान्तिवान बना देता है ।[4] मलूकदास की सतगुरु के विषय में कल्पनाएं बड़ी सुन्दर हैं । उनका वह गुरु दिव्य गुणों से सम्पन्न है । वह गुरु समस्त मानवीय सीमाओं से ऊपर उठकर अलौकिकता में प्रवेश कर चुका है । वह क्षुधा, नींद, वासना, जरा, मरण से ऊपर है । वह आश्चर्यजनक कार्य सम्पादित करता है ।[5]

उपर्युक्त विवेचन से प्रकट होता है कि सतगुरु के सम्बन्ध में सन्तों की कल्पनाएं बड़ी सुन्दर और अभिनव हैं। इन कल्पनाओं के पीछे सन्तों की निर्मल बुद्धि और सूझ का आभास मिलता है। उनकी कल्पनाएं आँखों के समक्ष चित्र प्रस्तुत कर देती हैं ।

ब्रह्म

सन्तों का ब्रह्म अनादि, अनन्त, अमध्य, अजात, अलेख, अनाम, अमर, निर्विकार, निराकार, निरंजन है । सन्तों ने इस अव्यक्त ब्रह्म का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया है । ब्रह्म विषयक सन्तों की कल्पनाएं बड़ी रोचक और भक्तिभावना से भरी हुई हैं । कबीर ने उस ब्रह्म के अनुपम कमल[6], अनन्त तेज[7] तथा दरिया (मारवाड़) ने ब्रह्म के सूर्य[8] होने की कल्पना की है । कबीर ने भी

१. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृ० १५५।१० ।
२. वही, भाग १, पृ० १, पद १, २, ७ ।
३. वही, भाग १, पृ० १६५, पद १, २, ५ ।
४. वही, भाग १, पृ० १७९, पद १, ३, ७ ।
५. वही, भाग १ पृ० ५९ पद १ ।
६. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३२७ ।
७. कबीर-ग्रंथावली, पृ० १२।१ ।
८. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृ० १३१।४ ।

उसे सूर्यवत् कान्ति-वान, माना है।[१] कबीर[२] की भांति नानक ने भी ब्रह्म को कमल और मोती स्वरूप कहा है।[३] ब्रह्म के विषय में सन्तों को कमल की कल्पना योगियों से प्राप्त हुई।

जैसे सुगन्धि पुष्पों में वास करती है उसी प्रकार ब्रह्म संसार में सर्वत्र रमा हुआ है। वह अनुपम तत्त्व है। क्षीर में यथा घी निवास करता है, तिल में तेल अप्रत्यक्ष रूप से विद्यमान रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म संसार में व्याप्त है। कबीर[४], दादू[५], नानक[६], सुन्दरदास[७] आदि सन्तों ने इसी प्रकार की कल्पनाएं अपने साहित्य में प्रस्तुत की हैं। सन्तों ने ब्रह्म को पानी[८], हिम[९], अक्षय वृक्ष[१०], तरुवर[११] के रूप में भी व्यक्त किया है। दादू ने भी उस ब्रह्म को एक दिव्य वृक्ष के रूप में देखा है जिसे साधुजन अपनी भक्ति अर्पित करके हरीतिका प्रदान किया करते हैं।[१२] ऐसे ब्रह्म की महत्ता, स्वरूप, और सर्वव्यापकता को देखकर कबीर आनन्द की ओर, और आश्चर्य चकित हो उठते हैं, वे इस अनुभव को व्यक्त करते हुए कल्पना का आश्रय लेकर कहते हैं :—

(१) अविगत अकल अनूपम देख्या, कहता कह्या न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसैं, गूंगै जानि मिठाई॥[१३]

(२) अकथ कहानी प्रेम की कछु कही न जाई।
गूंगे केरी सरकरा बैठे ही मुसुकाई॥[१४]

---

१. कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १६।४३।
२. वही वही पृ० १२, १३, साखी ५, ६, ७।
३. सन्त-काव्य पं० परशुराम चतुर्वेदी पृ० २४३, पद ८।
४. सन्त-बानी-संग्रह भाग १, पृ० २३।
५. जीवैं तेल तिलन में, जीव गन्ध फुलनि।
जीवै माखन छीर में, ईवै रब्ब रूहन्ति॥ दादू
६ पुहुप मध्य ज्यों बासु वसतु है, मुकुर मध्य जैसे छाई।
तैसे ही हरि बसै निरन्तर, घट हीं खोजहु भाई॥ नानक
७. सन्तबानी संग्रह, भाग १ पृ० १०३।२।
८. वही, भाग १ पृ० १३९।
९. कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १३, साखी १७।
१०. सन्तबानी-संग्रह, भाग १, पृ० २३ साखी १।
११. सन्त-काव्य-संग्रह, परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १८०।
१२. सन्तबानी-संग्रह, भाग १, पृ० ९८।४, ५।
१३. कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ९०।६।
१४. वही, पद १५६।

कबीर ने ब्रह्म के हीरा होने की कल्पना अनेक स्थलों पर की है[1]। नानक ने उसे मणि कहा है।[2] एक साखी में कबीर की ब्रह्म तथा ब्रह्मानुभूति विषयक कल्पनाएं बड़ी रमणीय बन पड़ी हैं। यहां कबीर कहते हैं कि हरि रूपी खांड रेत में बिखरी पड़ी है, कण-कण में व्याप्त है, उसे कोई चींटी के रूप में सच्चा साधक ही प्राप्त कर सकता है। हाथी (दुष्टात्मा) उसे कभी नहीं प्राप्त कर सकता है :—

हरि है खांड रेत महि बिखरी, हाथी चुनि ना जाय।
कहि कबीर गुरु भली बुझाई, चींटी होइ कै खाय॥

सन्तों ने सृष्टि के रचयिता पर-ब्रह्म को उस कुम्हार के रूप में देखा जिसकी कला उसके समस्त बर्तनों में समान रूप से परिव्याप्त रहती है। कबीर इस प्रकार कल्पनाओं में बहुत रमें हैं।[3] कबीर की कल्पना ने ब्रह्म को जुलाहा[4], बाजीगर[5], कामधेनु[6], भर्तार[7], प्रियतम[8], पक्का रंग, मधुर रस के रूप में भी परखनेका प्रयत्न किया है। उपर्युक्त कल्पनाएं अनिर्वचनीय आनंद की ओर संकेत करती हैं। ब्रह्म की अद्वैत सत्ता का वर्णन सुन्दर कल्पनाओं द्वारा भीखा साहब ने प्रस्तुत किया है। भीखा कल्पनाओं के माध्यम से अपने दर्शन को व्यक्त करते हुए कहते हैं—

खुद एक भुम्मि आहि वासन अनेक ताहि,
रचना विचित्र रंग गढेऊ कुम्हार है।
नाम एक सोन आस, गहना है द्वैत भास,
कहूँ खरा खोट रूप, हेमहि आधार है।
फेन बुद बुद अरु हलर तरंग बहु,
एक जल जानि लीजै मीठा कहुं खार है।

---

१. सन्त-कबीर, पृ० २७१, २७२।१६१-१६२।
२. सन्त-काव्य, पृ० २६२ पद ६।
३. सन्त-कबीर, राग विलास प्रभाती पद ३।२।
वही, राग आशा—पद १६।१२।
कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १०५।५३।
४. सन्त-कबीर, राग आसा, पद ३९।
५. वही, राग सोरठ—पद ४।२ पृ० १३३।
६. कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १३७।
७. वही, पृ० ८७।
८. वही, पृ० १६१ पद २१५।

आत्मा त्यों एक जाते भीखा कहैं याही मते,
ठग सरकार के बटोही सरकार के ॥[१]

भीखा की रचना में जो भाव व्यक्त हुआ है वही भाव नानक ने 'आपे जलु आपहि तरंग' तथा आपही पुजारी आपहि देवा' कह कर भावों को व्यक्त किया है।[२] रज्जबसाहब ने यही भाव 'सब घट घटा समान है, ब्रह्म विज्जुली मांहि[३]' कह कर अपनी कल्पना-शक्ति का परिचय दिया है।

वेदान्त के 'सर्व खल्वमिदं ब्रह्म' को कबीर ने 'खालिक खलक खलक में खालिक'[४] तथा सुन्दरदास ने 'तूही में जगत यह, तूही है जगत माँहि[५]' आदि कहकर अनेक प्रकार की सुन्दर कल्पनाओं को जन्म दिया है। ब्रह्म के सम्बन्ध में पिया या प्रियतम के रूप में सन्तों की कल्पनाएं बहुत प्रसिद्ध हैं। कबीर ने अपने को राम की बहुरिया ही उद्घोषित कर दिया। कबीर के पथ[६] का अनुसरण धर्मदास[७], चरनदास[८], धरनीदास[९], जगजीवन साहब[१०], आदि सन्तों ने भी किया।

आत्मा

कंठोपनिषद में आत्मा के लिए 'न जायते म्रियते वा'[११] कहकर उसकी शाश्वतता तथा मांडूक्योपनिषद् में उसे आवरणशून्य, प्रकृति से निर्मल, नित्य बुद्धि और मुक्त कहा गया है।[१२] सन्तों ने उपनिषदों के आधार पर ही आत्मा को ब्रह्म का स्वरूप, अविनाशी का अंश आदि अनेक प्रकार की कल्पनाओं के आधार पर प्रमाणित किया है। सन्तों की आत्मा विषयक उक्तियां दो प्रकार की हैं—(१) विचारात्मक तथा (२) भावात्मक। विचारात्मक उक्तियों का आधार

१. संतबानी-संग्रह, भाग २, पृ० १९६।
२. सन्त काव्य, परशुराम चतुर्वेदी पृ० ३००। पद ३।
३. वही, भाग २, पृ० ३००।३।
४. कबीर-ग्रन्थावली भाग २, पृ० १०४ पद ५७।
५. सुन्दरग्रन्थावली, भाग २, पृ० ६४५।
६. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १२५ पद ११७।
७. सन्त काव्य, पं० परशुराम चतुर्वेदी पृ० २८०। पद १।
८. चरनदास की बानी, पृ० ४७।
९. सन्त-काव्य, पृ० ४०३। पद ७।
१०. वही, भाग २, पृ० ४३३ पद १४।
११. कंठोपनिषद, १, २, १८।
१२. मांडूक्योपनिषद, ९८।

अद्वैतवाद से है और भावात्मक उक्तियों का अधिक सम्बन्ध उनकी रहस्यानुभूति से है। पहले हम विचारात्मक उक्तियों पर विचार करते हुए सन्तों की कल्पना का उत्कर्ष देखेंगे। कबीर ने आत्मा एवं ब्रह्म की अभिन्नता कुंभ और जल की कल्पना द्वारा व्यक्त की है।[१] कबीर[२] और मलूकदास[३] कल्पना शक्ति के द्वारा अपने को संसार के कण-कण में परिव्याप्त और प्रविष्ट पाते हैं। सन्त कबीरदास ने आत्मा के लिए शुक की कल्पना की है जो शरीर रूपी पिंजड़े में बंद है।[४] इसी प्रकार गरीबदास ने भी आत्मा के लिए सुए की कल्पना की है।[५] एक पद में कबीर ने आत्मा के लिए मीन का प्रयोग किया है जो ब्रह्म रूपी जल के अभाव में तड़पती रहती है।[६] कबीर ने आत्मा के लिए चक्रवाक[७] और यारनी ने विहंगम[८] की कल्पना की है। आत्मा के लिए हंस की कल्पना सन्त साहित्य में बहुत प्रचलित है।[९] कबीर ने माया से ग्रस्त आत्मा के लिए कमलिनी[१०] तथा मलूकदास ने कली या फूल[११] की कल्पना की है। इसी प्रकार कबीर ने आत्मा के लिए भ्रमरी[१२] का प्रयोग कल्पना के आधार पर किया है।

सुंदरदास ने अपनी उत्कृष्ट कल्पना के आधार पर काया को उद्यान और आत्मा को माली माना है।[१३] आत्मा को दीपक की उपाधि देना प्राचीन परम्परा है। कबीर[१४] तथा सुंदरदास[१५] ने आत्मा को दीपक के रूप में देखने का प्रयत्न

---

१. जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना यह तत कथ्यौ गियानी ॥
कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १०३, पद ४४।

२. कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १०४ पद ५०।

३. सन्त-काव्य, पृ० ३५७।

४. कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १०१ पद ४।

५. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृ० २०७ साखी १।

६. कबीर का रहस्यवाद, पृ० ३६।

७. सन्त-काव्य, पृ० ३९७ पद ४ तथा कबीरग्रन्थावली, पृ० १४ साखी २०।

८. वही, पृ० २६६ सं० १२६।

९. कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १५ सं० ३९ तथा कबीर का रहस्यवाद पृ० ३१

१०. वही, पृ० १०८ पद ६४।

११. सन्तबानी संग्रह, भाग १. पृ० १०५। ६।

१२. कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २१७ पद ३८८।

१३. सुन्दरन्दर्शन, पृ० २५०।

१४. कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ७३।१७।

१५. सुन्दर-दर्शन, पृ० २५०।१।

किया है। इस स्थान पर कबीर ने शुद्धात्मा जीव के लिए निर्मल बूंद की कल्पना की है।[1]

अब हम सन्तों की आत्मा सम्बन्धी उन उक्तियों पर विचार करेंगे जो रहस्यात्मक हैं। ये रहस्यात्मक उक्तियां बड़ी मधुर और सुन्दर हैं। सन्तों ने आत्मा को बहुरिया या प्रियतमा के रूप में देखने का प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से कबीर[2], सुन्दरदास[3], दूलनदास[4], उल्लेखनीय हैं।

सन्तों ने आत्मा के लिए मृग, हंस, भ्रमर, मीन, चकोर, हिम, जल, खेत आदि प्राकृतिक तत्त्वों की कल्पना की है। साथ ही उन्होंने बहुरिया, दीपक कलवारिन[5] आदि सामाजिक विषयों को लेकर कल्पना का उत्कर्ष दिखाया है।

माया

सन्त-काव्य में माया के दो रूपों का उल्लेख हुआ है। प्रथम है विद्या माया, द्वितीय अविद्या माया।[6] सन्तों ने विद्या माया की वंदना और अविद्या माया की कटु निन्दा की है। सन्तों ने अविद्या माया को भी माया ही कहा है और उसकी प्रकृति का उल्लेख करते हुए कल्पना के द्वारा कबीर ने कहा है 'माया महा-ठगिन हम जानी।' संतों ने भी माया को वेदान्त की भांति भावमय भ्रान्ति माना है। कबीर उसे मीठी होने की कल्पना करते हैं जो भोले मनुष्यों को भुलावे में डालकर खा जाती है।[7] माया के ठगिनी रूप की कल्पना कबीरदास[8], पल्टूसाहब[9] आदि सन्तों ने की है। कबीर उसे बारम्बार डाइन[10], पापिणी[11], कड़वे मुख वाली[12], कहा है। दादू ने माया के प्रथम मृदुभाषी तदनन्तर 'काढ़ि कलेजा

१. सन्त-कबीर, पृ० २७६।
२. बीजक, शब्द ११७।
३. सन्तवानी, संग्रह, भाग १, पृ० १०९।
४. सन्तवानी संग्रह, भाग २, पृ० १४६ पद १।
५. सन्त-कबीर, डा० वर्मा, पृ० २०२, रागु केदारा ३।
६. माया है दुइ भांति की, देखी ठोकि बजाय।
एक गहावै रामपै, एक नरक लै जाय॥
कबीर।
७. कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १६६, पद २३१।
८. कबीर-वचनावली, पृ० ५४।५४३।
९. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृ० २१९।६।
१०. कबीरग्रन्थावली, पृ० १६८ पद २३९।
११. वही पृ० २३२।२।
१२. वही, पृ० १८०।२६९।

खाय' होने की कल्पना की है ।[१] कबीर के मत से यह मोहिनी[२], डाकिनी[३], सर्पिणी[४] तथा शिकारिन[५] है। सन्त पलटू साहब की कल्पना है कि माया कलवारिन विष घोल कर सबको देती है। इसके विष का प्रभाव घातक होता है ।[६] दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की कल्पना है कि इस माया के विषाक्त प्रभाव से न गृहस्थ बचे, न त्यागी। इसका पति मोह है, पंच विहार इसके पुत्र हैं, पच्चीस प्रकृतियाँ इसके कुटुम्बी हैं, पाप-पुण्य इसके पड़ोसी हैं तथा वासनाएं इसके पौत्र हैं। दरिया साहब का यह रूपक सुन्दर कल्पनाओं से सम्पन्न है।[७]

माया के सम्बन्ध में कबीर की कल्पनाएं तर्क पूर्ण तथा स्वाभाविक उपमाओं से पूर्ण हैं। कबीर उसे वेश्या की समकक्ष मानते हैं।[८] वेश्या की भांति वह भी सबको अपने पाश में बांध लेती है। माया के व्यापार के लिए कबीर ने छाया की कल्पना की है। यह 'भगता के पीछे फिरै, सनमुख भागै सोय।'[९] इस कल्पना में सम्बन्ध भावना का सुन्दर निर्वाह हुआ है। सन्त गुलाल साहब की कल्पना है कि यह सब प्रकार का भोग करने पर भी कुमारी कन्या ही बनी है। वह अपने मोह जाल में संसार को बाँधे है[१०]।

कबीर ने माया के लिए पानी,[११] दीपक, जिसमें मनुष्य रूपी कीड़े नष्ट होते हैं[१२], कल्पना की है। मलूकदास उसे मिश्री मानते हैं।[१३] दादू ने उसके कमल होने की कल्पना की है। दीपक की भांति कमल भी आकर्षण की शक्ति से सम्पन्न है।[१४] माया की चक्की में पिसते हुए संसार की कल्पना[१५] कबीर और पलटू साहब[१६]

---

१. सन्तवानी संग्रह, भाग १, पृ० ९७ सा० १००।
२. कबीर वचनावली पृ० ५४।५४६।
३. कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ३४।२१।
४. सन्त-कबीर, पृ० १०९ राग आसा, पद १९।
५. कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १५१ पद १८७।
६. पलटू साहब की बानी, भाग २, पृ० ३८ पद ८३।
७. सन्तवानी संग्रह, भाग २, पृ० १४० पद १५।
८. वही, भाग २, पृ० ५७ सा० ४।
९. वही, भाग २, पृ० ५७ सा० १।
१०. सन्त काव्य, पृ० ४२४ पद ८।
११. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ११५ पद ८६।
१२. वही, पृ० ३।२०।
१३. सन्तवानी-संग्रह, भाग १, पृ० १०३।१।
१४. वही, भाग १, पृ० ९७।११।
१५. चलती चकिया देखकर दिया कबीरा रोय।
दुहु पट बीच में आय के जिन्दा बचा न कोय॥
१६. पलटू साहब की बानी भाग १, पृ० ७९।

ने की है। माया ऐसा तरु है जो काटने से हरियाली और सींचने से कुम्हला जाता है।[१] यह त्रिगुणात्मक सत्ता का वृक्ष है जिसकी छाया में कष्ट ही कष्ट है।[२]

जगत

मुण्डकोपनिषद में जगत् की उत्पत्ति के विषय में अनेक प्रकार की मधुर कल्पनाएं की गई हैं। कहा गया है कि 'यथा मकड़ी अपने जाले का निर्माण करती है और पुनः निगल जाती है, यथा पृथ्वीमण्डल में औषधियों का विकास होता है तथा यथा जीवित व्यक्ति के शरीर में लोम विकसित होते हैं तथैव अक्षर से विश्व समुत्पन्न हुआ है।'[३] आचार्य शंकर की कल्पना है कि संसार की उत्पत्ति 'शब्द' से हुई है।[४] बौद्धों की कल्पना है कि संसार स्वप्नवत और मायिक है। सन्त कवि इस विषय पर आचार्य शंकर से प्रभावित हैं। सन्तों की दृष्टि में संसार अनित्य एवं विनाशशील है।' सांसारिक ऐश्वर्य क्षणिक है। संसार बालू की भित्ति के समान क्षणिक और अस्थायी है। यह संसार रात्रि के स्वप्न के समान क्षणिक एवं निःसार है।[५] नानक की कल्पना है कि 'सकल जगत है जैसे सपना बिनसत लगत न बार' तथा 'बारू भीति बनाई रचिपचि रहत नहीं दिन चारी।'[५] कबीर भी संसार को विवर्त मानते हैं और उसके लिए स्वप्न की कल्पना करते हैं।[६] कबीर के समान दादू की विचारधारा है। उनकी भी कल्पना है कि इस संसार में 'भरमि विलास बहुत विधि कीन्हा, ज्यों सपने सुख पावै।'[७] इस प्रकार सहजो ने भी स्वप्न की कल्पना की है। संसार की नश्वरता देखकर कबीर ने उसके लिए कागद की पुड़िया की कल्पना की है।[८] सहजोबाई ने संसार की अस्थिरता

---

१. कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ८६।३।

२. कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ३४।२।

३. यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
   यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीति विश्वम्॥
   मुण्डकोपनिषद, १।७।

४. वेदान्तसूत्र भाष्य १।३।२२।

५. सन्तकाव्य, पृ० ३७४ पद १५।

६. कबीर वचनावली, पृ० १८३ पद २१२।

७. भरम विलास बहुत विधि कीन्हा, ज्यों सपने सुख पावै।
   जागत झूठ तँह कछु नहीं फिर पीछे पछितावै॥
   सन्तवानी संग्रह, भाग १।

८. सन्तबानी-संग्रह, भाग १, पृ० १६३।६।

के लिए भोर की ताराओं की कल्पना की है[१]। ओस के समान यह संसार क्षणिक है। अंजली के जल के समान यह अस्थायी है[२]। कबीर की कल्पना है कि यह संसार सेंवल के फूल के समान है[३]। तथा वह वृक्ष है जिसमें दुःखदायी छाया है।[४] सुन्दरदास की कल्पना है कि जगतरूपी वृक्ष की जड़ अविद्या माया है।[५] इस संसार के अंधे होने की कल्पना बहुत से सन्तों ने की है। कबीर[६] दादू[७], सुन्दरदास[८] इस प्रकार की कल्पना करने में बड़े निपुण हैं। संसार के लिए भट्टी[९], हाट[१०] की कल्पना भी सन्तों ने की है। कबीर ने संसार के लिए जल (तरंग)[११], कनक, कुण्डल[१२] तथा सुन्दरदास ने कनक[१३] की कल्पना की है। कबीर की संसार विषयक निम्नलिखित कल्पना बड़ी सुन्दर है :—

पानी ही ते हिम भया, हिम ह्वै गया विलाय।
जो कुछ था सोई भया, अब कछु कह्या न जाय ॥[१४]

विरह

नारद के 'भक्तिसूत्र' में विरह को प्रेम का राजमार्ग कहा गया है। सूफियों की साधना का तो विरह प्राण ही है। शृंगार रसराज है और विरह उसका प्राण। आध्यात्मिक विरहानुभूति का साहित्य में विशेष महत्त्व है। ईश्वर-पति को प्राप्त करने के हेतु साधना-पक्ष पर अग्रसर साधक की, आत्मा रूपी नारी को कभी-कभी लक्ष्य प्राप्ति में निराशा प्रतीत होती है। नैराश्य के इन्हीं क्षणों में अभिव्यंजित सन्तों की अनुभूतियां साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। अंग्रेजी साहित्य में कल्पना के आधार पर इसे 'डार्क नाइट ऑफ दि सोल' कहा

---

१. कबीर वचनावली, पृ० १८२, पद २१०।
२. वही, भाग १, पृ० १६३।१०।
३. कबीर ग्रन्थावली, पृ० २१।१३।
४. वही, भाग १, पृ० १२३ पद ११२।
५. सुन्दर-दर्शन, पृ० २२६।
६. सन्तवानी-संग्रह, भाग २, पृ० २४ पद २।
७. वही, भाग २, पृ० ९३।१।
८. सुन्दर-दर्शन पृ० २२७।
९. सन्तकबीर, डा० वर्मा पृ० ७७, पद २, रागराम कली।
१०. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६८ पद २३५।
११. वही भाग २ पृ० १३७।
१२. कबीर ग्रन्थावली पृ० १३७।
१३. सुन्दर-दर्शन, पृ० २२७।
१४. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १३।

गया है। विरह में प्रवाहित अश्रुओं के लिए कबीर ने रहट के व्यापार की कल्पना की है[1]। कबीर ने विरह-पीड़ित भक्त के नेत्रों के लिए विरक्त योगी की कल्पना की है जिसके हाथ में विरह-कमण्डल है[2]। एक साखी में कबीर ने विरहिणी नारी के लिए 'जल बिन मच्छी' की कल्पना की है[3]। कबीर[4] और सन्त तुलसी साहब[5] ने प्रियतम के पास विरहिणी द्वारा सन्देश भेजे जाने की कल्पना की है। परन्तु सन्त दादू की विरहिणी मौन, और शान्त है। उसकी दशा बड़ी शोचनीय और दयनीय है। प्रिय का पथ देखते-देखते उसके केश श्वेत हो गए।[6] दरिया साहब ने विरहिणी आत्मा के वन-बन भटकने की कल्पना की है। यह आत्मा सतत प्रियतम की खोज में अनुरक्त रहती है[7]। कबीर के शरीर में विरह-भुजंगम ऐसा पैठ गया है कि कोई औषधि कार्य ही नहीं करती है[8]। यहां कबीर की यह कल्पना बड़ी भावमयी है। अब यह विरह-भुजंग कबीर के शरीर के अंग-अंग को खा रहा है।[9] विरह-ज्वर ऐसा तीव्र है कि वह आठों प्रहर कबीर के शरीर को विदग्ध किए रहता है।[10] विरह की अन्तिम दशा मृत्यु है जिसकी कल्पना भी कबीर ने की है। इस स्तर पर कबीर का शरीर रक्त, मांस रहित होकर अस्थि-पंजर मात्र रह गया है[11]। कबीर को विरह ज्वर की तीव्रता इतनी अधिक है जिस वृक्ष के नीचे वे शैतल्य प्राप्त करने के लिए बैठते हैं, वह स्वयं जल उठता है।[12] सुन्दरदास की विरहिणी अन्दर ही अन्दर पूर्णतया जलकर भस्म हो जाना चाहती है, जिसमें धुवां भी न निकले।[13]

विरह के सम्बन्ध में कबीर की कल्पनाएं विविधता-पूर्ण हैं। कबीर विरहिणी

---

१. सन्त-बानी-संग्रह, भाग १ पृ० १५।५।

२. सन्तबानी-संग्रह, पृ० १५।१३।

३. सन्तबानी-संग्रह, भाग १, पृ० १४।१।

४. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८।५।

५. सन्तबानो संग्रह, भाग २, पृ० २२।४६।

६. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृ० ८।१२।

७. वही , वही पृ० १२८।४।

८. वही , वही पृ० १५।९।

९. वही , वही पृ० १५।१०।

१०. वही , वही पृ० १५।१२।

११. वही , वही पृ० १६।२१।

१२. वही , वही पृ० १७।२७।

१३. वही , वही पृ० १०९।२।

के लिए गीली लकड़ी की कल्पना करते हैं।[१] साईं विरह की जलती हुई लकड़ी को देखकर दया पूर्वक प्रेम बूंद की बरसा करने लगे।[२] मारवाड़ वाले दरिया साहब ने विरह व्याकुल आत्मा के लिए ऐसी व्यथा की कल्पना की है कि उसका शरीर पीला पड़ गया है, मन का माधुर्य समाप्त हो गया है, दिन-रात नींद नहीं आती, भूख विलीन हो गई है।[३] दादू ने विरह से पीड़ित नारी की आंखों के लिए तलइया तथा अश्रुओं के लिए जलधर की कल्पना की है।[४] धरनीदास ने आत्मा रूपी प्रेयसी के ब्रह्म के वियोग में सूखकर कांटा होने[५] तथा प्रियतम प्राप्ति की महती कठिनाई को पर्वत पर चढ़ने की क्रिया से तुलना करते हुए अपनी कल्पना का नया रूप दिखाया है।[६]

विरह-सम्बन्धी कल्पनाओं में कबीर, दरिया साहब तथा तुलसी साहब की कल्पनाएं अधिक सजीव तथा मर्मस्पर्शी हैं। व्यथित आत्मा के लिए विरहिणी की कल्पना, तदनन्तर उसके विविध व्यापारों एवं विरह दशाओं को लेकर भक्त की साधना के साथ सम्बन्ध भावना का जैसा विकास व्यक्त किया गया है वह सन्तों की तीव्र कल्पना शक्ति का परिचायक है।

प्रेम

सन्तों की साधना का केन्द्र विन्दु प्रेम है। भक्ति में प्रेमतत्व की ही प्रधानता है। प्रेम हृदय-जगत् का व्यापार है। प्रेम में एकांतिकता तथा अनन्यता होती है। प्रेम को लेकर साहित्य में एक-से-एक सुन्दर और अद्भुत रूपकों की रचना की गई है। प्रेम की अनन्यता को लेकर कोटिशः कल्पनाएं प्रस्तुत की गई हैं। प्रसिद्ध बाउल कवि मदन की निम्नलिखित दो पक्तियों में सुन्दर कल्पना-विधान मिलता है—

> **प्रेमरे मोल प्रेमरे बन्दा, नारे दुख नारे सुख।**
> **प्रेमरे रसिक यहि रे बन्दा, प्रेम पियासे प्रेम भूख॥**

बाउल की भांति प्रेम को लेकर सन्तों ने सुन्दर-सुन्दर कल्पनाओं का विधान किया है। कबीर के मत से प्रेम के घर में प्रवेश का अधिकारी वही है जो

---

१. सन्तबानी-संग्रह-भाग १, पृ० १७।३०।
२. वही वही, पृ० १५।३।
३. वही वही, पृ० १४५।५।
४. वही वही, पृ० ८१।१०।
५. वही वही, पृ० ११३।१।
६. वही वही, पृ० ११३।२।

विनम्रता ग्रहण करके आत्मसमर्पण कर दे। प्रेम का घर खाला का घर नहीं है।[१] प्रेम से रहित हृदय श्मशान है।[२] सन्त भीखा साहब कबीर की भांति सच्चे प्रेमी के लिए अहं भाव का परित्याग आवश्यक मानते हैं। प्रेमी को प्रिय प्राप्त करने के लिए सिर का मूल्य देने की कल्पना भीखा साहब ने की है। गूँगे के गुड़ के समान वे प्रेम का महत्त्व नहीं वर्णन कर पाते हैं[३]।

सन्त दरिया साहब की कल्पना है कि प्रेम दूरी नहीं देखता। चन्द्रमा के आकाश में उदय होते ही कुमुदिनी विकसित हो जाती है। चातक स्वाती के बूंद की आशा में प्यासा ही मर जाता है[४]। सन्त कबीर ने मछली का दृष्टान्त देकर अपने प्रेम की गहनता का परिचय दिया है।[५] प्रीति की रीति में भीखा साहब ने तुलसीदास की भांति चातक का आदर्श स्वीकार किया है।[६] कबीर ने प्रेम के प्याले और प्रेम की मदिरा की सुन्दर कल्पना की है जिसको पीते ही सब ध्यानमान बिसर जाते हैं।[७] इसी नशे की कल्पना दयाबाई ने भी की है। हरि रस में छक जाने के बाद "अब थके नेम व्रतनाहि"[८]। प्रेम का मादक नशा उन्हें व्याकुल किए हुए हैं[९]। मलूकदास ने प्रेम के लिए पखावज यन्त्र की कल्पना की है जो आठों पहर उनके शरीर में ध्वनित रहता है।[१०] दूलनदास ने शरीर में प्रेम रूपी वृक्ष की कल्पना की है जिसकी छाया में त्रिविध तापों से सन्तप्त होकर उनके समस्त तत्त्व और प्रकृतियां विश्राम करती हैं।[११] पलटू साहब ने प्रेम के रंग की कल्पना और तुलना मंजीठ रंग से की है।[१२] स्वाती के साथ चातक, जल के साथ मीन का जो सम्बन्ध है उसकी कल्पना सन्त नानक ने ब्रह्म के साथ की है।[१३] मीरा ने प्रेम की परिभाषा देते हुए चन्द्र, एवं चकोर,

---

१. सन्तबानी-संग्रह, भाग १, पृ० १८।१,२।
२. वही , वही पृ० १९।९।
३. वही , भाग २ पृ० २१०।२।
४. वही , वही पृ० १३९।६-७।
५. वही , वही १ पृ० १९।१३।
६. वही , वही २ पृ० १९३।१।
७. वही , भाग १, पृ० २०।२३।
८. वही , वही पृ० १७२।१।
९. वही , वही पृ० १७२।२।
१०. वही , भाग १, पृ० १०१।८।
११. वही , वही पृ० १३७।३।
१२. वही , वही पृ० २१५।४।
१३. वही , वही पृ० ४४।४।

दीपक तथा पतंग, जल और मीन के अनन्य सम्बन्धों की कल्पना की है[१]। इसी प्रकार बुल्ला साहब जल, मीन, स्वाती-सीप, चंद और चकोर का सम्बन्ध भावना की कल्पना अपने और ब्रह्म के प्रेम में की है।[२]

साधु

सन्त वा साधु शब्द का प्रयोग भर्तृहरि ने परोपकारी के लिए किया है।[३] और कवि कालिदास ने उसका प्रयोग बुद्धिमान् के अर्थ में किया है।[४] रामचरितमानस में सन्त, सज्जन, सत्पुरुष एवं भक्त आदि पर्याय माने गए हैं। कबीर साधु के स्वभाव की कल्पना सूप से करते हैं जो सार वस्तु को ग्रहण करके असार को उड़ा देते हैं।[५] सूप के समान सन्त के सारग्राही गुण की प्रशंसा सन्त तुलसी साहब ने भी की है।[६] कबीर ने सन्त के लिए घन[७], हंस[८], तथा तलवार[९] की कल्पना की है। सन्त दादू ने साधु की प्रकृति तथा स्वभाव के लिए पारस[१०] और चन्दन[११] की कल्पना की है। कल्पना-शक्ति के माध्यम से सन्त पलटू साहब ने चन्दन एवं चन्द्रमा की शीतलता को सन्तों पर आरोपित की है।[१२] कबीर ने साधु को गन्धी कह कर उसके ज्ञानोपदेश के लिए इत्र और सुगन्ध की कल्पना की है।[१३] चन्दन के सम्पर्क में रहकर जैसे नीम सुगन्धित हो जाती है उसी प्रकार साधु के सम्पर्क में रहकर असाधु भी सज्जन हो जाते हैं।[१४] दूलनदास की कल्पना है कि जैसे विभिन्न प्रकार के पुष्पों में एक ही प्रकार की सुगन्धि व्याप्त रहती है उसी प्रकार सन्त सर्वत्र व्याप्त रहते हैं।[१५] सहजो के अनुसार जो जाति-वर्ण का

---

१. सन्त-बानी-संग्रह, भाग २ पृ० ६९।१।
२. वही , भाग २ पृ० १५९।२।
३. सन्तः स्वयं परहिते विहिताभि योगः।
४. सन्तः परीक्षान्यत रद मजन्ते मढः पर प्रत्यनैय वद्धिः।
५. कबीर-वचनावली, पृ० ९।७८।
६. सन्त-बानी-संग्रह, भाग १, पृ० २३७।८।
७. वही , वही पृ० २७।१।
८. वही , वही पृ० ३३।२।
९. वही , वही पृ० ३३ ३।
१०. वही , भाग १, पृ० ८६।१,२।
११. वही , वही पृ० ८७।३।
१२. वही , वही पृ० २०८।२।
१३. वही , वही पृ० १२९।६।
१४. वही , वही पृ० ३०।२।
१५. वही , वही पृ० १३९।१।

त्याग करके सन्तों में मिल जाता है वह वैसे ही पवित्र हो जाता है जैसे गंगा में मिल कर नदियों का पानी पवित्र हो जाता है।[१] दया बाई साधु के निर्भय स्वभाव के कारण सिंह की कल्पना करती हैं।[२] सहजो उसके हंस होने की कल्पना करती हैं जो भक्ष्य-अभक्ष्य को त्याग कर हरि रूपी मोती को ही ग्रहण करता है।[३] गरीबदास अपनी कल्पना के उत्कर्ष द्वारा वृक्ष, नदी और साधुजन को एक ही श्रेणी में रख देते हैं।[४] वृक्ष के रूप में साधुओं की परमार्थी भावना का उल्लेख कबीर[५] और पल्टू दास[६] ने भी किया है।

साधु माया के स्पर्श से परे और पृथक् है। इस बात की पुष्टि के लिए रज्जब साहब[७] तथा गरीबदास[८] ने भांति-भांति की कल्पनाएं की हैं। कोई उन्हें पाषाण के रूप में देखता है जो माया जाल के स्पर्श से ऊपर है; कोई उन्हें दर्पण की उपाधि देता है जिसमें दिखाई संसार देता है पर विद्यमान कुछ नहीं होता है।

साधु और परमात्मा का वही सम्बन्ध है जो गाय और बछड़े में है। भगवान् उसी प्रकार सन्त की रक्षा करते हैं यथा गऊ बछड़े की रक्षा करती है।[९] दादू ने भी सारग्राही साधु के लिए 'वच्छ' शब्द का प्रयोग किया है।[१०] सुन्दरदास ने साधु के लक्षणों का उल्लेख करते हुए उसके स्वभाव एवं प्रकृति के निरूपण में पौराणिक सामाजिक व्यापारों की कल्पना की है।[११] पल्टू तथा अन्य सन्तों ने साधु के लिए पारस की कल्पना की है और कबीर की कल्पना है कि साधु, सिंह, हंस स्वभाव की दृष्टि से एक-दूसरे के पर्याय हैं।

असाधु

'रामचरित मानस' में खल-वन्दना एक विशेष रोचक प्रसंग है। इसी

---

१. सन्त-बानी-संग्रह, वही पृ० १५८।३।
२. वही , वही पृ० १७८।५।
३. वही , वही पृ० १५८।४।
४. वही , वही पृ० १९८।४।
५. वृक्ष कबहु नहि फल भखै, नदी न संचै नीर।
परमारथ के कारनै, साधुन धरा सरीर॥
६. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृ० २८१।३।
७. सन्तकाव्य पृ० ३७५।९।
८. सन्तबानी-संग्रह, भाग १, पृ० १९९।११।
९. वही , भाग १, पृ० १९९।१७।
१०. वही , वही पृ० ८९।४।
११. वही , भाग २, पृ० ११२।

प्रकार सन्त-साहित्य में खलवंदना एक रोचक प्रकरण है।[१] यथा सन्तों के महत्त्व और व्यक्तित्व के वर्णन में सन्त कवियों का कल्पना-उत्कर्ष पठनीय है उसी प्रकार असाधु या खलों के व्यक्तित्व का विश्लेषण सुन्दर कल्पनाओं के द्वारा सम्पन्न हुआ है।[२] असाधु, वक के समान देखने में स्वच्छ, किन्तु कृत्यों में बड़े मलीन होते हैं।[३] दादू की कल्पना है कि यथा 'पयः पानं भुजंगानाम केवलं विष वर्द्धनम्' होते हैं उसी प्रकार असन्तों की सहायता करना घातक है।[४] असाधुओं को सन्तों के सत्संग में चाहे जितना रखा जाय, वे अपरिवर्तनशील हैं, यथा चन्दन में लिपटा रहने वाला सर्प।[५] उनका अभ्यन्तर दया रूपी जल से कभी नहीं भीग सकता है।[६] कबीर के समान ही गरीबदास भी असन्तों के बगुला रूप से बचे रहने का उपदेश देते हैं।[७] वे कहते हैं कि असन्तों का हृदय कमली के सदृश काला और अपरिवर्तनशील है।[८] मलूकदास की कल्पना है कि असन्त पत्थर है। पत्थर पर तलवार मारने से तलवार की ही हानि है।[९] सौ मन साबुन से धोने पर कौए के रूप में काले हृदय वाले दुर्जन का सुधार कभी नहीं हो सकता है। कुत्ते की पूंछ के समान वह सदैव टेढ़ा ही रहेगा।[१०] सन्त तुलसी साहब ने साधु के लिए मोती और असाधु के लिए शंख की कल्पना की है।[११] सन्त पलटू साहब ने असन्तों के कुटिल व्यापार का रोचक वर्णन किया है। उनकी दृष्टि में असन्त, सन, सुतली, पर्याय है। ये सब दूसरे को कष्ट पहुंचाते हैं। ये बन्धन में डालने वाले हैं।[१२]

चेतावनी

चेतावनी सन्त-साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग है। चेतावनियों में सन्तों की काव्यकला, चमत्कार और कल्पना का उत्कर्ष बड़ा सुन्दर बन पड़ा है।

१. सन्त-वानी-संग्रह, वही पृ० २११।१।

२. सिंहों के लहड़े नहीं, हंसों की नहि पांति।
लालों की नहि बोरियाँ, साधु न चलै जमात॥

३. सन्त-बानी-संग्रह, भाग १, पृ० २९।२।

४. वही , वही पृ० ८८।३।

५. वही , वही पृ० ८८।१-२।

६. वही , वही पृ० ९९।४।

७. वही , भाग १, पृ० २०१।१।

८. वही , वही पृ० २०१।४।

९. वही , वही पृ० १०२।३।

१०. वही , वही पृ० १०२।

११. वही , वही पृ० २३५।१।

१२. वही , वही भाग २, पृ० २०९।

चेतावनी दो प्रकार की है—सामाजिक तथा आध्यात्मिक। कबीर की चेतावनी विशेष प्रभावशाली और रोचक है। ब्रह्म से विमुख, भौतिकता में संलग्न मानव को सचेत करते हुए कबीर ने शरीर की नश्वरता का प्रत्यक्षीकरण लकड़ी और घास के जलने की कल्पना द्वारा किया है[१]। काल मानव को उसी प्रकार खा जाता है यथा मनुष्य चवेना खाता है।[२] मनुष्य देखा-देखी मृत्यु के मुख में उसी प्रकार प्रवेश करता है[३]। यथा भेड़ एक के बाद दूसरी का अन्धानुकरण करती है।[४] इसी प्रकार शरीर के लिए कच्चा कुम्भ[५], अहं के लिए बलाय[६], शरीर के लिए तरुवर[७], आत्मा के लिए बटोही, पंच तत्व २५ प्रकृति और तीन गुण के लिए चोर[८],संसार के लिए दुःख-दरिया[९],शरीर के लिए बालू की भीति[१०], सुख के लिए कंकड़-पत्थर[११], माया के हेतु आग[१२], माया से संलग्न मानव के लिए जल की मछली[१३], नाम और उपदेश से रहित के लिए कौवा[१४], सांसारिक सम्बन्ध के लिए नदी-नाव संयोग[१४], सांसारिक आशा के लिए ओस[१५] आदि की कल्पना बड़े सजीव रूप में सन्तों ने की है।

नाम

सन्तों ने नाम के सम्बन्ध में विविध प्रकार की कल्पनाएं की हैं। इन कल्पनाओं में कलात्मकता, स्वाभाविकता और सजीवता है। सन्तों ने नाम के

---

१. सन्त-वानी-संग्रह, वही भाग १, पृ० ८।२।
२. वही , भाग १, पृ० ६।३।
३. वही , वही पृ० ११।३३।
४. वही , भाग १, पृ० ११।३३।
५. वही , वही पृ० १०।२०।
६. वही , वही पृ० ११।२।
७. वही , वही पृ० १३।४८।
८. वहीं , वही २ पृ० ४।५।
९. वही , भाग १ पृ० ७९।४।
१०. वही , वही पृ० १०१।४।
११. वही ’ वही पृ० १००।३।
१२. वही , वही पृ० १०१।८।
१३. वही , वही पृ०१११।२।
१४. वही , वही पृ० १२८।२।
१५. वही ., वही पृ० १३६।१।

लिए आदि मूल, वृक्ष[१], पारस[२], नाव[३], जहाज[४], रसायन[५] रवि-शशि[६], रत्न[७], खेती[८], साधना, बन्धन, भाई, सहायक, निधि[९], रत्न, रस[१०], घी[११] तथा मणि और दीप की कल्पना की है।

सुमिरन

सुमिरन के सम्बन्ध में सन्तों की कल्पनाएं भी उल्लेखनीय हैं। सुमिरन के लिए सन्तों ने सहारा[१२], गति[१३], दाम[१४], हल[१५], हीरा[१६], पारस[१७], नाव[१८], धागा[१९], की कल्पना की है।

विनय

नम्रता या विनय का जीवन में विशेष महत्त्व है। साधनात्मक जीवन के लिए तो यह गुण अनिवार्य है। सन्तों ने विनय या विनम्रता को धारण करने के लिए अनेक उपदेश दिए हैं। विनम्रता के लिए सन्तों ने वरदान, मेघ, गुण, गुड़, शीतल वायु आदि की कल्पना की है।

यहां तक सन्त काव्य के प्रमुख वर्ण्य विषयों को लेकर कल्पना विधान का

---

१. संत-बानी-संग्रह, वही पृ० १५६।५।
२. वही , वही पृ० ४।२।
३. वही , वही पृ० ४।१, पृ० १२७।३, पृ० १५५।७, पृ० १३५।१३ पृ० १८४।१, पृ० २१४।३।
४. वही , वही पृ० १६८।
५. वही , वही पृ० १५५।३, पृ० २१४।२।
६. वही , वही पृ० १२७।७, पृ० ५।३९।
७. भक्ति-विवेक
८. संत-कबीर पृ० २४२। रागुविभास, पद १।
९. कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २११ पद ३३३।
१०. सन्तबानी-संग्रह भाग १, पृ० १८५।२०।
११. वही , वही पृ० १०८।६ तथा पृ० २३९।५।
१२. कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १९६ पद ३२०।
१३. सन्तबानी-संग्रह, भाग १, पृ० ६।३।
१४. वही , वही पृ० ७।१३।
१५. वही , वही पृ० ७।२५।
१६. वही , वही पृ० १०८।३।
१७. वही , वही पृ० १६८।४।
१८. वही , वही पृ० १६८।९।
१९. वही , वही पृ० २११।४।

मूल्यांकन और विवरण प्रस्तुत किया गया है। अब हम सन्तों की अप्रस्तुत योजना में कल्पना का विधान और स्वरूप देखने का प्रयत्न करेंगे। अप्रस्तुत अनेक प्रकार के होते हैं और उनकी योजना भी अनेक प्रकार की होती है और कल्पना की कोई सीमा नहीं है। अप्रस्तुत की योजना भी कल्पना के ही द्वारा होती है। आधुनिक पाश्चात्य समीक्षा क्षेत्र में तो कल्पना शब्द से अप्रस्तुत विधायिनी कल्पना ही समझी जाती है[1]। काव्य और अलंकार का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। आचार्य वामन ने लिखा है:—

"काव्यं ग्राह्यम् अलंकारात्"

तथा "सौंदर्यमलंकारः[2]"

दण्डी के मत से काव्य की शोमा बढ़ाने वाले धर्म ही अलंकार हैं।[3] अग्निपुराण में कहा गया है कि 'अलंकार रहिता विधवे वे भारती'।[4] आचार्य जयदेव ने अलंकार विहीन काव्य को उपहासास्पद तथा ऊष्णता रहित अग्नि माना है:—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णामनलंकृती॥[5]

हिन्दी के आचार्यों में मतिराम, श्रीपति, केशवदास,[6] ने अलंकारों की महत्ता और उपयोगिता स्वीकार की है। इसी प्रकार चिन्तामणि[7], गोप[8], रसिक सुमति[9] भिखारीदास[10], प्रतापसाहि[11] तथा रामचन्द्रशुक्ल[12] ने काव्य में रमणीयता का समावेश करने के लिए अलंकारों का महत्त्व स्वीकार किया है। डाक्टर नगेन्द्र के मत से काव्य में अलंकारों का विधान भी कल्पना के माध्यम से ही होता है।

---

१. रस-मीमांसा, पृ० २६५।
२. काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति, १।१।१२।
३. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान्प्रचक्षते।२।१ काव्यादर्श।
४. अग्निपुराण, ३४५।२।
५ चन्द्रालोक।
६. भूषण बिन न विराजई कविता वनिता मित्त॥
७. कवि कुल कल्पतरु प्रकरण २।१।
८. रामचन्द्र भूषण।
९. काव्य-सरोज।
१०. काव्य निर्णय।
११. व्यंग्यार्थ कौमुदी।
१२. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १२७।

उनका कथन है कि कल्पना का दूसरा प्रयोग अलंकारों—अप्रस्तुत विधान में किया जाता है। साम्य और वैषम्य-मूलक जितने अलंकार हैं उनका प्रधान साधन कल्पना ही है। वस्तु और भाव के उत्कर्ष को बढ़ाने के लिए कल्पना का योग अनिवार्य है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि साम्यमूलक अलंकारों में साम्य की स्थापना और विरोध, विषय, विभावना आदि वैषम्यमूलक प्रयोगों में वैषम्य की धारणा कल्पना के आश्रय से की जाती है।[१]

अलंकारों के मध्य में सन्तों की कल्पना-योजना बड़ी सुन्दर बन पड़ी है। सन्त न तो यशः प्रार्थी थे, न सिद्ध-हस्त कवि। फिर भी उनके काव्य में अलंकार के साथ कल्पना की सुन्दर छटा देखने को मिलती है। अब यहां पर अलंकारों के मध्य में सन्तों की कल्पना-शक्ति का अध्ययन करेंगे।

सर्व प्रथम हम अनुप्रास अलंकार लेते हैं। सन्त काव्य में अनुप्रास अलंकार का प्रचुर प्रयोग हुआ है। इस दृष्टि से निम्मलिखित उदाहरण पठनीय हैं :—

१—लोक जानि ना भूलो भाई।
खालिक खलक, खलक में खालिक, सब घट्ट रह्यो समाई।[२]

२—प्रीति जो मेरे पीव की, पैठी पिंजर मांहि।
रोम रोम पिव पिव करै, दादू दूसर नाहिं॥[३]

३—मलुका सोई पीर है जो जानै पर पीर।
जो पर पीर न जानइ, सो काफिर बे पीर॥[४]

सुन्दरदास[५], धरनीदास[६], दरिया (बिहार)[७], दरिया (मारवाड़)[८], दूलनदास[९], आदि की रचनाओं में अनुप्रास अलंकार के साथ-साथ कल्पना का विधान दर्शनीय है।

यमक

भिन्न-भिन्न अर्थों में एक ही शब्द की आवृति सन्तों की साखियों में बारम्बार

१. विचार और अनुभूति, पृ० २२।
२. कबीर ग्रन्थावली पृ० १००।
३. सन्तबानी संग्रह भाग १, पृ० ३३।
४. संतबानी संग्रह भाग १, पृ० ८३।
५. वही वही पृ० ११०।
६. वही वही पृ० ११३।
७. वही वही पृ० १२३।
८. वही वही पृ० १३२।
९. वही वही पृ० १३३।

हुई है। यह आवृत्ति सामान्यतया सार्थक होती है। उदाहरणार्थ कबीर की एक साखी दी जाती है—

इक दिन ऐसा होयगा, कोऊ काहू का नाहि।
घर की नारी को कहै, तन की नारी जाहि ॥[१]

मलूकदास[२] और सुन्दरदास[३] के काव्य में ऐसे उदाहरणों की प्रचुरता है।

उपमा

सन्तों की साखियों में उपमा अलंकार का बहुत प्रयोग हुआ है। कहना न होगा कि सन्तों को उपमा और रूपक अलंकार सर्वाधिक प्रिय थे। अब यहां सन्तों की रचनाओं से उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं :—

हाड़ जरैं ज्यों लाकड़ी, केस जरे ज्यों घास।
सबका जरता देखि करि, भये कबीर उदास ॥[४]

इसी प्रकार के प्रभावशाली उपमा अलंकार रैदास[५], दादू[६], मलूकदास[७], धरनीदास[८], सुन्दरदास[९], सहजोबाई[१०] के काव्य में मिलते हैं।

रूपक

सुन्दर रूपकों के साथ कल्पना का मनोहर समन्वय सन्त काव्य में मिलता है। कबीर का गुरु-कुम्भार रूपक बहुत प्रसिद्ध है[११]। चरखा, हाट, आदि को लेकर उन्होंने कल्पना-प्रधान सुन्दर रूपक प्रस्तुत किये हैं। दादू[१२], मलूकदास[१३],

---

१. सन्तबानी-संग्रह, भाग १, पृष्ठ ११।
२. वही „ १, पृ० ८९।
३. सुन्दरग्रन्थावली, पृ० ४५९, ४६०।
४. वही „ पृ० ८।
५. वही „ पृ० ६४।
६. सन्तबानी-संग्रह, भाग २, पृ० ८१।
७. वही „ पृ० १०२।
८. वही „ पृ० ११२।
९. वही „ पृ० १११।
१०. वही „ पृ० ११५।
११. वही भाग १ पृ० २।
१२. वही „ पृ० १००।
१३. वही „ पृ० १००।

सुन्दरदास[१], यारी[२], दरिया (बिहारवाले)[३], बुल्लासाहब[४], चरनदास[५] आदि के काव्य-कल्पना-प्रधान रूपक पठनीय हैं।

इसी प्रकार दृष्टान्त[६], स्वाभावोक्ति[७], विशेषोक्ति[८], समासोक्ति[९], अन्योक्ति[१०], उत्प्रेक्षा[११], विभावना[१२], विरोधाभास[१३], व्यतिरेक आदि अलंकारों में सन्तों ने कल्पना का सुन्दर समावेश किया है।

सन्तों की कल्पना का मूल्यांकन

उत्कृष्ट काव्य वही है जिसके अन्तर्गत आत्मतत्व की अभिव्यक्ति हो और जो आत्मतत्व की अनुभूति में सहायक हो। जिस काव्य में सच्चिदानन्दस्वरूपी आत्मा की अभिव्यक्ति होती है वही अमृतरूप हो सकता है। इस प्रकार के साहित्य के लिए बाह्य उपकरण—छन्द, गुण, अलंकारादि की आवश्यकता नहीं होती है। उसके अन्तर्गत आत्मा के दिव्य और अनिवर्चनीय आनन्द का सृजन होता है। ऐसा ही साहित्य अपने दिव्य प्रभाव से जड़मति को चेतन और अचेतन को तन्मय कर देता है। सन्तों के काव्य में भी बाह्य सौन्दर्य की ओर ध्यान न देकर आभ्यन्तरिक सौन्दर्य, आत्मतत्व, आत्मानुभूति का आनन्द अभिव्यक्त हुआ है। सन्तों ने काव्य के बहिरंग की ओर ध्यान नहीं दिया परन्तु फिर भी काव्य के समस्त उपकरण और गुण उसमें विद्यमान हैं। इसी प्रकार अलंकारों और कल्पना के विधान में यद्यपि उन्होंने परिश्रम नहीं किया तथापि राम-

---

१. सन्तवानी संग्रह, भाग २ पृ० १०७।
२. वही, भाग १ पृ० २०।
३. वही, ,, पृ० १२१।
४. वही, भाग २ पृ० १७०।
५. वही, ,, पृ० १८५।
६. वही, भाग १, पृ० ९, १३, ४६, ५३ तथा ११५।
७. वही, ,, पृ० २३, २७ तथा ११०।
८. वही, ,, पृ० २, ५, १७, ३।
९. वही, ,, पृ० ३, ९, १३।
१०. वही, ,, पृ० ९, १०।
११. सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ४३७ तथा पृ० ११४।
१२. सन्तवानी-संग्रह, भाग २, पृ० १५५, १०२, १८५ तथा २१०।
१३. (क) वही, भाग १, पृ० २३।
(ख) कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८२।२, पृ० ८६।
(ग) सन्तबानी-संग्रह भाग १, पृ० ८७।

रसायन से सराबोर यह काव्य, काव्य के सहज सुन्दर और स्वाभाविक गुणों से सम्पन्न है।

सन्तों के काव्य का वर्ण्य-विषय आध्यात्मिक और दार्शनिक रहा है। उनके ब्रह्म निरूपण, आत्म विश्लेषण, माया-विवेचन आदि शुष्क दार्शनिक शैली में नहीं सम्पन्न हुए वरन् भावुक भक्त कवियों की शैली में सम्पन्न हुए हैं। इसीलिए उन्होंने भावुक कवियों के समान काव्य की रचना की और उनकी भावुकता के प्रवेग में काव्य विषय-प्रतीकों, अन्योक्तियों, रूपकों के माध्यम से तथा रस, अलंकार, कल्पना आदि के क्रोड़ में परिपोषित होकर जन कल्याण की भावना से आविर्भूत हुआ। सन्त कवि भक्त होने के साथ-ही-साथ भावुक भी थे। अतः उनके काव्य में भावना और कल्पना का सामञ्जस्य विद्यमान् है।

सन्तों की कल्पना में प्रभावित करने की शक्ति

सन्तों की काव्य-कल्पना में प्रभावित करने की अद्वितीय शक्ति है। भावों को तीव्र, प्रांजल एवं सजीव बनाने में कवि को कल्पना ही सहायता देती है। कतिपय पाश्चात्य विचारकों ने कल्पना को साधन न मानकर साध्य माना है। सच यह है कि कल्पना के बिना कमनीयता और रमणीयता नहीं आ पाती है। तीव्र कल्पना के सहारे भाव सजीव हो उठते हैं। कबीर की निम्नलिखित साखियों में व्यक्त कल्पना किसे प्रभावित नहीं करती है :—

(१) केला तबहि न चेतिया, जब ढिग लागी बेरि।
अब के चेते क्या भया, कांटों लीन्ही घेरि ॥[१]

(२) साथी हमरे चलि गये, हम भी चालणहार।
कागद में बाकी रही, ताते लागी बार ॥[२]

(३) जो ऊगै सो अत्थवै, फूलै सो कुम्हिलाय।
जो चुनिये सो ढहि परै, जामै सो मरिजाय ॥[३]

(४) पलटू मैं रोवन लगा, जरौ जगत की रीति।
जहं देखौ तहं कपट है, कासों कीजै प्रीति ॥[४]

उन साखियों में प्रतिपादित विषय और व्यक्त कल्पना में प्रभावित करने क सामर्थ्य है। इसका प्रमुख कारण यह है कि सन्तों ने त्रिरंतन सत्यों की अभि-

१. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृ० ३२।
२. वही, „ पृ० ११।
३. वही, „ पृ० १३।
४. वही, „ पृ० २२२।

व्यंजना की है और यह जगत्-प्रसिद्ध है कि सत्य में प्रभावित करने की अद्वितीय शक्ति और सामर्थ्य होती है। इस दृष्टि से सन्त कवि बहुत सफल हुए हैं।

सन्तों की कल्पना में विविधता

जिस प्रकार सन्तों के वर्ण्य-विषय में विविधता है उसी प्रकार उनकी कल्पनाएं भी विविधतापूर्ण हैं। उनकी ब्रह्म, संसार, जीवन और काल विषयक कल्पनाएं विविधता से परिपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ यहाँ पर कुछ उद्धरण प्रस्तुत किये जाते हैं। उनकी विशेषता देखिये :—

(१) रैन गई मत दिन भी जाइ, भवर उड़े बग बैठे आई।
कांचे करवे रहै न पानी, हंसा उड़ा काया कुमिलानी॥

कोवा उडावत मेरी वहियां सिरानी,
कहै कबीर मेरी काया सिरानी॥[१]

(२) अब कैसे छूटै नाम रट लागी।
प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी।
जाकी अंग अंग वास समानी॥
प्रभु जी तुम घन बन हम मोरा।
जैसे चितवत चंद चकोरा॥
प्रभु जी तुम दीपक हम बाती।
जाकी ज्योति वरै दिन राती।
प्रभु जी तुम मोती हम धागा।
जैसे सोने मिलता सुहागा॥[२]

(३) मोर पिया विलम्यो परदेस, होरी मैं कासों खेलों।
घरी पहर मोंहि कल न परत है, कहत न कोउ उपदेस॥
झरयो पात बन फूलन लाग्यो, मधुकर करत गुंजार।
हाहा करौ कंथ घर नाहीं, को मोरि सुनै पुकार॥[३]

इन तीनों उद्धरणों में तीन प्रकार की कल्पना की गई है। प्रथम में जीवन और जगत् की अस्थिरता, द्वितीय में प्रभु के साथ भावात्मक सम्बन्ध, तीसरे में विरह और मधुर सम्बन्ध की अभिव्यक्ति हुई है। इन उद्धरणों के अतिरिक्त सहस्रों ऐसे

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३०८।
२. संतबानी संग्रह, भाग २, पृ० ६४।
३. वही, ,, पृ० ३०।

पद हैं जो कल्पना के लालित्य और विविधता के कारण हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। इनमें मनोवैज्ञानिक तथ्यों की व्यंजना हुई है।

सन्तों की कल्पना में औचित्य

किसी वस्तु या व्यापार का वर्णन या कल्पना करते समय प्रत्यक्ष एवं कल्पित वस्तु के साथ उसके साम्य और सम्बन्ध को ध्यान में रखना नितान्त आवश्यक है। प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के साम्य पर ही कल्पना का औचित्य निर्भर माना जाता है। सन्तों ने प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के साम्य पर विशेष ध्यान दिया है। वे न तो हवाई किलों के निर्माण में विश्वास करते थे, न फालतू बातों का प्रतिपादन ही करते थे। कल्पना के औचित्य पर उनकी विशेष दृष्टि थी। निम्नलिखित उद्धरणों से उपर्युक्त कथन की पुष्टि होगी।

१–बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूर।
पंथी को छाया नहीं, फल लागै अति दूर॥
२–सोना सज्जन साधु जन, टूटि जुरै सौ बार।
दुर्जन कुंभ कुंभार का, एकै धका दरार॥

—कबीर

उतरे आइ सराय में, जानत है बड़ कोह।
अटका आकिल काम बस, ली भठियारी मोह॥

—मलूकदास

सुन्दर मछरी नीर में, बिचरत अपने ख्याल।
बगुला लेत उठाइ कै, तोंहि ग्रसै यो काल॥

—सुन्दरदास

इन साखियों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत में बड़ा भाव तथा रूप साम्य है। सन्तों ने मन के लिए मीन, भृंग, कीट, तुरंग की कल्पना की है, नारी के लिए कामिनी, व्याघ्रिणी, सर्पिणी की कल्पना की है, पंच विकारों के लिए पंच चोरों की कल्पना की है, शरीर के लिए कुंभ, बालू की दीवाल, समाज के तथाकथित बड़े आदमियों के लिए खजूर की कल्पना की है। इनमें स्वभाव और व्यापार साम्य हैं। अतः ये कल्पनाएं औचित्यपूर्ण हैं।

सन्तों की कल्पना में भावव्यंजकता

औचित्य पर विचार करते हुए हमने देखा कि सन्तों ने प्रस्तुत और अप्रस्तुत के भाव और व्यापार साम्य पर विशेष ध्यान दिया है। इसलिए उनकी कल्पना में औचित्य विद्यमान है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भाव समन्वित कल्पना

को सच्ची कवि-कल्पना माना है। सच्ची कल्पना वह है जो अंतस् में सुषुप्त भावों को जागृत कर दे और तत्सम्बन्धी भावों को पूर्णतया व्यंजित कर दे। सन्तों की कल्पना अनुभूति और भावुकता के आधार पर सृजित है। इसीलिए उसमें प्रभावित करने की शक्ति और भाव व्यंजकता सम्पन्न है। उनकी कल्पनाएं और वर्ण्य विषय जनजीवन से ग्रहण किये गये हैं। इसीलिए उसमें भाव-व्यंजकता है। सन्तों की भावव्यंजकतापूर्ण कल्पना के कतिपय उदाहरण यहां प्रस्तुत किये जाते हैं :—

१—माली आवत देख कर कलियन करी पुकार।
फूले फूले चुन लिए, काल्हि हमारी बार॥

२—पानी केरा बुदबुदा, अस मानुष की जात।
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात॥

३—साहिब तुमहि दयाल हौ, तुम लगि मेरी दौर।
जैसे काग जहाज को, सूझै और न ठौर॥

—कबीर

गर्व भुलाने देह के, रचि रचि बांधे पाग।
सो देही नित देखिके, चांच संवारे काग॥

—मलूकदास

ज्यों माखी पर पंख से, सहद मांहि लपटाय।
ऐसे ही है जीव जड़, झारि विषय रस खाय॥

—पलटूदास

महल मुंडेरी नीम सब, चलै कौन के साथ।
कागा रोला हो रहा, ना कछु लागा हाथ॥

—गरीबदास

इन साखियों से नश्वरता का भाव-व्यंजित हो उठता है। यही है कवि की कल्पना की सफलता।

सन्तों की कल्पना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे इसके द्वारा शिक्षित-अशिक्षित सभी को प्रभावित करते हैं। उनकी कल्पना में मानव को प्रभावित करने की शक्ति है।

षष्ठ परिच्छेद

सन्त-काव्य में प्रतीक-विधान

मानव के हृदय और मस्तिष्क में अनेक ऐसी बातें जन्म ग्रहण करती रहती हैं जिनकी अभिव्यक्ति वह सामान्यतया व्यवहृत भाषा के माध्यम से नहीं कर सकता है। ऐसी हृदयानुभूति बिम्बों या संकेतों द्वारा भी नहीं अभिव्यक्त हो सकती है। इसीलिए सूक्ष्म एवं अर्द्ध स्पष्ट भावों की अभिव्यक्ति के लिए मानव ने प्रतीकों की कल्पना की और उन्हें जन्म दिया। विद्वानों का कथन है कि मानव सभ्यता के विकास में प्रतीकों का उतना ही योग है जितना हमारे जीवन के विकास में वायु अथवा प्रकाश का।

मानव सृष्टि की अनेकानेक वस्तुओं को देखकर उनसे परिचित होता रहता है। परिचय क्रमशः घनिष्ठता में परिवर्तित होता है और मनुष्य उन वस्तुओं के प्रति सुनिश्चित धारणाएं निर्मित कर लेता है जिनमें प्रायः वे समस्त बातें सम्मिलित रहती हैं, जो उस वस्तु-विशेष के प्रत्यक्ष होते समय तत्कालीन वातावरण या अवसर के अनुसार मानव की सूचना या ज्ञान में आ गई हैं। यह व्यापार बिना किसी प्रयास के मानव की ज्ञानेन्द्रियों द्वारा या सहायता से मानसपटल पर अंकित होता रहता है। सामान्यतया मानव के दैनिक जीवन के प्रत्येक अनुभव द्वारा एक प्रक्रिया होती है। फलतः मनुष्य की कल्पनाएं उनके संयोजन तथा अभिनवीकरण में सहयोग प्रदान करती हैं और इन्द्रियां एक वस्तु-विशेष का भाव-प्रभाव या प्रतिबिम्ब हमारे मानस पटल पर अंकित कर देती हैं। इस प्रकार मानव-मन उस वस्तु-विशेष का परिचित चित्र अपनी कल्पना के अनुसार गढ़ लेता है, जिसके फलस्वरूप मानव अनेक प्रकार के चित्रों द्वारा न केवल किसी वस्तु-विशेष की स्मृति, रूपरेखा का निर्माण करने में सफल होता है वरन् उसे प्रतीक या शैली विशिष्ट के द्वारा दूसरों को परिचित कराने का भी प्रयत्न करता है। किसी वस्तु के सम्बन्ध में कोई सुनिश्चित धारणा को अभिव्यक्ति करनेवाले शब्द उसके साथ के उन समस्त प्रसंगों का भी स्पष्टतया उल्लेख कर देते हैं जिनमें तथा जिनका अनुभव हुआ था। उदाहरणार्थ 'ज्योति' शब्द का प्रयोग करते समय ज्योति के रूप, रंग आकार का ही स्मरण नहीं रहता है वरन् उसके प्रकाश, चमकीलेपन, आकर्षक रूप तथा कल्याणकारी गुण

की भावना भी स्पष्ट हो जाती है। ज्योति यथा प्रकाश का माध्यम है, उसी प्रकार मानव सभ्यता की विकसित अवस्था, ज्ञान, चेतना, प्रबुद्धता और मानसिक विकास का भी द्योतक है। एक उदाहरण वृक्ष का ले लीजिये। वृक्ष शब्द का प्रयोग करते ही उस वृक्ष के रूप एवं आकार की भावना ही साकार नहीं हो उठती है वरन् उसके पुष्पों के रंग, पत्तियों की सुकुमारता तथा फलों के माधुर्य आदि के सम्बन्ध में शतशः अनेक प्रसंग साकार हो उठते हैं। वास्तव में वृक्ष पृथ्वी से समुत्पन्न वनस्पति के एक जाति विशेष का ही नाम नहीं है वरन् वह मानव की सृजनात्मक शक्ति का भी प्रतीक है। सारांश यह कि प्रतीक कोई वस्तु अथवा चित्र नहीं होता है वरन् एक विराट् रचनात्मक प्रक्रिया में पड़नेवाला एक बिन्दु है जो किसी पदार्थ को एक निश्चित वस्तु के रूप में परिचित कराता है।

प्रतीकों का जन्म, उद्भव या विकास यथार्थ वस्तुओं के आधार पर होता है। काल्पनिक वस्तुओं, अथवा वे वस्तुएं जो निराकार हैं उन्हें प्रतीकों के माध्यम से नहीं व्यक्त किया जा सकता है और यदि वे मानव की विकसित चिन्तन शक्ति के आधार पर व्यक्त भी कर डाली गईं तो सत्य से दूर, यथार्थ से परे और प्रभावित करने की शक्ति से रहित होती हैं। कल्पना के आधार पर सृजित प्रतीक न तो प्रभावशाली होते हैं, न सत्य ही, इसीलिए उनमें स्थायित्व भी नहीं होता है।

यह स्पष्ट है कि प्रतीकों का जन्म जगत् तथा जीवन की अर्थ भूमि से होता है। जीवन के साहचर्य से ही प्रतीकों के अर्थ और प्रतीक का महत्त्व बढ़ता है। मानवीय अनुभवों से निकट रहकर ही प्रतीकों में सजीवता, अर्थ और व्यक्तित्व की संस्थापना होती है।

यथार्थ-रूप से हमारे समक्ष विद्यमान रहनेवाले पदार्थों के अतिरिक्त प्रत्यक्ष जगत् में विद्यमान रहनेवाले, अनेक ऐसे पदार्थ हैं, तत्त्व हैं जो इन्द्रियगत या दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। फिर भी उनकी कल्पना तर्क, विश्वास एवं अनुमान के द्वारा कर ली जाती है। आत्मा और परमात्मा ऐसे ही विषय हैं। इनके अगोचर होने के कारण विभिन्न मतवादियों में भांति-भांति की धारणाएं प्रचलित हैं। ब्रह्म-विद्या के विशेषज्ञ आत्मा को परमात्मा का अंश मानते हैं पर मनोविज्ञान स्वयं परमात्मा को आत्मा की सत्ता पर सिद्ध करना चाहता है। इनका वर्णन करना हमारी भाषा और सामर्थ्य के बाहर है। सन्तों ने इसीलिए इन अकथनीय, अभिव्यक्ति के बाहर विषयों को काल्पनिक प्रतीकों के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

प्रतीक शब्द का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इसका सामान्य अर्थ है संकेत, चित्र, चिह्न या रूप। मानव ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में चाहे वह तर्कशास्त्र हो, या मनोविज्ञान, या गणित या ज्योतिष सर्वत्र रूढ़िगत प्रतीकों का प्रयोग होता है। धार्मिक प्रतीकों के आधार, तात्विक सम्बन्ध पर हुआ करते हैं। कला और साहित्य के क्षेत्र में, कलाकार और साहित्यकार, व्यक्तिगत प्रतीकों के माध्यम से मानवीय अनुभूतियों को अभिव्यक्त करता है। यही व्यक्तिगत प्रतीक आगे चलकर सुनिश्चित अर्थों और अभिप्रायों को व्यक्त करने लगते हैं। इन उभय क्षेत्रों में प्रयुक्त होनेवाले प्रतीक सामान्यतया अवचेतन में पड़े हुए भावों और विचारों के मध्य अनुपातिक समता और विषमता का सम्बन्ध स्थित रहता है। बाउदोन का मत है कि वह प्रतीक जिसके द्वारा किसी कल्पना-प्रवीण लेखक अथवा चित्रकार का मन आत्माभिव्यक्ति का मार्ग ढूंढ़ता है, एक ऐसे प्रभाव से समन्वित होता है, जो हृदय की गहराइयों से उत्पन्न होता है। श्रोता और दर्शक के मन में अज्ञात अवकाश में भी एक ऐसा अन्तर्निहित भाव होता है जो पर्युत्सुक हो उठता है। प्रतीकों की प्रभावशालिता का कारण यही है कि वह मानव के उस व्यापार स्तर से उत्पन्न होती है जो सब में समान है।[१] प्रतीकों के संग्रह, तथा चुनाव में कल्पना की बड़ी सहायता होती है। काव्यगत शब्दार्थों का सम्बन्ध किसी विशेष युग या व्यक्ति से नहीं होता है वरन् उसका अर्थ प्रवहमान एक विशिष्ट ऐतिहासिक परिवेश का अंग है। इसीलिए उसमें अभिनवता की एक भावना सन्निहित रहती है, जिससे प्रभावित होकर हम कविता का बारम्बार अध्ययन करते हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक सी० डी० जुंग ने इसी भाव से अनुप्राणित होकर कहा था कि 'कविता वर्तमान शब्दों के आवरण में दूरस्थ आदिम शब्दों की प्रतिध्वनि है।[२]

---

१. The Symbols in which the mind of imaginative writer or the painter seeks self-expression are tinged with an effect that wells up from the depths and in the hidden recesses of mind of the observer or the reader there is an effect which rings responsive. It appeals so universally, only because it is an out cropping from a stratum that exists universally in the mind of all the individuals that comprise the human race.

—*Psychoanalysis and Aeasthetics*, p. 9.

२. Poetry means the distant echo of the primitive words behind our veil of words.

—*Contribution to Analytical Psychology by Jung* p. 245.

प्रतीक केवल साहित्य की ही शक्ति नहीं होते वरन् वे जातीय एवं सांस्कृतिक अनुभव की शक्ति हैं। ये एक सामूहिक भाव परम्परा के स्मृति चिह्न है। हर एक पीढ़ी आवश्यकतानुसार नये प्रतीकों को गढ़ती है और प्राचीन प्रतीकों को नये अर्थ और दृष्टि से देखती है। प्रतीक के नये चुनाव, अभिनव-परिवर्तन और विकास के पीछे युग विशेष की सांस्कृतिक परिस्थिति विद्यमान रहती है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ जिन प्रतीकों ने जन्म ग्रहण किया था, उनकी परिभाषा और अर्थ आज बहुत कुछ बदल गया है। इस परिवर्तन को हम विकास भी कह सकते हैं। डाक्टर पीताम्बरदत्त बड्थ्वाल के मतानुसार मानव-जीवन का सारा यंत्र ही अपनी गति के लिए उस पर आश्रित रहता है। धर्म का कर्मकांड सम्बन्धी अंश भी विशुद्ध प्रतीकाश्रित विधियों के सिवाय और कुछ भी नहीं। भाषा भी वस्तुतः एक प्रतीकात्मक उपाय मात्र है[1]। धार्मिक जीवन अनेक प्रतीकों की मान्यता प्राप्त करके अपनी सार्थकता प्रमाणिक करते चले आ रहे हैं। उदाहरण के लिए स्वास्तिक चिह्न कल्याणकारी तत्त्व के लिए, 'हंस' विवेक के लिए, 'पुस्तक' साहित्य के लिए युग-युग से प्रतीकों के रूप में प्रयुक्त होते चले आ रहे हैं।

सामान्य रूप से प्रतीकों का उपयोग दो प्रकार से होता है। प्रथम है—बाह्य अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में, द्वितीय आभ्यन्तरिक अर्थ संबंधों की अभिव्यक्ति करने के हेतु। प्रथम के माध्यम से वह अपनी इच्छा विचार और विचार आदि को व्यक्त करता है और दूसरे के द्वारा किसी सूक्ष्म मूल्यगत साम्य के आधार पर अन्य की उक्ति द्वारा अन्य का बोध करता है। प्रथम कोटि के प्रतीकों का प्रयोग, व्यवहारिक जीवन में होता है और द्वितीय प्रकार के प्रतीक साहित्य या धर्म के क्षेत्र में प्रयुक्त होते हैं। कॉलरिज ने प्रतीकों के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि प्रतीकों की यह विशेषता है कि वह व्यष्टि में किसी विशेष सत्ता का अथवा विशेष में किसी सामान्य सत्ता का अथवा सामान्य में किसी सर्वव्यापी तत्त्व का आभास देता है और सबसे ऊपर नश्वर वस्तु में अनश्वर की झलक पैदा करता है[2]।

---

१. हिन्दी कविता में निर्गुण-सम्प्रदाय, पृ० ३४०।

२. A symbol is characterized by transluence of the special in the individual or of a general in the special or of the universal in the general, above all by the transluence of the eternal through and in the temporal.

—*The State Man's Manual, complete works vol. I* p. 407-408.

प्रतीक अपने व्यक्तित्व में अनेक प्रकार के रहस्यों को समाहित रखता है। उसका कर्तव्य है उन रहस्यों को बड़े मधुर ढंग से प्रकट कर देना। प्रतीक भावुकता और अनेक प्रकार के ज्ञान के सारतत्त्व होते हैं। प्रतीक और रहस्य में अन्तर है। प्रतीक रहस्य नहीं है न रहस्य प्रतीक बन सकते हैं। फिर भी दोनों में अविच्छिन्न सम्बन्ध है। रहस्यवाद और प्रतीक योजना एवं प्रतीकवाद और रहस्यात्मक को अविच्छिन्न मानना भी उचित नहीं है। एक विचारक का कथन है कि प्रतीकों के माध्यम से निरपेक्ष सत्य की प्रवृत्ति को रहस्यवाद मानना चाहिए।[१] रहस्यवाद प्रत्यक्ष जीवन की अन्तर्भूत चेतना को प्राप्त करना चाहता है और प्रतीक उसका आभास मात्र देने का प्रयास करता है।

सांकेतिक वस्तु के रूप, आकार और गुण का आभास प्रतीक द्वारा प्राप्त होता है परन्तु चिह्न में किसी भी तात्विक सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं होती है। प्रतीक का सबसे प्रमुख उद्देश्य और लक्ष्य है भावों तथा विचारों को प्रबुद्ध करना। उसमें यह क्षमता अत्यधिक अपेक्षित होती है। इससे स्पष्ट है कि प्रतीकों का सम्बन्ध सान्निध्य से नहीं वरन् सारूप्य और प्रभाव साम्य से है। प्रभाव साम्य के कारण सादृश्य भावना जाग्रत होती है।

प्रतीक पद्धति का इतिहास बड़ा प्राचीन है। दार्शनिक विचारों की अभिव्यञ्जना के लिए वैदिक ऋषियों ने भी प्रतीकों को माध्यम बनाया था। उक्त ऋषियों ने उपनिषदों में ब्रह्म का वर्णन सूर्य, चन्द्र आदि प्रतीकों के माध्यम से किया था।[२] प्रतीकों के प्रयोग उपनिषदों में बराबर होते रहे हैं। मुण्डकोपनिषद् से यहां पर एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है :—

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्षं परिष्स्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पल स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

प्राचीन काल से इस प्रकार की रहस्यात्मक अभिव्यक्तियां प्रतीकों के माध्यम से होती आ रही हैं। प्रतीकों द्वारा रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति की हमें तीन शैलियां प्राप्त होती हैं :—

(१) **चेतन-अचेतन की समरसता के प्रतीक**—यथा काष्ठ-अग्नि, लौह में एक ज्वलनशील चेतन तत्त्व की कल्पना। कबीर की 'जल में कुम्भ कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी' इसी प्रकार की उक्तियां हैं।

(२) **जीवन की सामान्य उपयोगी वस्तुओं के माध्यम से अनन्त की**

१. Christian Mysticism, p. 250.

२. बृहदारण्यकोपनिषद्—२।१।

कल्पना—यथा वायु, जल अन्नादि में ब्रह्म, ब्रह्म की स्थिति की कल्पना। संतों के सहस्र दल कमल, सूर्य, चन्द्र आदि इस प्रकार के प्रतीक हैं।

(३) **मानवीय सम्बन्धों के रूप में परमतत्त्व की कल्पना**—यथा पिता-पुत्र, पति-पत्नी, स्वामी-सेवक आदि सम्बन्धों की कल्पना। प्रायः सभी सन्तों ने इन प्रतीकों को अपनाया है।

इनके अतिरिक्त दाम्पत्य, सख्य, वात्सल्य आदि भावों के आधार पर प्रतीक योजना की जाती है। कवि व्यावसायिक जीवन सम्बन्धी क्षेत्रों में व्यवहृत उपकरणों का प्रयोग भी प्रतीक के रूप में करते हैं। कवि-प्रसिद्धि से परम्परागत आते हुए प्रतीक और साम्प्रदायिक प्रतीक भी होते हैं। मानव शरीर के अन्तर्गत नाड़ियों, ग्रन्थियों और विभिन्न स्थानों के भी रूढ़िगत धारणानुसार अनेक प्रतीक प्रचलित हैं। किसी-किसी अंग के अनेक प्रतीकात्मक नाम प्रचलित हैं जिनसे केवल योग साधना के विशेषज्ञ परिचित होते हैं। सन्ध्या-भाषा या उलटबांसियों में ऐसे प्रतीकों का प्रयोग मिलता है जिनके अर्थ निकालने वाले अधिकारी आज बहुत कम दिखाई देते हैं। इनमें से कुछ सन्तसाहित्य में परम्परागत विचारधारा के साथ चले आये हैं। विद्वानों का अभिमत है कि भारतवर्ष में प्रतीक पद्धति का विकास सूफी-साहित्य से हुआ। सूफियों की प्रतीक-योजना बहुत प्रसिद्ध है। सूफीमत में हृदय के अनन्य प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए, दाम्पत्य-प्रेम की कल्पना की गई है। सन्त-साहित्य में यह प्रतीक इसी रूप में ग्रहीत हुआ। सन्तों ने भगवान् को माता-पिता के रूप में अपनाने का प्रयत्न किया है। इसलिए सन्त-साहित्य में दाम्पत्य और वात्सल्य प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। सन्तों में दास्य भाव के प्रतीक भी मिलते हैं। सन्तों के काव्य में सांकेतिक भाषा और प्रतीकों का प्रचुर रूप में प्रयोग हुआ है। कभी-कभी तो सन्त कवि उन प्रतीकों और सांकेतिक तथा पारिभाषिक शब्दों का अर्थ बताने के लिए पण्डित, पण्डे, मुल्ले, मौलवियों को चुनौती भी दे बैठते हैं। कबीर का तो स्थायी आदेश है कि जो उनके सांकेतिक शब्दों को न समझ सके उससे वार्तालाप न करना चाहिए[१]। सन्तों के दास्य भाव के प्रतीकों में दास तथा ब्रह्म की एकात्मकता का भाव बड़ा आकर्षक बन पड़ा है। निम्नलिखित पद में दास्य भाव से सम्बन्धित-प्रतीक ध्यान देने योग्य है।

मैं गुलाम मोंहि बेचि गुसांई।
तन मन धन मेरा रामजी के ताईं॥

---

१. सन्तबानी संग्रह-भाग १, पृ० ४५।१३।

आनि कवीरा हाटि उतारा।
सोई गाहक सोई बेचनहारा॥
बेचै राम तो राखै कौन,
राखै राम तो बेचै कौन॥
कहै कबीर मैं तन मन पारया।
साहिब अपना छिन न विसारया॥[१]

इसी प्रकार वात्सल्य प्रतीकों द्वारा भी सन्तों ने अपने हृदय की भावना की अभिव्यक्ति की। उदाहरणार्थ :—

हरि जननी मैं बालक तेरा, काहेन अवगुन बकसहु मेरा।
सुत अपराध करै दिन केते, जननी के चित रहै न तेते॥
कर गहि केस करै जो घाता, तऊ न हो उतारै माता।
कहै कबीर एक बुद्धि बिचारी, बालक दुखी महतारी॥[२]

इस पद में वात्सल्य प्रतीकों की सफल व्यंजना हुई है। यहां द्वैत भाव की व्यंजना हुई है परन्तु प्रतीकों के द्वारा अद्वैत की ओर संकेत मिलता है।

सन्तों ने दाम्पत्य प्रतीकों को ग्रहण करके अपने हृदय के माधुर्य भाव तथा दाम्पत्य प्रेम की अभिन्नता व्यक्त की है। दाम्पत्य प्रतीकों के माध्यम से नीरस आध्यात्मिक और दार्शनिक विचार सरस बन जाते हैं। दाम्पत्य प्रतीकों के प्रयोग से आध्यात्मिक और दार्शनिक विचार मधुमयी कोमल भावनाओं के रूप में व्यक्त होते हैं। इसी कारण दाम्पत्य प्रतीकों से युक्त पदों में अलौकिक आनन्द और दिव्य रस प्रस्फुटित होने लगता है। रीति-कालीन कवियों ने जिस दाम्पत्य का बर्णन किया है, उससे वासना उद्दीप्त हो उठती है परन्तु आध्यात्मिक कवियों द्वारा वर्णित दाम्पत्य प्रेम में आत्मा की पुनीत, रसमयी अलौकिक अभिव्यक्ति मिलती है। सन्तों में कबीर ऐसे कवि और विचारक हैं जिन्होंने आत्मा और परमात्मा के पुनीत मिलन, विरह और गंभीर प्रेम की बड़े विस्तार के साथ मार्मिक शब्दों में व्यंजना की है। पवित्रता, सात्विकता तथा आध्यात्मिकता उनके आध्यात्मिक प्रेम की विशेषताएं हैं। सूफी-साहित्य में प्रेमी और प्रेमिका के प्रेम से सम्बन्धित प्रतीकों को महत्त्व दिया गया है परन्तु सन्तों के साहित्य में यह दाम्पत्य प्रेम विवाह सम्पन्न हो जाने के अनन्तर विकसित होता है। यह विवाह लौकिक दृश्यों को समक्ष प्रस्तुत करता है, पर है आध्यात्मिक। इस विवाह में

---

१. कवीर ग्रन्थावली, पृ० १२४।
२. वही, पृ० १२३।

साधक की आत्मा ही वधू है और राम स्वयं वर हैं। शरीर वेदिका है, ब्रह्मा पुरोहित हैं, ३३ करोड़ देवता, अठासी हजार ऋषि बराती और साक्षी हैं। कबीर के ही शब्दों में यह विवाह निम्नलिखित रूप से वर्णित है :—

दुलहिन गावहुँ मंगल चार, हम घरि आयो हो राजा राम भरतार।
तन रति कर मैं मन रति करिहूं पंच तत बराती।
राम देव मोहि व्याहन आए मैं जोबन मदमाती॥
सरीर सरोवर वेदी करिहूं ब्रह्मा वेद उचार।
राम देव संग भांवरि लैहूं धनि धनि भाग हमार॥
सुर तेतिस कोटिक आये मुनिवर सहस अठासी।
कहै कबीर हम व्याहि चले है, पुरुष एक अविनासी॥[१]

विवाह के अनन्तर प्रेमी और प्रेमिका एक दूसरे का मन भरकर आलिंगन करते हैं "अंक भरे भर भेटिया, मन में नाहीं धीर।"[२] इस मिलन का आनन्द अनिर्वचनीय है। आत्मा प्रियतम से मिलन हो जाने पर उससे भिन्न नहीं होना चाहती है :—

अब तोहि जान न देहूं राम पियारे,
ज्यूं भावै त्यूं होइ हमारे॥
बहुत दिनन बिछुरे हरि पाये।
भाग बड़े घरि बैठे आये।
चरनन लागी करौ बरियाई।
प्रेम प्रीति राखौ उरझाई।
इत मन मंदिर रहौ नित चोषै।
कहै कबीर परहु मत धोषै॥[३]

सन्त कवि चरनदास ने प्रियतम और बालम के अतिरिक्त आत्मा के लिए सखी और गुरु के लिए दूती प्रतीकों की योजना की है :—

गुरु दूती बिन हे सखी, पीव न देखौं जाय।
पांच सखी, पचीस सहेली, अति चतुर अधिकाय।
मोहि अयानी जानि कै, मेरो बालम लियो लुकाय॥[४]

---

१. कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ९०।
२. वही, पृ० १५।
३. वही, पृ० ८७।
४. संतबानी-संग्रह, भाग २, पृ० १८०।

सन्त दूलनदास ने भी इसी प्रकार के प्रतीकों को अपनाया है। उनकी आत्मा, परमात्मा प्रियतम से मिलकर नृत्य कर उठती है :—

धनि मोर आज सोहागिन घड़ियां।
आज मोरे अंगना कंत चलि आये, कौन करौं मिहमनियां।
निहुरि निहुरि मैं आंगन बुहारो, मातों मैं प्रेम लहरिया।
भाव के भात प्रेम के फुलका, ज्ञान की दाल उतरिया।
दूलन के सांई जगजीवन, गुरु के चरन बलिहरिया॥

यहां कन्त ब्रह्म का प्रतीक है आंगन शरीर का, चावल भावना का, फुलका प्रेम का और दाल ज्ञान का प्रतीक है। दैनिक क्रियाओं के माध्यम से प्रतीकों की सृष्टि करना सन्तों की कल्पनाशक्ति का परिचायक है।

आध्यात्मिक सम्बन्ध संस्थापित हो जाने पर भी यदि आत्मा में कोई विकार या वासना शेष रह जाती है तो फिर मिलन नहीं हो पाता है। ऐसी स्थिति में आत्मा की उद्विग्नता और विह्वलता बढ़ जाती है, आत्मा विलाप करती हुई कहती है :—

कियौ सिंगार मिलन के ताईं, हरि न मिले जगजीवन गुसाईं।
हरि मेरी पीव मैं हरि की बहुरिया, राम बड़े मैं छुटक लहुरिया।
धनि पिय एकै संग बसेरा, सेज एक पै मिलन दुहेरा।
धन्न सुहागिन जो पिय पावै, कहि कबीर फिर जनमि न आवै॥

आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित होते ही आत्मा को वैधव्य का अनुभव होने लगता है। प्रस्तुत उलटवासी इसी भाव को व्यक्त करती है :—

मैं सासेन पीव गौहनि आई।
सांई संगि साध नहीं पूजी, गया जोबन सुपिनां की नांई॥
पंच जना मिलि मंडप छायौ, तीनि जना मिलि लगन लिखाई।
सखी सहेली मंगल गावै, सुख दुख माथे हलद चढ़ाई॥
वाना रंग भांवरि फेरी, गांठि जोरि बावै पतिताई।
पूरि सुहाग भयौ बिन दूलह, चौक के रंगि धरयौ सगौ भाई॥
अपने पुरिष मुख कबहूं न देख्यौ, सती होत समझी समझाई।
कहै कबीर हूं सर राम मरिहूं, तिरौकंत ले तूर बजाई॥

वात्सल्य, दाम्पत्य तथा सख्य भावों के आधार पर विरचित प्रतीकों पर ऊपर विचार हो चुका है। इनके अतिरिक्त सन्त-साहित्य में और भी कई प्रकार

के प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ सांकेतिक प्रतीक, पारिभाषिक प्रतीक, संख्यामूलक प्रतीक और रूपकात्मक प्रतीक। इनमें से एक-एक पर हम पृथक्-पृथक् विचार करेंगे। सर्वप्रथम है सांकेतिक प्रतीक। इसका प्रयोग सन्त-साहित्य में प्रचुरता के साथ हुआ है। उदाहरण के लिए गगन-मण्डल में ब्रह्म-रन्ध्र का अर्थ होना या बंकनाल का सुषुम्ना का वाचक होना इस प्रकार इन्द्रियों से उत्पन्न विषय-वासनाओं को सन्तों ने ठग के रूप में ग्रहण किया है। ये साधक की चिर अर्जित पूंजी का अपहरण कर लेते हैं[1]। पारिभाषिक प्रतीक—सन्तों ने पारिभाषिक प्रतीकों का बहुत प्रयोग किया है। सूर्य, चन्द्र, गंगा, यमुना, त्रिवेणी, अनहदनाद, अजपाजप, सुरति, निरति आदि ऐसे ही प्रतीक हैं। इन पारिभाषिक और प्रतीक शब्दों का सन्त-साहित्य में बाहुल्य है। संख्या-मूलक प्रतीकों का प्रयोग भी सन्त साहित्य में उपलब्ध होता है। कबीर ने ऐसे प्रतीकों का प्रयोग बहुत किया है।[2] रूपकात्मक प्रतीकों का सन्त-साहित्य में बाहुल्य है। सन्तों के रूपकों पर विचार सन्त काव्य में अप्रस्तुत योजना परिच्छेद में हो चुका है। ऐसे प्रतीक किसी रूपक विशेष के अंगों के लिए कल्पित किए गये हैं। ऐसे स्थलों में रूपक-योजना प्रतीकात्मक हो जाती है।[3] प्रतीकात्मक उलटवासी—सन्तों ने उलटवासियों में अत्यन्त दुरूह तथा गूढ़ योजनाओं को व्यक्त किया है। ऐसी उक्तियों में प्रतीकों के साथ ही रूपकात्मकता का भी समा-वेश हो गया है। प्रतीकात्मक उलटवासी दो प्रकार की हैं—प्रथम वे हैं जो मूलतः प्रतीक प्रधान हैं और द्वितीय वे जिनमें रूपक प्रधान और प्रतीक गौण है। दोनों प्रकार की उलटवासियों के यहां उदाहरण दिए जाते हैं :—

रूपक प्रधान उलटवासी का उदाहरण—

हरिके षारे बड़े पकाये, जिजि जारे तिनि खाये।
ज्ञान अचेत फिरै नर लोई, ताते जनमि जनमि डहकाये॥
धौल मंदलिया बैल रवाबी, कउवा ताल बजावै।
पहिरि चोलना गदहा नाचै, भैंसा निरति करावै।

---

१. (क) कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ८४ पद, १८।
(ख) सन्तवानी-संग्रह, भाग, २, पृ० १५७-५८।
(ग) वही, पृ० १७७।

२. (क) कबीर-ग्रन्थावली,—परचा को अंग पद १०।
(ख) चौंसग दीवा जोय के, चौदह चन्दा मांहि।
तेहि घर किसका चाणिनी, जेहि घर गोविन्द नाहि॥

३. सन्त-कबीर,-पृ० २२४ राग भैरव पद १७।

स्यंघ बैठा पान कतरै, मूस गिलौरा लावै।
उंदरी बपुरी मंगल गावै, कछु एक आनन्द सुनावै।
कहै कबीर सुनौ रे सन्तहु, गडरी परवत खावा।
चकवा बैसि अंगारे निगले, संमद अकासे धावा॥[1]

यहाँ पर प्रतीकों के माध्यम से गूढ़ तत्त्व की बातों को प्रकट किया गया है। यहां पर बड़े का प्रयोग मानव शरीर के लिए हुआ है। मंदलिया, धौल खावी बैल, ताल बजानेवाला कौआ, नृत्य करनेवाला गदहा और भैंस के रूप में पंच ज्ञानेन्द्रियां व्यक्त हुई हैं। पान कतरनेवाला सिंह, गिलौरा लानेवाला मूस, मंगल-गान करनेवाली उंदरी तथा आनन्द सुननेवाले कछुए के रूप में अन्तःकरण चतुष्टय-मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार। कुण्डलिनी की प्रतीक है गडरी और पर्वत है मेरुदण्ड। अंगारे शुद्ध ज्ञान हैं और चकवा पण्डित का प्रतीक है।

प्रतीकप्रधान उलटवासी

कैसे नगर करौं कुटवारी, चंचल पुरिष विचक्खन नारी।
बैल बियाइ गाइ भई बांझ, बछरा दूहै तीन्यू सांझ॥
मकड़ी घर भाषी छछिहारी, मास पसारि चील्ह रखवारी।
मूसा केवट नाव बिलइया, मींडक सोवै सांप पहरिया।
नित्त उठि स्याल सिंघ सूं जूझै, कहै कबीर कोई बिरला बूझै॥[2]

यहाँ पर नगर मानव शरीर का प्रतीक है। पुरुष और नारी कामना के प्रतीक हैं। स्याल जीव का प्रतीक, सिंह काल का प्रतीक, भाषी मनसा का प्रतीक, मकड़ी माया का प्रतीक, चील विकारी मन का प्रतीक, मास विषयों का प्रतीक, बैल आत्मा का प्रतीक, गाइ इन्द्रियों का प्रतीक, बांझ वाणी का प्रतीक, बछरा मन का प्रतीक, मूसा कुतर्की मन का प्रतीक, सांप संशय का प्रतीक है। इसी प्रकार प्रतीक प्रधान एक पद यहां पर उद्धृत किया जाता है—

अवधू जागत नींद न कीजै।
काल न खाइ कलप नहि व्यापै, देही जुरा न छीजै॥
उलटी गंग समुंदहि सोखै, ससिहर सूर गरासै।
नव ग्रिह मारि रोगिया बैठे, जल में ब्यंब प्रकासै॥
डाल गह्या पै मूल न सूझै, मूल गह्या फल पावा।
बंबई उलटि शरप कौं लागो, धरणि महारस खावा॥

---

१. कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ९२।
२. वही ,, पृ० ११२।

बैठि गुफा में सब जग देख्या, बाहरि कछू न सूझै।
उलटै धनिक पारधी मार्यौ, यहु अचरज कोई बूझै॥
औंधा घड़ा न जल में डूबै, सूधा सूभर भरया।
जाकौ यहु जग ढ्रिणा करि चालै, ता प्रसाद निस्तरिया॥
अंबर बरसै धरती भीजै, यहु जाणै सब कोई।
धरती बरसै अंबर भीजै, बूझै बिरला कोई॥
णावंणाहार कहे न गावै, अणबोल्या नित गावै।
नटवर पेषि पेषना पेषै, अनहद बेन बजावै॥
कहणी रहणी निज तत जाणै, यहु सब अघम कहाणी।
धरती उलटि अकासहि ग्रासै, यहू परिसां की बांणी॥
बांझ पियालै अमृत सोख्या, नदी नीर भरि राख्या।
कहै कबीर ते बिरला जोगी, धरणि महारस चाख्या॥[1]

सन्तों ने अपने काव्य में मार्मिक प्रतीकों की योजना की है। ये प्रतीक मार्मिक इसलिए बन गये हैं कि इनमें प्रयुक्त अप्रस्तुत और प्रस्तुत में व्यापार, भाव तथा दृष्टि साम्य है और इन प्रतीकों से हम चिर परिचित हैं। उदाहरणार्थ यहाँ कतिपय प्रतीक उद्धृत किये जाते हैं :—

सुगवा पिंजरवा छोरि करि भागा॥
इस पिंजरे में दस दरवाजा, दसों दरवाजा किवरवा लागा॥
अंखियन सेती नीर बहन लाग्यो, अब कस नहिं तू बोलत अभागा॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो, उड़िगे हंस टूटि गयो तागा॥[2]

तथा

पिया मेरा जागै मैं सोई री।
पांच सखी मेरे संग की सहेली, उन रंग रंगी पिया रंग न मिली री॥
सास सयानी ननद दोरानी, उन डर डरी पिया साथ न जानी री।
द्वादस ऊपर सेज बिछानी, चढ़ न सकौ मारी लाज लजानी री॥
रात दिवस मोहि कूक मारै, मैन सुनी रचि रहि संग जार री।
कह कबीर सुनु सखी सयानी, बिन सतगुरु पिय मिले न मिलनी री॥[3]

—कबीर

---

१. कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १४२।
२. संतबानी-संग्रह, भाग २।
३. वही, पृ० १३।

देहु कलाली एक पियाला, ऐसा अवधू है मतवाला ॥
है रे कलाली तैं क्या किया, सिरका सातैं प्याला दिया ॥
कहै कलाली प्याला देऊं, पीवन हारे का सिर लेऊं ॥
चन्द सूर दोउ सन्मुख होई, पीवे प्याला भरै न कोई ॥
सहज सुन्न में माठी राखै, पीवै रैदास गुरुमुख दखै ॥[१]

—रैदास

सोहं हंसा लागलि डोर ।
सुरति निरति चढ़ु मुनुवा मोर ।
झिलमिल झिलमिल त्रिकुटी ध्यान ।
जगमग जगमग गगन तान ॥
गह गह अनहद निसान ।
प्रान पुरुष तहं रहत जान ॥
लहरि लहरि उठि पंछिव घाट ।
फहरि फहरि चल उतर बाट ॥
सेत बरन तहं आवै आप ।
कह बुल्ला सोइ माइ बाप ॥[२]

—बुल्ला साहब

पारस के परसंग से लोहा मंहग बिकाय ॥
लोहा मंहग बिकान छुए से कीमत निकरी ।
चंदन के परसंग चंदन भई बन की लकरी ॥
जैसे तिल का तेल फूल संग मंहग विकाई ।
सत संगति में पड़ा संत या सदन कसाई ॥
गंगा में है सुभगंम मिली जो नारा सोती ।
सीप बीच जो पड़ै बूंद सो होवै मोती ॥
पलटू हरि के नाम से गनिका चढ़ी बिमान ।
पारस के परसंग से लोहा मंहगा बिकाय ॥[३]

—पलटू साहब

---

१. संतबानी संग्रह, भाग २, पृ० ३३ ।
२. वही, पृ० १७१ ।
३. वही, पृ० २३० ।

कैसे जल भरत गगरिया, भीजी न नेक अंगुरिया ॥
सतगुरु घाट गई बिन जाने, पैरी न चीन्ह पकरिया ॥
सागर थाह अथाह अगम को, कोइ भर नहि जात अनरिया ॥
सासु ननद के अनंद पिया मोरे, डारैंगे फोड़ गगरिया ।
रीती जाति फिरी बिन पानी, मानत नाहि बहुरिया ॥
सासु ससुर जेठ जुलमाई, सांई ने सील सवंरिया ।
बीतत दिवस रही अब रजनी, खुलत न प्रेम किंवरिया ॥
तुलसी ताव दास यहि औसर, पिय संग पैठ नगरिया ।
सूरति साज सजो नभ मंदर, अंदर बीच डगरिया ॥[1]

—तुलसी साहब

खुद एक भुम्मि आहि, बासन अनेक ताहि,
रचना विचित्र रंग, गढ़ेउ कुम्हार है ।
नाम एक सोन आस, गहना है द्वैत भास,
कहूं खरा खोंट रूप, हमेंहि अधार है ॥
फेन बुदबुद अरु लहरि तरंग बहु,
एक जल जानि लीजै, मीठा कहुं खार है ।
आतमा त्यों एक जाते भीखा कहे याहि माते,
ठग सरकार के बटोही सरकार के ॥[2]

—भीखा साहब

आनंद बरखत बुंद सुहावन ।
उमगि उमगि सतगुरु बर राजति, समय सुहावन भावन ॥
चहूं ओर घनघोर घटा आई, सुन्न भवन मन भावन ।
तिलक तत्त बेंदी पर झलकत, जगमग जोति जगावन ॥
गुरु के चरन मन मगन भयो जब, विमल विमल गुन गावन ।
कहै गुलाल प्रभु कृपा जाहि पर, हरदम भादो सावन ॥[3]

—गुलाल साहब

---

१. संतबानी संग्रह, भाग २, पृ० २४७ ।
२. वही, पृ० २१३ ।
३. वही, पृ० २०३ ।

इनके अतिरिक्त कबीर[१], दरिया साहब (बिहारवाले)[२], दरिया साहब (मारवाड़वाले)[३], बुल्ला साहब[४], गरीबदास[५], गुलाल साहब[६], पलटू साहब[७], यारी साहब[८], धर्मदास[९] विभिन्न प्रकार के प्रतीकों की रचना करने में बड़े कुशल हैं।

---

१. (क) संतबानी-संग्रह, भाग २, पृ० १३, १९।
   (ख) कबीर-ग्रंथावली, पृ० ९३, १०९, ११३, ११६, ११७।
२. संतबानी संग्रह, भाग २, पृ० १५१।
३. वही, भाग १, पृ० १२६, १२८, १३२।
४. वही, भाग २, पृ० १७१।
५. वही, पृ० १९९-२००।
६. वही, पृ० २०१, २०३।
७. वही, पृ० २१७।
८. वही, पृ० १४५।
९. वही, पृ० ४२।

सप्तम परिच्छेद

सन्तों की भाषा

भाषा शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'भाष्य' शब्द से निर्धारित की गई है। 'भाष्य' शब्द का अर्थ होता है 'जो बोला जाय' अथवा जो कहा जाय। कालान्तर में भाष्य शब्द का प्रयोग टीका और टिप्पणी के अर्थ में होने लगा किन्तु 'भाषा' शब्द अपने मौलिक रूप में अनेक संकुचित एवं व्यापक अर्थों में आज भी प्रयुक्त हो रहा है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहकर प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे के साथ विचार-विनिमय, भावों का आदान-प्रदान करता है। मानव अपने विचारों की अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से करता है। उदाहरणार्थ इंगित, स्पर्श, लेखबद्ध अक्षर अभिव्यक्ति के कतिपय साधन हैं। संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रयुक्त 'इति भाषायाम्' का भी आशय होता है वह साधना जिसके माध्यम से मानव स्वविचारों को अभिव्यक्त करता है। भाषा-वैज्ञानिक की दृष्टि से भाषा का अर्थ किंचित् भिन्न होता है। डॉ० बाबूराम सक्सेना एम० ए०, डी० लिट्०, के शब्दों में 'वाणी द्वारा प्रयुक्त ऐसी ध्वनियों से जो अध्ययन द्वारा विचार और विश्लेषण में आ सकें और जिनके हेर-फेर से उक्त शब्द बन सकें। हमें प्रयोजन है ऐसी ध्वनियों से जिनके द्वारा एक मनुष्य अन्य मनुष्य पर अपने विचार प्रकट कर सके। यह व्यापार मनुष्यों तक ही सीमित है—इसमें अन्य प्राणियों के प्रवेश की गुंजाइश नहीं।'[१] इसी प्रसंग में विचार करते हुए डॉ० सक्सेना भाषा की परिभाषा निम्नलिखित शब्दों में निर्धारित करते हुए कहते हैं कि 'जिन ध्वनियों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है उनको समष्टि रूप से भाषा कहते हैं'।[२] डॉ० नलिनी मोहन सान्याल के मत से भाषा की परिभाषा निम्नलिखित है, 'जो उच्चारित ध्वनियाँ भावों के प्रकाश करने के निमित्त निर्दिष्ट हैं, उनसे भावों के प्रकाशन का नाम भाषा है'।[३] इसी प्रसंग पर विचार करते हुए उनका कथन अधिक सारगर्भित है। सान्यालजी का कथन है कि अपने स्वर को विविध प्रकार से संयुक्त तथा

---

१. सामान्य भाषा-विज्ञान, पृ० २।

२. वही, पृ० ५।

३. भाषा-विज्ञान, नलिनी मोहन सान्याल, पृ० ३२।

विन्यस्त करने से उसके जो-जो आकार होते हैं, उनको संकेतों के सदृश व्यवहार कर अपनी चिन्ताओं तथा मनोभावों को जिस साधन से हम प्रकट करते हैं उस साधन को हम भाषा कहते हैं। हम जिन-जिन शब्दों का व्यवहार करते हैं उनमें अभीष्ट अर्थ रहना चाहिए, नहीं तो वह भाषा पद वाक्य नहीं होगी।[१] डॉ० भोलानाथ तिवारी का इस प्रयोजन से मत है कि 'भाषा निश्चित प्रयत्न के फलस्वरूप मनुष्य के मुख से निसृत वह सार्थक ध्वनि समष्टि है जिसका विश्लेषण और अध्ययन हो सके।'[२] पाश्चात्य विद्वान् स्टूर्टवांट का मत है कि 'भाषा वाणी द्वारा व्यक्त स्वच्छन्द प्रतीकों की वह रीतिबद्ध पद्धति है जिसके द्वारा मानव भावों को अभिव्यक्त करता है और परस्पर सहयोग का विकास करता है।'[३]

उपर्युक्त विद्वानों की परिभाषाओं पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी का मत है कि भाषा वह साधन है—वह ध्वनि-समूह है जिसके द्वारा भाव मूर्त रूप ग्रहण करके भावों को स्पष्टता प्रदान करते हैं। भाषा भावों की वाहक होती है, अतः भाषा का बड़ा महत्व और उपयोगिता होती है। भाषा भावों की अभिव्यक्ति का सबसे अधिक वैज्ञानिक साधन भी है। ध्वनि-चिह्नों से भी मानव अपने विचारों को किसी समय व्यक्त किया करता था। परन्तु ध्वनि-चिह्नों में भावों की स्पष्टता सम्प्रेषणीयता और अभिप्रेत अर्थ की अभिव्यक्ति की वह शक्ति कहाँ जो भाषा में सर्वत्र विद्यमान है। इंगित तथा मुखराग से अभिप्रेत भाव एवं अर्थ निश्चित एवं परिपुष्ट होता है। साहित्य में इसी कारण 'काकु' को विशेष महत्व दिया गया है। भावों की स्पष्टता में इंगित बड़ी सहायता करते हैं। जहाँ शब्द स्पष्टता की क्षमता और सामर्थ्य नहीं रखते हैं वहाँ इंगित का महत्व प्रकट हो जाता है। भाषा का महत्व जहाँ एक ओर भावाभिव्यक्ति, आत्माभिव्यंजना की दृष्टि से विचारणीय होता है, वहीं पर उसका विचार-विनिमय की दृष्टि से जो महत्व होता है वह भी भुलाया नहीं जा सकता है। विचार और भाषा का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। प्रायः मनस्तल के समुत्पन्न विचारों को मनुष्य एकान्त में भी अभिव्यक्त किया करता है। सुख-दुःख सम्बन्धी अनेक प्रकार के विचारों को मानव

१. भाषा-विज्ञान, श्री नलिनी मोहन सान्याल, पृ० ६८।

२. भाषा-विज्ञान, डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० २।

३. A language is the system of arbitrory vocal symbols by which members of a social group cooperate and intract.

—*Sturtevant.*

प्रायः एकांत में एकाकी होकर अभिव्यक्त करता है। वास्तव में भाषा और विचार एक ही वस्तु के दो पहलू हैं।

भाषा का जन्म कैसे होता है, कैसे हुआ है, यह एक रोचक विषय है। इस रोचक रहस्य पर पाणिनीय शिक्षा में निम्नलिखित शब्दों में प्रकाश डाला गया है :—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थन् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहिन्त स प्रेणति मारुतम् ॥

अर्थात् आत्मा बुद्धि के माध्यम से अर्थों को ग्रहण कर मन को बोलने की इच्छा से प्रेरित करती है। मन शरीर की अग्नि या शक्ति पर प्रभाव डालता है, और वह वायु को प्रेरित करती है और इस प्रकार काव्य का जन्म होता है। इसी रहस्य को १६वीं शताब्दी के महाकवि तुलसीदास ने निम्नलिखित शब्दों से व्यक्त किया था। वे कहते हैं :—

हृदय सिन्धु मति सीप समाना, सारद स्वाती कहहिं सुजाना।
जो बरसै बर बारि विचारू, प्रकट होहि मुकुता मनि चारू।

अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध विचारक दार्शनिक वार्ड का मत है कि 'शब्द विचार-प्रक्रिया के सुरंग-पथ के सदृश है।"[१] इसका तात्पर्य यह है कि शब्दों के साधन से विचार-क्रिया नवीन रूप और उच्च कोटि की सरलता ग्रहण करती है। भाषा की सहायता से ही विचारों का विकास बड़ी सुगमता के साथ होता है।

व्यक्तित्व के निर्माण, सभ्यता के विकास एवं विज्ञान के उत्कर्ष में भाषा का अनिवार्य योग-दान है। हमारे प्रत्ययों, मान्यताओं, संकल्पों, भावनाओं, स्वप्नों और विचारों को साकार रूप प्रदान करने का श्रेय यदि किसी को है तो वह भाषा को है। मानव जाति के संचित ज्ञानकोष को मूर्त रूप देने का अधिकार भाषा को ही है। सन्देशों, भावों और विचारों के प्रचार एवं प्रसार करने का सबसे सुन्दर माध्यम भाषा ही है। प्रेरणा देने एवं ग्रहण करने का सबसे सुदृढ़ एवं वैज्ञानिक साधन है—भाषा। भाषा के माध्यम से ही युग-युग की संचित ज्ञान-राशि आनेवाली पीढ़ियों को प्रेरणा देकर सुसंस्कृत, सभ्य और परिष्कृत बनाती है। कल्पना कीजिए कि यदि भाषा का अस्तित्व न होता, तो क्या ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में हम इतनी ही उन्नति कर सकते? आज हमारे सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक जीवन के लिए भाषा एक अनिवार्य साधन है। यदि भावों, दुःख-सुखादि अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए भाषा जैसा

---

१. Words are tunnels of thought. —*Ward*.

उपयुक्त साधन न होता तो हमारा जीवन कितना बोझिल और भार-स्वरूप हो जाता। वास्तव में व्यक्तित्व के विकास में भी भाषा का महत्वपूर्ण योगदान होता है।

काव्य को जीवित रखने के लिए, चिरस्थायी बनाने के हेतु भाषा अनिवार्य साधन है। यदि भाषा का अस्तित्व न होता, तो काव्य का वरदान मानव को न प्राप्त हुआ होता। ये रमणीय कल्पनाएँ अस्तित्व न ग्रहण कर सकतीं। जीवन की दिशाओं को निर्धारित करनेवाली अमर रचनाओं को जन्म न मिला होता। वास्तव में रस तो काव्य की आत्मा है ही, परन्तु साथ ही भाषा उसके जीवन का मुख्याधार है। भामह ने कितना सत्य कहा है कि :—

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।[१]

भामह का मत है कि शब्द अर्थ का संयोग ही काव्य है। अग्निपुराण में काव्य लक्षणों को प्रकट करते हुए कहा गया है कि :—

संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलंकार गुणवद्दोषवर्जितम्॥[२]

इस उद्धरण में विशेष बल इस बात पर दिया गया है कि इष्ट अर्थ को व्यक्त करनेवाली पदावली से युक्त ऐसा काव्य है, जिसमें अलंकार प्रकट हो और जो गुण-दोष से रहित हो। इसी प्रकार प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ की काव्य की परिभाषा[३] में भी भावानुभूति तथा अभिव्यक्ति की प्रक्रिया पर बल दिया गया है। ले हन्ट ने भी काव्य के लिए भाषा को अनिवार्य तत्त्व माना है।[४] काव्य में भाषा की अनिवार्यता पर यहां दो और मतों का उल्लेख कर देना आवश्यक होगा। चैम्बर्स डिक्शनरी में उल्लेख मिलता है कि कल्पना एवं अनुभूति से समुत्पन्न

---

१. काव्यालंकार, प्रथम परिच्छेद, १६।

२. अग्निपुराण, ३३६ अध्याय, ६०७ श्लोक।

३. Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings, it takes its origin from emotions recollected in tranquility.
—Wordsworth.

४. Poetry is the utterance of a passion for truth, beauty and power embodying and illustrating its conception by imaginations and fancy and modulating its language on the principle of variety in unity.
—Leigh Hunt.

विचारों को सुमधुर शब्दों में व्यक्त करने की कला ही कविता है।[१] वास्तव में भाषा एक कला, एक अनुभव और कार्य है।[२]

इतनी विवेचना कर लेने के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भाषा काव्य के लिए अनिवार्य तत्व है। काव्य और भाषा अन्योन्याश्रित हैं। वह काव्य को जीवन, शक्ति, स्थायित्व, रमणीयता तथा कलात्मकता प्रदान करने का मुख्याधार है। अतः यह आवश्यक है कि काव्य की भाषा में सौन्दर्य, रमणीयता, प्रभावात्मकता और लालित्य हो। वास्तव में काव्य मनुष्य के हृदय का निष्कपट शब्द-चित्र है। जब अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय, योग-क्षेम को भूलकर अनुभूति मात्र रह जाता है, तब हम उसे मुक्त हृदय कहते हैं। उस समय मनुष्य मात्र के सुख-दुःख में उसका सुख-दुःख अन्तर्हित हो जाता है। देश-काल का बन्धन उसमें नहीं रहता। अतिमानवीय और अमानवीय भावनाएं भी तिरोहित हो जाती हैं। हृदय की इस मुक्ति-साधना के लिए मनुष्य-वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसी का नाम काव्य है। काव्य और भाषा का अटूट सम्बन्ध है। भाषा की शक्ति, क्षेत्र और महत्व अपरिमित है। काव्य-भाषा को भावप्रकाशक, विचारबोधक, अर्थद्योतक, प्रभावोत्पादक, ओजवर्द्धक, सहज, सुन्दर, स्वाभाविक, शुद्ध और परिष्कृत होना आवश्यक है। सार्थक अभिव्यक्ति ही भाषा का सफल रूप है।

सन्तों की भाषा

सन्तों की भाषा पर विचार करने के पूर्व उनके भाषादर्श का अध्ययन कर लेना आवश्यक होगा। कारण कि सन्तों का भाषादर्श उनके भाषा-विषयक भाव और धारणा को स्पष्टता प्रदान कर देगा। सन्त काव्य-धारा के संस्थापक कबीर का भाषादर्श विचार करने से पहले कुछ अन्य कवियों की इस सम्बन्ध में विचारधारा विचारणीय होगी। सर्वप्रथम आलोच्य कवि हैं विद्यापति। विद्यापति श्रृंगारी कवि थे। दरबारी सभ्यता के मध्य काव्य-रचना करनेवाले कवियों में उनका नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। स्वयंभू और तुलसीदास[३] के समान उन्होंने कहीं अपनी अल्पज्ञता और आत्महीनता के लिए

---

१. Poetry is the art of expressing in melodious words and thoughts which are the creation of imagination and feelings.
—*Chambers Dictionary.*

२. Language is a skill, an art, a feeling and a doing.

३. कवि न होउं नहि चतुर कहावौं।
मति अनुरूप राम गुन गावौं॥
(रामचरित मानस)

पाठकों से क्षमायाचना नहीं की। उनके अनुसार कवि जन्म से ही ईश्वर की ओर से प्रतिभा लेकर जन्म ग्रहण करता है। 'कीर्तिलता' में उन्होंने उल्लेख किया है :—

बालचन्द विज्जावइ भाषा। दुहु नाहि लागइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हर सिर सोहइ। ई निच्चय नागर मन मोहहि।[१]

अर्थात् द्वितीया का चन्द्रमा और मेरी काव्य भाषा दुर्जनों के हास्य का विषय नहीं हो सकती, क्योंकि चन्द्रमा शिव के मस्तक पर शोभा देता है और मेरी भाषा नागरिकों के मन को मोह लिया करती है। एक और पद में विद्यापति ने कहा है :—

का परमोघ जो कमण भणावमो।
किमि नीरस मने रस लाए लावमो॥
जइ सुरसा हो सइ मम्मु भासा।
जो बुज्झइ से कीह पसंसा॥[२]

विद्यापति के काव्य के लिए 'देसिल बअना' सबसे अधिक उपयुक्त माना है। वे कहते हैं :—

सक्कय वाणी बुहयन भावई पाउंस रस को मम्म न पावई।
देसिल बअना सब जन मिट्ठा, ते तैस न जम्पाओ अवहट्ठा॥[३]

इस क्षेत्र में कबीरदास का विद्यापति से दृष्टि साम्य है। वे कहते हैं कि :—

संसकीरत है कूप जल भासा बहता नीर।

अर्थात् संस्कृत कूप-जल के समान सीमित है और भाषा को वे सरिता के जल के समान स्वच्छ मानते हैं। कबीर को वह भाषा प्रिय नहीं है जो जन-जीवन से दूर हो। मलूकदास के मत से 'भासा' ब्रह्म की अनुभूति को व्यक्त करने का एक साधन मात्र है :—

भासा छन्द जुटाय, बैठे साखि बनाय।
सन्तो, यह तो प्रेम निसान न आय॥[४]

सन्त सुन्दरदास का मत है कि यदि कविता में अक्षरों की न्यूनाधिकता होती है और भाषा अशुद्ध होती है तो वह लुढ़कते हुए मानव के समान चलती है।[५]

१. कीर्तिलता, प्रथम पल्लव, पृ० ४।
२. वही, पृ० ४।
३. वही, पृ० ४।
४. शब्द-संग्रह।
५. सुन्दर-ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ९७२।

'वाणी विचार का अंग' में कवि रज्जब साहब ने 'भाषा' अथवा हिन्दी का समर्थन किया है। वे कहते हैं :—

वैदिक ज्योतिष जैन मत मंत्र सुभाला नाम।
व्याकरण अस संस्कृत ताते मैं न पत्यांक॥
संस्कृत साई विमुख भाषा भबावत भाय।
सोने के जल सो लिखी गाली विविध बधाय॥

(रज्जब साहब की वाणी, पृ० ३२१)

इस प्रकार सन्तों ने सरल, कृत्रिमताविहीन जनता की भाषा को अपने भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। जनता की भाषा के वे समर्थक थे। जनता की भाषा वह भाषा है, जिसका प्रयोग जनसाधारण के सामान्य स्तर पर होता है। यह भाषा सरस, सरल, कृत्रिमता से रहित, जनता के हृदय को स्पर्श करने की अदम्य शक्ति, प्रभावित करने की सामर्थ्य से सम्पन्न होती है। यह भाषा संस्कृत के दुरूह तत्सम और अरबी फारसी के कठिन शब्दों से दूर एक समन्वित रूप को हमारे सामने प्रस्तुत करती है। सन्त कवि यद्यपि बहु-शिक्षित नहीं थे, परन्तु जनता के मनोविज्ञान के वे कुशल पारखी थे। जनता की आवश्यकता को परखकर, जनता की भावनाओं के ही अनुकूल जनसाधारण की भाषा को उन्होंने स्वभावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। इसीलिए भारतीय जनता के निम्नस्तर में जितनी इनकी पैठ और प्रवेश है, उतनी अन्य महाकवियों की नहीं। इस दृष्टि से ये सन्त कवि जननायक तुलसीदास से भी अधिक जनप्रिय और जनता के मध्य में प्रवेश पाए हुए हैं।

हिन्दी के सन्तों की काव्य-भाषा पर विचार करने के पूर्व, सन्तों के सम्बन्ध में कतिपय विचारणीय समस्याओं पर ध्यान देना आवश्यक है। इनमें से सर्वप्रथम बात यह है कि ये सन्त कवि सामान्यतया अशिक्षित अथवा अर्ध-शिक्षित थे। इनमें से यदि कोई अपवाद-स्वरूप है तो वे हैं, सन्त सुन्दरदास। सुन्दरदास ने बारह वर्ष तक काशी में रहकर काव्यशास्त्र, दर्शनशास्त्र, भाषा आदि की शिक्षा पाई थी। शेष प्रायः सभी सन्त स्वतः अशिक्षित तो थे ही, साथ ही पिछड़ी हुई जातियों और परिवारों में समुत्पन्न हुए थे। इसीलिए इनकी भाषा कहीं-कहीं पर बहुत ही अपरिष्कृत और साधारण कोटि की है। कहीं-कहीं इनकी भाषा व्याकरण की दृष्टि से दोषपूर्ण भी है।

(२) सन्तों की काव्य-भाषा में अनेक बोलियों का समन्वित रूप उपलब्ध होता है। उनकी काव्य-भाषा में अवधी, ब्रज, राजस्थानी, मैथिली, बुन्देलखण्डी

आदि के शब्दों का आश्चर्यजनक मेल है। इसके दो कारण हैं। प्रथम यह कि सन्त कवि भ्रमणशील थे। विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों में भ्रमण करके इन्होंने अपने उपदेशों, सन्देशों और अनुभूतियों का प्रचार तथा प्रसार किया। अतः स्वाभाविक रूप से उनकी भाषा में प्रादेशिक बोलियों के शब्दों का अप्रत्यक्ष रूप से प्रयोग हो गया है। द्वितीय यह कि सन्तों ने अपने मत को जनप्रिय बनाने के लिए क्षेत्रीय भाषा के शब्दों का बाहुल्य के साथ प्रयोग किया है। कुछ सन्तों ने तो जान-बूझकर विविधता का समावेश किया था। सुन्दरदास इस कोटि के कवियों में विशेष उल्लेखनीय हैं। उनकी रचनाओं में तो राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी, पूर्वी, अरबी और फारसी, अपभ्रंश तथा संस्कृत तक के शब्दों का सम्मिश्रण है। इसी प्रकार कुछ अन्य कवियों की भाषा के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। विविध बोलियों के सम्मिश्रण से प्रस्तुत की हुई सन्तों की इस कोटि की भाषा 'सधुक्कड़ी भाषा' या 'खिचड़ी बोली' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस प्रकार सधुक्कड़ी भाषा, भाषा-वैज्ञानिकों के अध्ययन के लिए एक रोचक सामग्री सिद्ध हो सकती है।

(३) कतिपय सन्तों ने अपनी रचनाओं में अन्तर्प्रान्तीय शब्दों का भी प्रयोग किया है, उदाहरणार्थ सन्त दादू दयाल का नाम लिया जा सकता है। दादू ने गुजराती, मराठी, सिन्धी आदि में भी कुछ रचनाओं की अभिव्यक्ति की है।

(४) सन्तों ने सरल-से-सरल भाषा में दुरूह-से-दुरूह दार्शनिक विषयों तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यंजना बड़ी सरलता से की है। यह प्रवृत्ति प्रायः सभी कवियों में पाई जाती है।

अब हम सन्तों की भाषा का अध्ययन करेंगे। पीछे कहा जा चुका है कि सन्तों की भाषा में अनेक बोलियों का सम्मिश्रण है। अतः सन्तों की भाषा का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के पूर्व इन सन्तों द्वारा प्रयुक्त बोलियों की एक तालिका बना लेना उपयोगी होगा। यह तालिका कुछ इस प्रकार से होगी।

क्रम संख्या	कवि का नाम	पंथ	प्रयुक्त बोलियां और भाषाओं का विवरण
१.	कबीरदास	कबीर पन्थ	भोजपुरी, व्रज, अवधी, राजस्थानी का सम्मिश्रण, फ़ारसी, अरबी के शब्दों का बाहुल्य, खड़ी बोली का विकासशील रूप
२.	पीपा	—	व्रज, अवधी, खड़ी बोली, खड़ी बोली का विकासशील रूप

३. नामदेव	—	व्रज, अवधी, खड़ी बोली, खड़ी बोली का विकासशील रूप
४. रैदास	रैदासी पन्थ	व्रज, अवधी, खड़ी बोली, अरबी, फ़ारसी, संस्कृत के तद्भव शब्द
५. सदना	—	व्रज, अवधी
६. धर्मदास	कबीर पन्थ	भोजपुरी, अवधी, व्रज, फ़ारसी, खड़ी बोली
७. नानक	सिख	पंजाबी, गुरुमुखी, खड़ी बोली
८. दादू दयाल	दादू पन्थ	व्रज, राजस्थानी, गुजराती, मराठी, सिन्धी
९. मलूकदास	मलूकदासी	अवधी, व्रज, खड़ी बोली, फ़ारसी, संस्कृत
१०. सुन्दरदास	—	व्रज, अवधी, संस्कृत, फ़ारसी, राजस्थानी
११. चरनदास	—	व्रज, अवधी, भोजपुरी
१२. जगजीवन साहब	सतनामी	अवधी, व्रज, खड़ी बोली
१३. बावरी साहब	बावरी पन्थ	अवधी, व्रज, खड़ी बोली
१४. वीरू साहब	,,	अवधी, व्रज, खड़ी बोली
१५. यारी साहब	,,	व्रज, फ़ारसी
१६. बुल्ला साहब	,,	भोजपुरी, व्रज, संस्कृत, फ़ारसी
१७. गुलाल साहेब	,,	भोजपुरी, अवधी
१८. भीखा साहेब	,,	भोजपुरी, व्रज, अवधी, खड़ी बोली, उर्दू
१९. हरलाल साहेब	,,	भोजपुरी, अवधी, व्रज, उर्दू
२०. चतुर्भुज साहेब	,,	भोजपुरी, अवधी, व्रज
२१. पलटू साहेब	पलटूदासी	अवधी, व्रज, उर्दू
२२. दरिया साहेब (बिहार)	दरिया पन्थ	व्रज, भोजपुरी, अवधी
२३. दरिया साहेब (मारवाड़)	,,	व्रज, अवधी, फ़ारसी, संस्कृत
२४. केशवदास	—	भोजपुरी, व्रज, अवधी, फ़ारसी, संस्कृत
२५. सहजोबाई	चरणदासी सम्प्रदाय	व्रज, खड़ी बोली, संस्कृत, फारसी
२६. दयाबाई	,,	व्रज, खड़ी बोली, संस्कृत, फारसी
२७. तुलसी साहब	आवा पन्थ	भोजपुरी, अवधी, व्रज, राजस्थानी, संस्कृत फ़ारसी, पंजाबी
२८. गरीबदास	दादू पन्थ	व्रज, फ़ारसी, संस्कृत

२९. चरनदास	चरनदासी	व्रज, अवधी, खड़ी बोली, संस्कृत, फ़ारसी
३०. दूलनदास	सतनामी	व्रज, अवधी, खड़ी बोली
३१. शिवनारायण	शिवनारायणी	व्रज, अवधी, खड़ी बोली
३२. रामचरन	रामसनेही	व्रज, अवधी
३३. रज्जब	दादू-पन्थ	व्रज, अवधी, खड़ी बोली

अब हम उपर्युक्त कवियों की भाषा का पृथक्-पृथक् सविस्तार अध्ययन करेंगे। इन कवियों में कबीर सर्वप्रथम उल्लिखित हुए हैं। कबीर युग-प्रवर्तक महाकवि हैं। कबीर ने अपनी मौलिकता, अद्वितीय प्रतिभा, क्रान्तिकारी व्यक्तित्व के माध्यम से पन्द्रहवीं शताब्दी के (भारतवर्ष के) सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन में महान् क्रांति समुपस्थित कर दी। कबीर ने युग-युग से चली आनेवाली सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक मान्यताओं में परिवर्तन उपस्थित किया और अभिनव आदर्शों की स्थापना की। इतना महत्व-पूर्ण व्यक्तित्व होते हुए भी आश्चर्य है कि उसके जन्म-स्थान, जन्म-काल, माता-पिता, मृत्यु-काल और भाषा के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। इन प्रश्नों का उत्तर किसी भी विद्वान् ने दृढ़ता के साथ नहीं दिया है। यहाँ पर कबीर की भाषा विचारणीय है।

कबीर की भाषा के संबंध में उनकी रचनाओं में एक अन्तस्साक्ष्य उपलब्ध होता है, जिसमें उन्होंने अपनी बोली, भावाभिव्यक्ति की भाषा, पूरबी स्वीकार की है। इस अन्तस्साक्ष्य का रूप निम्नांकित है :—

बोली हमारी पुरब की, हमें लखे न कोय।
हमको तो सोई लखे, धुर पूरब का होय॥

(बीजक)

इस साखी के आधार पर विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि काव्य बोली या भाषा पूरबी हिन्दी (अथवा भोजपुरी) है। परन्तु पं० परशुराम चतुर्वेदी ने इस साखी का आशय निकालते हुए यह मत प्रकट किया है कि पूरब दिशा द्वारा उस पहले की मौलिक स्थिति की ओर संकेत किया गया है जिसमें जीवात्मा और परमात्मा के बीच किसी प्रकार के अन्तर की अनुमति नहीं रहती है।[१] इस मत की पुष्टि के लिए चतुर्वेदीजी ने 'विदिशा दिशा' से संबंधित सूफ़ी कवि बरकत उल्लाह प्रेमी का एक पद्य भी उद्धृत किया है। बरकत उल्लाह प्रेमी ने इसी प्रकार एक और पद्य में 'धुर पूरब' शब्द का प्रयोग किया है जो कबीर के 'धुर पूरब' से बहुत-कुछ साम्य रखता है :—

१. कबीर साहित्य की परख, पृ० २०९-१०।

हम पूरब के पुरबिया, जात न पूछे कोय।
जात पांत से पूछिए, धुर पूरब का होय॥

चतुर्वेदीजी का सत है कि 'धुर' से आशय है नितान्त प्रारम्भिक अथवा दूर या सुदूर और 'लखना' का अर्थ है जो लक्षणों द्वारा किए गए न्यूनाधिक अनुमानों का आश्रित हो। अतः वास्तविकता कुछ और ही है। बीजक की पंचम रमैनी में उल्लेख हुआ है :

पूरब दिसा हंस गति होई।
है समीप संधि बूझे कोई॥

यहाँ पर 'पूरब दिसा' का वही तात्पर्य है जो 'बोली हमारी पूरब' की से है अथवा जो तात्पर्य बरकत उल्लाह प्रेमी का 'हम पूरब के पुरबिया' से है।[1] ये दार्शनिक संकेत हैं जो आध्यात्मिक उपलब्धि के अनन्तर कवि कबीर के हृदय से फूट निकले हैं। अतः यह स्पष्ट है कि 'बोली हमारी पुरब की' का संबंध भाषा से लेशमात्र नहीं है।

डॉ० रामकुमार वर्मा का मत है कि 'कबीर ने अपनी भाषा पूर्वी लिखी है, पर नागरी प्रचारिणी सभा ने 'कबीर-ग्रंथावली' का जो प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित किया है, उसमें पूर्वीपन किसी प्रकार का नहीं है। इसके पर्याय उसमें पंजाबीपन बहुत है।'[2]

कबीर की भाषा के सम्बन्ध में डॉ० श्यामसुन्दरदास का कथन है कि 'कबीरदासजी की भाषा में पंजाबी बहुत है। कबीरदास ने स्वयं कहा है कि मेरी बोली बनारसी है, इस अवस्था में पंजाबीपन कहां से आ गया। ग्रन्थ साहब और कबीरदासजी की वाणी का जो संग्रह किया गया है, उसमें जो पंजाबीपन देख पड़ता है उसका कारण स्पष्ट रूप से समझ में आ सकता है। पर मूल भाग में अथवा दोनों हस्तलिखित प्रतियों में जो पंजाबीपन देख पड़ता है, उसका कारण कुछ समझ में नहीं आता। या तो वह लिपिकर्ता की कृपा का फल है, अथवा पंजाबी साधुओं की संगति का प्रभाव। कहीं-कहीं तो स्पष्ट पंजाबी प्रयोग और मुहावरे आ गए हैं, जिनको बदल देने से भाव और शैली में परिवर्तन

---

१. हम वासी वा देस के हौ ना पाप न पुन्न।
विदिसा दिसा न होत है प्रेमी सुन्ने सुन्न॥
(बरकत उल्लाह प्रेमी)

२. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, चतुर्थ संस्करण, पृ० २५९।

हो जाता है। यह विषय विचारणीय है। मेरी समझ में कबीरदास की वाणी में जो पंजाबीपन देख पड़ता है, उसका कारण पंजाबी साधुओं की संगति ही मानना समीचीन जान पड़ता है।[1]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि कबीर की भाषा को पंचरंग मिली-जुली 'सधुक्कड़ी' कहा जा सकता है। उनका कथन है कि कबीर-बीजक की साखियों की भाषा सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी, पंजाबी मिली खड़ी बोली है, जहाँ उसकी रमैनियों एवं पदों में काव्य की व्रजभाषा एवं पूरबी बोली का भी व्यवहार है।[2]

कबीर की काव्य-भाषा पूरबी माननेवालों में रेवरेण्ड अहमदशाह,[3] विचार-दास शास्त्री,[4] रामकुमार वर्मा[5] विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सुनीति कुमार चटर्जी का मत है कि 'कबीर की रचना में हमें मुख्यतः व्रजभाषा मिलती है। लेकिन इसमें कोसली या पूर्वी हिन्दी का कुछ-कुछ मेल पाया जाता है और खड़ी बोली का रूप भी यथेष्ट परिमाण में मिलता है।[6] डॉ० बाबूराम सक्सेना का मत है कि कबीर अवधी के प्रथम सन्त कवि थे।[7] श्री सूर्यकरण पारीक उन्हें राजस्थानी का कवि मानते हैं।[8]

विभिन्न विद्वानों के उपर्युक्त विवेचन का अध्ययन करने के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कबीर की भाषा के सम्बन्ध में विद्वानों का एक मत नहीं है। इनमें से कुछ ऐसे हैं जो न भाषा-विज्ञान के आचार्य हैं न कबीर साहित्य के विद्यार्थी या विद्वान्। फिर भी कबीर की भाषा के विषय में वे अपना मत प्रकट करने का लोभ संवरण नहीं कर पाए हैं। हमारा यह मत है कि कबीर की भाषा राजस्थानी या पंजाबी नहीं थी। उनकी भाषा अवधी, भोजपुरी, व्रज, खड़ी, राजस्थानी और पंजाबी का समन्वित रूप है। अन्य सन्तों के समान कबीर की भाषा में भी अनेक बोलियों के शब्दों का सम्मिश्रण है। जैसे उनके मत और सन्देशों में समस्त धर्मों का तत्त्व विद्यमान है, उसी प्रकार

---

१. कबीर-ग्रन्थावली—भूमिका, पृ० ६-७।
२. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ९८।
३. दि बीजक ऑव कबीर, पृ० २९।
४. बीजक—विरल टीका, पृ० ४३।
५. सन्त कबीर—प्रस्तावना, पृ० १७।
६. भारत की भाषाएँ, पृ० ६०।
७. दक्खिनी हिन्दी, पृ० ३२।
८. ढोला मारू रा दूहा, प्रस्तावना, पृ० १६८।

उनकी भाषा में समस्त भाषाओं के शब्द विद्यमान हैं। कबीर तत्त्वग्राही थे। समस्त प्रदेशों के लोगों तक अपनी बात को पहुंचाने के लिए उन्होंने इसी प्रकार की भाषा को अपने भावों की अभिव्यक्ति का साधन बनाया।

अब हम कबीर साहित्य के तीन ग्रन्थों—'बीजक', 'आदिग्रन्थ' तथा 'कबीर ग्रन्थावली' के आधार पर कबीर की भाषा का अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे :—

(क) बीजक—(अ) अवधी— तेहि साहब के लागहु साथा।
दुइ दुख मेटि के रहहु सनाथा॥

(आ) भोजपुरी— फूलमल फूलल, मालिनि मल गांथल।
फुलवा बिन सिगैल भौंरा निरासल॥

(इ) व्रज—धनदास सुतराज काज हित माथे भार गह्यो।

(ई) खड़ी बोली—चलते चलते पग थका नगर रहा नौ कोस।

(उ) पंजाबी—साईं सेती चोरिया, चोरां सेती सूध।
तब जानहुगे जीयरा, मार परैगी तूझ॥

(ख) आदिग्रन्थ—(अ) अवधी—कहि कबीर भजु सारंग पानी।
राम उदिक मोरी तिषा बुझानी॥

(आ) भोजपुरी—आनन्द मूलं सदा पुरुषोत्म घटु बिनसै गगन जाइलै।

(इ) व्रज—कबीर कारन सो भयो जो कीनो करतार।

(ई) खड़ी बोली—कबीर तूं तूं करता तूं भया,
मुझमें रही न हूं।

(उ) पंजाबी—पेवकणो दिन चारिहै साधुरणै जाणा।
अन्धालोक न जाणई मूरख ऐ आणा॥

(ऊ) राजस्थानी—एक जोत एकै मिली।
किम्बा हो इम होई॥

(ग) ग्रन्थावली—(अ) अवधी—जस तूं तस तोहि काहे न जान।

(आ) भोजपुरी—तिगुण रहित फल रमि हम राखल,
तिब हमारो नाम राम राई हो।

(इ) व्रज—लोभ्यो भोमि बहुत पछितानो,
लालचि लाग्यो बहुत घनी।

(ई) खड़ी बोली—आऊंगा न जाऊंगा, मरुंगा न जीऊंगा,
गुरु के सबद में रमि रमि रहूंगा।

(उ) राजस्थानी—**क्या जाणै उस पीउ कूं कैसे रहसी संग।**

(ऊ) पंजाबी—**लूंण विलग्गापाणिया, पाणि लूंण विलग्ग।**

यहां पर प्रत्येक प्रांत भाषा के एक-एक उदाहरण ही दिए गए हैं। इन भाषाओं का अनुपात प्रायः समान है। व्रज और भोजपुरी का अंश कुछ कम है। अवधी, खड़ी, पंजाबी और राजस्थानी के अंश क्रमानुसार हैं। इसके अतिरिक्त और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं।

इसी प्रकार इन्हीं तीन ग्रन्थों में कुछ पद ऐसे भी हैं जो इनमें से दो या तीनों में समान हैं। जो अन्तर है वह केवल पाठ-भेद का ही नहीं किन्तु भाषा-विषयक भी है।[१] वैसे विषयवस्तु समान है। उदाहरण के रूप में एक पद की कुछ पंक्तियां दी जा रही हैं। इनमें भाषा-विषयक अन्तर देखने योग्य है :—

फिरहु का फूले फूले फूले
जब दस मास अउंध मुख होते सो दिन काहे भूले।

—बीजक

काहे भईआ फिरतै फुलिआ फुलिआ।
जब दस मास उरधमुष रहता सो दिन कैसे भूलिआ।

—आदिग्रन्थ

फिरत कत फूल्यो फूल्यो।
जब दस मास उरध मुखि होते सो दिन काहे भूल्यो।

—ग्रंथावली

एक ही पद्य में तीन पाठों के होने से सबसे उल्लेखनीय अन्तर क्रिया-पदों की विभिन्नता है, जो इस प्रकार है :

बीजक	**आदिग्रंथ**	**ग्रंथावली**
फूले, भूले	फुलिआ, भुलिआ	फूल्यो, भूल्यो
फिरहु	फिरतै	फिरत

इसी प्रकार पूरे पद में ऐसे अन्तर अनेक हैं। यह भेद स्पष्ट ही क्रमशः अवधी, पुरानी खड़ी बोली (हिन्दवी) और व्रजभाषा का है।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर की काव्य-भाषा में अनेक प्रकार की बोलियों के शब्दों का सम्मिश्रण है। 'आदिग्रन्थ' में संग्रहीत कबीर के पदों की अभिव्यक्ति गुरुमुखी लिपि में हुई है। किन्तु उनका

१. कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ २१३।

व्याकरणिक रूप पूर्वी हिन्दी से साम्य रखता है। यहां पर कतिपय उद्धरण प्रस्तुत करना आवश्यक है :—

१—संस्कृत से आए हुए संज्ञा प्रतिपादकों के स्वरान्तं यद्यपि अवधी और पंजाबी में व्यंजनान्त हो जाते हैं फिर भी पंजाबी में जो संयुक्त व्यंजन द्वित्व हो जाते हैं, वे अवधी में नहीं मिलते; यथा संस्कृत का 'अग्नि' शब्द पंजाबी में 'अगि' या 'अग्ग' हो जाता है और अवधी में उसका रूप 'आगी', 'अगन' या 'अगिनि' ही रहता है। कबीर ने अवधी रूपों का प्रयोग किया है पंजाबी का नहीं; यथा :—

अगिनि भी जूठी पानी भी जूठा।

२—पंजाबी में 'हम' सर्वनाम के लिए 'असां', 'तुम' के लिए 'तुसी' वे या 'उनके' के लिए 'ओन्ना' प्रयुक्त होता है। कबीर ने इन रूपों का परित्याग करके अवधी के रूपों का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ :—

(१) काजी ते कवन कतेब बखाने।
(२) ऐसे घर हम बहुत बसाये।
(३) तुम धन धनी उदार तियागी।

३—कारक चिह्नों का प्रयोग करते समय अवधी के चिह्नों को अपनाया है। कर्ता कारक की दोनों वचनों की विभक्ति अवधी में 'ए' है :—

'भोगन हारे भोगिया, इस मूरति के मुख छारु।"

कर्म कारक की विभक्ति अवधी में 'कउ' है:—

हम कउ साथ रु उन कउ खारु।

करण कारक की विभक्ति 'सिउ' या 'सो' है।

१—रे जन मन माधव सिउ लाइए।
२—जउ तुम अपने जनसो काम॥

अवधी में सम्प्रदान कारक की विभक्ति भी 'कऊ' है जिसका प्रयोग कबीर ने बारम्बार किया है :—

कहु कबीर ताकउ पुनरपि जन मनही।

अवधी में सम्बन्ध कारक की विभक्ति 'कर' या 'के' है। कबीर ने इन्हीं का प्रयोग किया है :—

१—मूए मरम को का कर जाजा।
२—दिल खलहल जाके जरदस बानी॥

अवधी में अधिकरण कारक की विभक्ति 'ये' या 'याहि' है। कबीर ने इनका प्रयोग किया है :—

१—मइआ यहि जिसु राखे उदासु।
२—आगि लगाइ मन्दर में सोवत ॥

अवधी की इन विभक्तियों के अतिरिक्त कहीं-कहीं खड़ी बोली तथा व्रजभाषा की भी विभक्तियां मिल जाती हैं। किन्तु पंजाबी की नूं (कर्म), ने (करण), तो (अपादान), दा (सम्बन्ध), विच्य (अधिकरण) आदि कहीं नहीं मिलती हैं। कहीं-कहीं पंजाबी के शब्द अवश्य मिलते हैं।

कबीर के काव्य में अवधी, व्रजभाषा और खड़ी बोली के क्रिया रूप मिलते हैं। उनकी कविता में अवधी की स्वरान्त क्रिया 'वा' के रूप मिलती हैं :—

अरु जे कहा कुसुम रस पावा।
अकह कहा कहि का समुझावा ॥

कबीर की प्रसिद्ध रचना 'बावन अखरी' है। इसमें प्रत्येक अक्षर का रूप गुरुमुखी वर्णमाला के व्यंजन उच्चारण के अनुकूल ही रखा गया है। उदाहरणार्थ क, ख, ग, क का, ख खा आदि। यह विशेषता होने पर भी वर्णमाला देवनागरी ही है। गुरुमुखी के स और ह अक्षर कवर्ग के पूर्व आते हैं, किन्तु देवनागरी में ये अन्तस्थ के अनन्तर हैं। कबीर ने देवनागरी के अनुकूल ही क्रम रखा है।

एक बात और ध्यान देने योग्य है। गुरुमुखी में देवनागरी अक्षरों श, स, ष, के लिए केवल स का प्रयोग होता है। कबीर ने स, ख, ष पर भी संकेत किया है जो क्रमशः श, ष, स का अभिप्राय प्रकट करते हैं। ये रूप देवनागरी वर्णमाला के अनुरूप हैं।

कबीर की भाषा में कहीं-कहीं अरबी-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग बड़ी सरलता एवं स्वाभाविकता के साथ हुआ है। इस प्रकार के पदों का अध्ययन करने से प्रकट होता है कि कबीर अरबी-फ़ारसी की शब्दावली से खूब परिचित थे। अरबी-फ़ारसी शब्दावलीयुक्त काव्य का एक उदाहरण यहां प्रस्तुत किया जाता है :—

हमन है इश्क मस्ताना, हमन को होसियारी क्या।
रहैं आज़ार या जग से, हमन दुनिया से यारी क्या ॥
जो बिछड़े हैं पियारे से, भटकते दर-बदर फिरते।
हमारा यार है हममें, हमन को इन्तज़ारी क्या ॥

खलक़ सब नाम अपने को, बहुत कर सिर पटकते हैं।
हमन गुरु नाम सांचा है, हमन दुनिया से यारी क्या ॥
न पल बिछुड़ै पिया हमसे, न हम बिछुड़ैं पियारे से।
उन्हीं से नेह लागी है, हमन को बेक़रारी क्या ॥
कबीरा इस्क का माता, दुई को दूर कर दिल से।
जो चलना राह नाज़ुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या ॥

कबीर के कुछ पदों में भोजपुरी का प्रयोग बड़ी सुन्दरता के साथ हुआ है।

कौन ठगवा नगरिया लूटल हो।
चन्दन काठ कै बनल खटोलना, तापर दुलहिन सूतल हो ॥
उठो री सखी मोरी मांग संवारो दुलहा मो सो रूसल हो ॥
आये जमराज पलंग चढ़ि बैठे, नैनन आंसू टूटल हो ॥
चारि जने मिलि खाट उठाइन, चहुँदिसि धू धू ऊठल हो ॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो, जग से नाता टूटल हो ॥

पीपा

पीपा का जन्मस्थान गागरौनगढ़ है। सन्त पीपा की काव्य-भाषा में अवधी और ब्रज का विचित्र सम्मिश्रण और समन्वय है। उनकी रचनाओं में खड़ीबोली का विकासशील रूप भी परिलक्षित होता है। पीपा की जो-जो रचनाएँ उपलब्ध हैं, उनमें कहीं भी अरबी-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग नहीं दिखाई देता है। इस दृष्टि से उनकी भाषा शुद्ध हिंदी है। उदाहरणार्थ यह 'घंट मठ' शीर्षक पद उद्धृत किया जाता है :—

काया देवा काया देवल, काया जंगम जाती।
काया धूप दीन नैवेदा, काया पूजो पाती ॥
काया बहु खंड खोजते, नव निद्धी पाई।
ना कछु आइबो ना कछु जाइबो, राम की दुहाई ॥
जो ब्रह्मंडे सोई पिंडे, जो खोजै सो पावै।
पीपा प्रनवै परम तत्व ही, सतगुरु होय लखावै ॥

नामदेव

नामदेव जाति के छीपी और पण्डरपुर के निवासी थे। उनकी काव्य-भाषा प्रमुख रूप से ब्रज है परन्तु उसमें अवधी का विशेष प्रभाव है। उदाहरणार्थ :—

तत्त गहन को नाम है, भजि लीजै सोई।
लीला सिंध अगाध है, गति लखै न कोई ॥

कंचन मेरु सुमेरु, हय गज दीजै दाना।
कोटि गऊ जो दान दे, नहिं नाम समाना॥
जोग जग्य ते कहा सरै, तीरथ व्रत दाना।
ओसै त्यास न भागिहै, भजिये भगवाना॥

तथा

भाई रे इन नैनन हरि पेखौ।
हरि की भक्ति **साधु** की संगति, सोई यह दिल लेखो।
या संसार हाट को लेखा, सब कोउ बनिजहिं आया।
जिन जस **लावा** तिन तस पाया, मूरख मूल गंवाया॥
आतम राम देह धरि आया, तामे हरि को देखो।
कहत नामदेव बलि वलि जैहौं, हरि भजि और न लेखौ॥

उपर्युक्त पदों के मोटे अक्षरों में लिखे गये अंश ध्यान देने योग्य हैं। इन अंशों में खड़ी बोली का विकासशील रूप दृष्टिगत होता है।

रैदास

रैदास जाति के चमार तथा काशी के निवासी थे। रैदास की काव्य-भाषा ब्रज-मिश्रित अवधी है। इनकी भाषा में अवधी के कारक चिह्नों का प्रयोग पाया जाता है। खड़ी बोली की विभक्तियों और उर्दू-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग भी इनकी भाषा में हुआ है। स्थान-स्थान पर पंजाबी भाषा के शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। रैदास की भाषा में पंजाबी का प्रभाव सम्भवतः प्रतिलिपिकारों की कृपा के कारण है। रैदास की भाषा में अरबी-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग भी बाहुल्य के साथ हुआ है। निम्नलिखित पदों से रैदास की भाषा का अनुमान कया जा सकता है :—

(१) रामहि पूजा कहां चढ़ाऊं, फल अरु फूल न अनूपन पाऊं।
दूधत वछ्रयो थनहु जुठार्यौ, पुहुप भंवर, जल मीन बिगार्यौ॥
मलयागिरि वेधियो भुवंगा, विष अमृत वसइ एक संगा।
मनहि पूजा मनहि धूप, मनही से सेऊं सहज सरूप।
पूजा अरचा न जानूं तोरी, कह रैदास कौन गति मेरी॥

(२) बन्दे जानि साहिब गनी।
समझि वेद कतेब बोलै, काबे के क्या मनी॥

ज्वानी जुभी जमाल सूरत, देखिये थिर नाही बे।
साही सफरी चतुरंगी, नाना रंग विसाल, बे॥
मनी मारै गर्व गाफ़ल, बेमेहर बेपीर बे।
दरी खानै पडत्त चोब चोबा होत नहीं तकसीर, बे॥
तज बदज़बान वेनजर कमदिल, करि कसम की कान बे।
रैदास की अरदास सुनि, कुछ हक़लाल पिछान बे॥

(३) माधव अविद्या अहित कीन, तातें विवेक-दीप मलीन॥
मृग, मीन, भृंग, पतंग, कुंजर, एक दोष बिनास।
पंच दोष असाध जामहि, कौन ताकी आस॥
जल थल जीव जहां तहां लौं, करम वा संग जाय।
मोह-फांस अबद्ध बांध्यों, करिय कौन उपाय॥
त्रिगुण योनि अचेत संभव, पाप पुण्य असोच।
मानुषावतार दुर्लभ, तिहूं संगति पोच॥
रैदास दास उदास तज भ्रम, जप न तप गुरु, ज्ञान।
भनत-जन भवहरन, परमानंद करहु निदान॥

उपर्युक्त तीन पदों में से प्रथम में अवधी भाषा का रूप दर्शनीय है, द्वितीय में फ़ारसी-अरबी की शब्दावली आकर्षक प्रतीत होती है और तृतीय में संस्कृत के तद्भव तथा तत्सम शब्दों का बाहुल्य है। तात्पर्य यह है कि रैदास की भाषा में अनेक प्रकार की बोलियों का प्रयोग हुआ है। रैदास की कविता में खड़ी बोली का भी अच्छा रूप उपलब्ध होता है[1]।

सदना

सदना का आविर्भाव-काल पन्द्रहवीं शती का उत्तरार्ध है। ये जाति के कसाई थे। इनकी भाषा प्रमुख रूप से व्रज है। सदन की भाषा में अवधी की क्रियाओं और संस्कृत के शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियां पठनीय हैं :—

एकु बूंद जल कारने, चातक दुख पावै।
प्रान गये सागर मिलै, पुनि काम न आवै॥
प्रान जो थाके थिर नहीं, कैसे विरमाओ।
बूडि मुये नौको मिलै कहु काहु चढ़ाओ।

---

१. संतवानी संग्रह, भाग २, पृ० ३४, पद ३।

मैं नाहीं कछु हौं नहीं, कछु आहि न मोरा।
औसर लज्जा राखिलेहु सदना जन तोरा॥

सन्त सदन की भाषा में प्रवाह और गति है। इस पद में कवि ने कहावतों का सुन्दर प्रयोग किया है।

धर्मदास

सन्त धर्मदास कबीरदास के शिष्य और समकालीन थे। ये जाति के बनिया और काशी के निवासी थे। धर्मदास की भाषा में भोजपुरी, अवधी, व्रज, फ़ारसी और खड़ी बोली के शब्दों का सुन्दर सम्मिश्रण है। उदाहरणार्थ यहां कतिपय पद उद्धृत किए जाते हैं:—

(१) कहंवां से जिव आइल, कहंवां समाइल हो।
कहंवां कइल मुकाम, कहां लपटाइल हो।
काया गढ़ कइल मुकाम, माया लपटाइल हो।

(२) सतगुरु आवो हमरे देस, निहारौं बाट खड़ी।
वाहि देस की बतियां रे, लावैं सन्त सुजान।
उन सन्तन के चरन पखारौं, तन मन करौं कुरबान॥
वाहि देस की बतिया हमसे, सतगुरु आन कही।
आठ पहर के निरखत हमरे, नैन की नींद गई॥

(३) जस कुम्हार कै चाक घुमै, वैसे नर घूमै।
....
चार कोस आकास तहां चढ़ि देखिये।
....
अर्ध उर्ध बिच लगन लगी है।
....
कंचन महल धरे रहे और सुंदर नारी।

(४) गगन पिय बंसी केरि बजावो॥
भंवर गुफा से उठत बुलबुला, सो अंजन पिय नैन लगावो।
जो बंसी सुर नर मुनि मोहै, सो बंसी पिय मोहि सुनावो॥
आनो कूंजी खोलो ताला, मोहनि मूरति मोहि दिखावो।
धरमदास बिनवै कर जोरी, चरन कंवल तरे मोहि लगाघो।

(५) मिहरबान है साहेब मेरा, दिलभर दरसन पाऊं तेरा।
तुम दाता मैं सदा भिखारी, देव दीदार जाऊं बलिहारी ॥
करूं बंदगी खिजमत दीजै, बक्सो चूक दया बहु कीजै ॥
सेवक ते बिगरै सौ बारा, सतगुरु साहेब लेव उबारा ॥

उपर्युक्त उद्धरणों में से प्रथम की रचना भोजपुरी, द्वितीय अवधी, तृतीय खड़ी बोली, चतुर्थ ब्रजभाषा, पञ्चम अरबी-फ़ारसी के शब्दों से ओत-प्रोत भाषा में हुई है। धर्मदास ने अपनी काव्य-भाषा में ग्रामीण शब्दों का भी प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ :—

धनुष बान लिए ठाढ़ जोगिन एक माया हो।
छिनहि में करत बिगार तनिक नहि दाया हो।
....

मारे सुरचा सबद से, भ्रम के गढ़ टूटे।
....

साहेब अविचल नाम दया करि पाइये ॥

इस प्रकार धरमदास की भाषा बड़ी सरल, सीधी-सादी, स्वाभाविक, प्रभावोत्पादक और प्रसाद एवं माधुर्य गुणों से युक्त है। उनकी भाषा के शब्द भावाभिव्यक्ति के हर प्रकार से सहायक और समर्थ हैं।

नानक

नानक को पंजाबी और हिन्दी भाषाओं का सम्यक् ज्ञान था। इन्हीं दोनों भाषाओं के माध्यम से उन्होंने अपने भावों की अभिव्यक्ति काव्य के रूप में की है। जहां एक ओर उन्हें इन्द्रिय-संयम और आत्मज्ञान की शक्ति प्राप्त थी वहां दूसरी ओर हिन्दी और पंजाबी में साधारण-से-साधारण तथा दुरूह से दुरूह भावों की अभिव्यक्ति की शक्ति भी उन्हें सम्प्राप्त थी। गुरु नानक प्रतिभाशाली जन्मजात कवि थे। जिस समय उनका आविर्भाव एवं उत्कर्ष हुआ उस समय बंगाल में चण्डीदास, बिहार में मैथिलि कोकिल अभिनव जयदेव विद्यापति, महाराष्ट्र में नामदेव अपने-अपने विचारों एवं भावों को हिन्दी भाषा में उत्तमोत्तम शैली में हृदयग्राही ढंग से व्यक्त करके मानवता को ज्ञान के प्रकाश से आलोकित कर रहे थे। अतः गुरु नानक देव का हिन्दी की ओर आकर्षित होना बहुत स्वाभाविक था। पंजाबी में लिखित उनके पदों में भी हिन्दी के शब्दों का ही बाहुल्य है। उनकी काव्य-भाषा में हिन्दी के साथ-ही-साथ संस्कृत के तत्सम

और तद्भव शब्दों का प्रयोग भी हुआ। गुरु नानक की काव्य-भाषा के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए यहां कुछ उद्धरण दिए जाते हैं। इनमें प्रथम में पंजाबी और द्वितीय में हिन्दी के रूप दर्शनीय एवं अध्ययनीय हैं :—

पवणु गुरुपाणी पिता माता धरति महत्तु।
दिवस रात दुइदाई दाया खेलै सकल जगत्तु॥
चंगियाइयां बुरिवाइयां बाचै धरमु हदूरि।
करनी आपो आपणि के नेडै के दूरि॥
जिन्नी नाम धेयाइया गये मसवकत्ति घालि।
नानक ते मुख उज्जले केती छुट्टी नालि॥

इस पद में पंजाबी शब्दावली, क्रियापद एवं अभिव्यक्ति स्पष्ट है। प्रस्तुत पद की पंचम पंक्ति में पंजाबी भाषा का सौन्दर्य देखने योग्य है। मातृभाषा होने के कारण वह पंजाबी के मर्म से भलीभांति परिचित हैं। अब एक और पद देखिए जिसमें पंजाबी और हिन्दी का मनोरम सम्मिश्रण है। यह पद दार्शनिक विचारधारा की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। कवि अपनी संसार-विषयक विवर्त भावना को व्यक्त करता हुआ कहता है :—

इस दम दा मैनूं की बे भरोसा, आया आया न आया न आया॥
सोच विचार करै मत मन में, जिसने ढूंढा उसने पाया॥
या संसार रैन दा सुपना, कहिं दीखा कहिं नाहि दिखाया॥
नानक भक्तन के पद परसे, निस दिन रात चरन चित लाया॥

इस पद में 'मैनूं', 'रैनदा' आदि थोड़े-से पंजाबी शब्द हैं, शेष हिन्दी के। अब तृतीय कोटि की रचना पढ़िए जिसमें केवल हिन्दी के शब्दों का प्रयोग हुआ है :—

सब कछु जीव को ब्यौहार।
माता पिता भाई सुत बांधव, अरु पुनि गृह की नार।
तन ते प्रान होत जब न्यारे, टेरत प्रेत पुकार।
आध घरी कोऊ नहिं राखै, घर तें देत निकार॥
मृग तृस्ना ज्यों जग रचना यह, देखो हृदै विचार।
कह नानक भजु राम नाम नित, जाते होत उधार॥

इस पद में कुछ संस्कृत के तद्भव एवं तत्सम शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। गुरु नानक की भाषा में अरबी-फ़ारसी के शब्दों का भी भलीभांति प्रयोग मिलता है। उदाहरणार्थ यहां एक पद उद्धृत कर देना आवश्यक है :—

मुरसिद मेरा मरहमी, जिन मरम बताया।
दिल अन्दर दीदर है, खोजा तिन पाया ॥
तसबी एक अजूब है, जामे हरदम दाना।
कुंज किनारे बैठि के, फेरा तिन्ह जाना ॥
हिरिस हिये हैवान है, बसि करिले भाई।
दाद इलाही नानका, जिसे देवे खुदाई ॥

गुरु नानक के हिन्दी-प्रेम से अनुप्राणित होकर उनके उत्तराधिकारियों में भी हिन्दी भाषा में काव्य-रचना की प्रवृत्ति का विकास हुआ। द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ गद्दियों के गुरुओं की काव्य-भाषा हिन्दी शब्दों से गर्भित है। पंचम गद्दी के सुप्रसिद्ध गुरु अर्जुन देव की रचनाएं तो सामयिक हिन्दी भाषा के ही उदाहरण हैं। नवम गद्दी के अधिकारी वीर तेगबहादुर के पद पूर्णतया हिन्दी भाषा में ही लिखे गए हैं। गुरु तेगबहादुर के पुत्र, दशम गद्दी के अधिकारी गुरु गोविन्दसिंह ने हिन्दी भाषा में 'दशम ग्रन्थ' की रचना कर डाली जो 'आदि ग्रन्थ' के समान ही महत्वपूर्ण और उपयोगी है। अब प्रमुख गुरुओं की भाषा अध्ययनीय है। गुरुओं की रचनाओं से कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं :—

गुरु अंगद की भाषा का उद्धरण निम्नलिखित दो पंक्तियों में प्रस्तुत है :—

जासुख तासुख रागियो दुख भी संभालै ओइ।
नानक कहै सियाणिये यों कन्त मिलावा होइ ॥

गुरु अंगद की तुलना में गुरु अमर दास की भाषा अधिक परिष्कृत हिन्दी है। गुरु अंगद की हिन्दी खड़ी बोली के बहुत निकट और संस्कृत शब्दों से सुशोभित है :—

तू आपे आप सभु करता कोई दूजा होय सु औरो कहिये।
हरि आपे बोले आपि बुलावे हरि।
आपे जलि थलि रवि रहिये।
हरि आपे मारे हरि आपे छोड़े मनहरि सरणि पडि रहिये।
हरिबिनु कोई मारि जीवलिन सबकै।
मन में निनिंद निस्चलु होइ रहिये।
उंठदिया बहंदिया सुतिया सदा हरि नाम ध्याइये।
जन नानक गुरु मुख हरि लहिये।

इस पद में उंठदिया, बहंदिया, सुतिया, जीवलिन पंजाबी के शब्द हैं; निंनिद, निस्चल्लु, सरणि, जलि, थलि, मनहरि आदि संस्कृत के विभिन्न शब्दों के अपभ्रंश रूप हैं।

गुरु अमरदास की भाषा की तुलना में गुरु रामदास की भाषा अधिक परिष्कृत और संस्कृत से प्रभावित है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियां पठनीय होंगी :—

हौं क्या सालाहीकिरम जन्तु बड्डी तेरी बडियाई।
तू अगम दयालु अगम्मु है आपि लेहि मिलाई।
मैं तुझ बिन बेला को नहीं, तू अंति सखाई।
जो तेरी सरणागती तिन लेहु छुडाई।
नानक बे परवाहु है किसु तिल न तमाई।
संगति संत मिला हरि सरि निरमलि नाय।
निरमलि जाल नाये मैलु गंवाये भये पवित्र सरीरा।
दुरमति मैल गई भ्रम भागा हौ मैं बिनठी पीरा।
निदरि प्रभू सत संगति पाई निज घर हो आबासा।
हरि मंगल रसि रसन रसाये नानक नाम प्रगासा॥

गुरु अर्जुनजी की भाषा में उच्चारण की दृष्टि से पंजाबी का प्रभाव यत्र-तत्र दिखाई देता है। कवि ने 'न' के स्थान पर 'ण' का प्रयोग किया। शेष संस्कृत शब्दावली से युक्त हिन्दी ही है :—

गावहु राम के गुण गीत।
नाम जपत परम सुख पाइये, आवागवणु मिटै मेरे मीत।
गुण गावत होवत परगास, चरण कमल महं होय निवास।
संत संगति महं होइ उधार, नानक भव जल उतरसि पार।

गुरु तेगबहादुर तलवार और लेखनी दोनों के धनी थे। बौद्धिक और शारीरिक शक्ति का उनमें विचित्र सामंजस्य था। अभिव्यंजना-शक्ति की प्रचुरता ने उन्हें उच्चकोटि का कवि बना दिया था। उनकी भाषा पूर्णतया हिन्दी ही है। इस कथन की पुष्टि निम्नलिखित उद्धरण से हो जाती है :—

प्रानी नारायन सुधि लेह।
छिनु छिनु औधि घटै निसि बासरु बृथा जात है देह।
तरुनापो बिखियन स्यां खोयो बालापन अज्ञाना।
विरध भयो अजहूं नहि समझै कौन कुमति उरझाना।

मानुस जन्म दियो जेहि ठाकुर सो तैं क्यों बिसरायो।
मुकति होति नर जाके सुमिरे निमख न ताको गायो।
माया को भट्ठ कहा करतु है संग न काहू जाई।
नानक कहत चेतु चिंतामणि होइ न अन्त सहाई॥

इस पद के प्रानी, छिनु, निसि वासरु, बृथा, तरुनापो, बिखियन, अज्ञाना, बिरध, कुमति, मानुस, जन्म, मुकति, नर, माया, मृदु, चिन्तामणि तथा अन्त आदि संस्कृत विकृत शब्द हैं। इनके प्रयोग से भाषा में सौंदर्य और प्रभावित करने की शक्ति संचारित हो गई है। इस पद में सुधि, बिसरायो, सहाई, उरझाना आदि ग्रामीण शब्दों का प्रयोग हुआ है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि अहिन्दी प्रदेश के निवासी, गुरुमुखी को मातृभाषा के रूप में ग्रहण करनेवाले गुरुओं की काव्य-भाषा हिन्दी बड़ी सुन्दर है। उसमें भाषा का अध्ययन स्वतः एक अनुसंधान का विषय है।

मलूकदास

मलूकदास का आविर्भाव उस समय हुआ जिस समय हिन्दी के महाकवि गोस्वामी तुलसीदास ने अवधी भाषा में अपने गौरव ग्रन्थ रामचरितमानस की रचना प्रारम्भ कर दी थी[1]। मलूकदास की युवावस्था के समय तक 'मानस' की रचना समाप्त हो चुकी थी और वह लोकप्रियता प्राप्त कर रहा था। 'मानस' की लोकप्रियता के साथ ही अवधी का क्षेत्र भी व्यापक हो रहा था। अवधी के प्रचार तथा प्रसार में 'मानस' का पर्याप्त सहयोग रहा। 'मानस' के अतिरिक्त गोस्वामी तुलसीदास की अन्य रचनाएँ भी इस समय तक जनता तक पहुँच गई थीं। इन ग्रन्थों का सर्जन भी अधिकतर अवधी में ही हुआ था। इसी समय अकबर के दरबारी कवियों में बीरबल तथा रहीम भी अवधी में नीति-साहित्य की रचना कर रहे थे। मलूकदास के आविर्भाव-काल में अवधी लोकप्रिय थी। अवधी के निकट रहने तथा अवधी से पूर्ण वातावरण में रहने के कारण मलूकदास अपने को उसके प्रभाव से वंचित न रख सके। फलतः उन्होंने भी अपने अधिक ग्रन्थों की रचना अवधी में की। मलूकदास के पूर्व अवधी के दो स्वरूप दृष्टिगत होते हैं—प्रथम अत्यन्त सरल तथा स्वाभाविक। इसमें संस्कृत के कठिन समास अथवा दुरूह शब्दावली नहीं है। प्रेम-काव्य तथा सूफ़ी साहित्य के रचयिताओं ने भाषा के इसी रूप को ग्रहण किया था। 'अवधी का

---

१. संवत सोरह सौ इकतीसा। करौं कथा हरिपद धरि सीसा॥
—तुलसी ग्रन्थावली, पहला खंड, पृ० २०।

द्वितीय स्वरूप पूर्वी अवधी, जो अधिक परिष्कृत, साहित्यिक एवं सुसंस्कृत है। गोस्वामी तुलसीदास ने अवधी के इस दूसरे स्वरूप का प्रयोग किया। मलूकदास ने अपनी रचनाओं को अधिक लोकप्रिय तथा सुगम बनाने के लिए अवधी के उसी रूप का प्रयोग किया जिसका उनसे प्रायः १०० वर्ष पूर्व संवत् १५९७ वि० में मलिक मुहम्मद जायसी तथा अन्य प्रेम-काव्य के कवियों ने प्रयोग करके लोकप्रियता प्राप्त की थी। हमारे कवि ने अवधी में अपने अधिकतर ग्रन्थों की रचना की, परन्तु इसके साथ ही उन्होंने अन्य भाषाओं तथा बोलियों का भी प्रयोग किया है। अवधी के अतिरिक्त उनके ग्रन्थों में ब्रजभाषा, खड़ी बोली का भी प्रयोग हुआ है। उनके काव्य में अरबी, फारसी, संस्कृत, बैसवारी, भोजपुरी और बुन्देलखण्डी शब्द भी पर्याप्त मात्रा में व्यवहृत हुए हैं। मलूकदास की अवधी अत्यन्त सरल एवं स्वाभाविक है। वह जन-समाज की बोली के रूप में है तथा उसमें जन-समाज को प्रभावित करने की सराहनीय शक्ति है। उसमें संस्कृत के कठिन समास अथवा शब्दावली का अभाव है। उसे ग्रामीण अवधी कहना अधिक उपयुक्त होगा।

मलूकदास के समय में कृष्ण-काव्य की रचना ब्रजभाषा में हो रही थी। महाकवि सूरदास अपने 'सूरसागर' की रचना हमारे कवि से कुछ समय पूर्व ब्रजभाषा में कर चुके थे। केशवदास मलूकदास के समकालीन थे। केशवदास ने भी ब्रजभाषा में काव्य-रचना की थी। इस प्रकार ब्रजभाषा की मधुरता से मलूकदास परिचित हो चुके थे। फलतः उन्होंने अपने ग्रन्थ 'ब्रज लीला' की रचना ब्रजभाषा में की। मलूकदास और सूरदास की ब्रजभाषा में वही अन्तर है जो उनकी और गोस्वामीजी की अवधी में है। उनकी ब्रजभाषा में परिमार्जन है, तथा प्रत्येक भाव का सरल प्रकाशन भी है, पर उसमें वह अलंकारिकता नहीं उपलब्ध होती है जो 'सूर सागर' के प्रत्येक पद में भरी-सी पड़ी है। मलूकदास की ब्रजभाषा में मधुरता तथा हृदयग्राहिता का अभाव नहीं है। दान-लीला, मान-लीला आदि (ब्रजलीला ग्रन्थ के कुछ स्थल) प्रसंगों में मार्मिकता तथा मधुरता प्रत्येक स्थान पर उपलब्ध होती है। दान-लीला प्रसंग में श्रीकृष्ण तथा गोप कुमारियों के संवाद पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भावों की अभिव्यंजना जिस कुशलता के साथ कवि ने अवधी में की है उतनी ही कुशलता के साथ ब्रजभाषा में भी।

अवधी तथा ब्रजभाषा के अतिरिक्त मलूकदास ने अन्य भाषाओं को भी अपनी विभिन्न रचनाओं में स्थान दिया है, यद्यपि उन्होंने उनमें से किसी में भी स्वतन्त्र रूप से किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की। इन प्रान्तीय बोलियों का

प्रयोग किसी विशेष स्थल अथवा प्रसंग की दृष्टि से नहीं किया गया वरन् इनका प्रयोग कवि की आवश्यकता पर निर्भर प्रतीत होता है। जहां पर जैसा शब्द कवि को आवश्यक प्रतीत हुआ उसने उसका प्रयोग किया। प्रान्तीय बोलियों के प्रयुक्त होने के और भी कारण हैं। यातायात की कठिनाइयों के उन दिनों में भी मलूकदास ने जगन्नाथपुरी तथा अन्य स्थानों का भ्रमण किया था, जिसका उल्लेख उनकी 'परिचयी' में सुथरादास ने भी किया है। यात्राओं में विभिन्न देशों के वातावरण तथा भाषाओं का भी हमारे कवि पर प्रभाव पड़ा हो तो आश्चर्य नहीं है। मलूकदास के काव्य में भोजपुरी तथा बुन्देलखण्डी के शब्दों का प्रयोग मिलता है, परन्तु इन प्रान्तीय बोलियों के शब्द इतने अधिक नहीं हैं कि उनकी अवधी अथवा ब्रजभाषा उनसे दबी-सी प्रतीत हो।

हिन्दी की प्रान्तीय बोलियों के अतिरिक्त मलूकदास ने अपने काव्य में मुगलकालीन अरबी-फ़ारसी के शब्दों का भी प्रयोग बड़े कौशल से किया है। प्रथम अध्याय में कवि के समय पर प्रकाश डाला गया है। उस समय मुगलों का साम्राज्य अपने विकास पर था। मुगलों की संस्कृति तथा भाषा का बोलबाला था। फ़ारसी तथा अरबी राज्य-भाषा होने के कारण जनता में अधिक प्रिय थीं। राज्य के कार्यालयों में भी इन्हीं भाषाओं के जाननेवालों की खपत थी, फलतः उस समय अरबी और फ़ारसी का वही पद था जो आजकल अंग्रेज़ी भाषा का है। ऐसे वातावरण से प्रभावित होना कवि के लिए सर्वथा स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त कड़ा बहुत समय से यवनों की राजनीति का लीला-क्षेत्र हो रहा था। सम्राटों के बाद सम्राट् कड़ा को अपनी जागीर बनाते चले आए थे। फलतः कड़ा में मुसल्मानों की संस्कृति जड़ जमा चुकी थी। अपनी रचनाओं को जनता में प्रिय तथा स्वाभाविक बनाने के लिए हमारे कवि ने अपने ग्रन्थों में अरबी-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग किया। अरबी-फ़ारसी जाननेवाली जनता में उस समय ऐसी ही भाषा की मांग थी और विशेषकर उस दशा में जब साहित्य त्रस्त जनता के परित्राण तथा उपदेश देने के लिए रचा जा रहा था।

मलूकदास के काव्य में फ़ारसी शब्दों के तीन प्रकार से प्रयोग उपलब्ध होते हैं—प्रथम वे रचनाएं हैं, जिनमें फ़ारसी के शब्दों की ही प्रचुरता है। ये रचनाएं सवैयों तथा पदों में हैं। इस प्रकार की रचनाओं में फ़ारसी के शब्द प्रायः ९० प्रतिशत प्रयुक्त हुए हैं। कवि के पदों के अतिरिक्त अन्य किसी रचना में फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग इस अनुपात में नहीं उपलब्ध होता है।

निम्नलिखित उद्धरणों से प्रकट हो जाता है कि कवि की इस प्रकार की रचनाओं में अरबी-फारसी के शब्दों का कितना अधिक प्रयोग हुआ है :

है हजूर नहि दूर हमा जा भरपूर।
जाहिरा जहान, जाका जहूर पुरनूर।
बेसवूत बेनमून बेचगून ओस्त।
हमा ओस्त हमा अज़ोस्त जान जानाँ दोस्त।
शबो रोज़ ज़िकर फिकरही मे मशगूल।
तेहि दरगाह बीच पड़े हैं कबूल।
साहब है मेरा पीर कुदरत क्या कहिये।
कहता मलूक बन्दा, तक पनाह रहिये।[1]

इस प्रकार की रचनाओं के विषय में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि आज का साधारण पठित व्यक्ति इन्हें समझने में समर्थ नहीं होगा। इनमें फारसी के कठिन शब्दों का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार अरबी तथा फारसी के शब्दों से युक्त भाषा मलूकदास के समय में, जब कि देश में मुगलों का ही राज्य था, सरल समझी जाती थी। इसी दृष्टिकोण से कवि ने इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है।

द्वितीय प्रकार की रचनाएँ वे हैं, जिनमें कवि ने अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग कम मात्रा में किया है। इस प्रकार की रचनाओं में अरबी-फारसी के शब्द पचास प्रतिशत से न्यून नहीं हैं। इस कोटि की रचनाएँ भी पदों तथा सवैयों तक सीमित हैं। उदाहरणार्थ यहाँ कुछ उद्धरण दिये जाते हैं :

मुरसिद मेरा दिल दरियाई, दिल गहि अन्दर खोजा।
जा अन्दर में सत्तर काबा मक्का तीसो रोजा।
सातो तबक औलिया जामें भेद न होय जुदाई।
सम्स कमर ठाढ़े निमाज में दरसे जहाँ खोदाई।
खवा हिरिस खुदी में खोवा, अनल हक्क जहँ जानी।
बिना चिराग रोसन सब खाना तामें तख्त सुमानी।
बिना आब जहँ बहु गुल फूलै अब्र बिना जहँ बरसै।
हूर बिना सरोद सब बाजै चस्म बिना सब दरसै।
ता दरगाह मुसल्ला डारे, बैठा कादिर काजी।
न्याव करे सीने की जानै सब को राखै राजी।[2]

---

१. मलूकदास की बानी, पृ० २०।
२. वही, पृ० ४।

तृतीय प्रकार की रचनाएँ वे हैं, जिनमें अरबी-फारसी के शब्दों का बहुत अल्प मात्रा में प्रयोग हुआ है। इन रचनाओं में अरबी तथा फारसी के बहुत ही सरल तथा सुगम शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन रचनाओं के अन्तर्गत कवि के ग्रन्थ तथा स्फुट पद और सवैया आदि आ जाते हैं। उदाहरणार्थ इस प्रकार के उद्धरण यहाँ दिये जाते हैं :

नाम हमारा खाक है हम खाकी बन्दे।
खाकहिं ते पैदा किये अति गाफिल गन्दे।
कबहु न करते बन्दगी दुनियाँ में भूले।
आसमान को तकते घोड़े चढ़ि भूले।[१]

तथा—

तू साहेब लीये खड़ा बन्दा ना सबूरा।
जैसा जिस को चाहिए देता भरपूरा।
लाख करोड़ जो गाँठि में तो भी यह रोवे।
भरता मारे फिकिर के सुख कबहुन सोवे।
आँखै फारै बुरी भाँति देखत डर लागै।
लेखा जो कोड़ी चले दिन चारक जागे।
बिन सन्तोष दुखी भया बहुते भरमाया।
कहत मलूक यह जानकर सरनागति आया॥[२]

उपर्युक्त उद्धरणों में व्यवहृत फारसी के शब्द सरल तथा सुगम हैं। ख़ाक़, बन्दे, गाफिल, बन्दगी, नासबर, फिकिर तथा साहेब आदि ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है, जिन्हें आज की अशिक्षित जनता भी समझ सकती है। फारसी के शब्दों का यह चलता हुआ रूप न तो पाठकों को ही खटकता है और न उनके प्रयोग से काव्य-सौंदर्य ही नष्ट होने पाता है।

कवि ने अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग अपनी रचनाओं में बड़ी कुशलता से किया है। जहाँ कहीं पर फारसी के शब्द काव्य में नहीं बैठ सके हैं, वहाँ कवि ने उनका परिष्कार भी कर देना अनुचित नहीं समझा। इस प्रकार कवि ने उन शब्दों को पूर्णतया अपना लिया है। उनके उच्चारण से लेश-मात्र विदेशीपन नहीं झलकता है। निम्नलिखित उद्धरणों में विदेशी शब्द कुशलतापूर्वक अपनाये गए हैं :

१. मलूकदास की बानी, पृ० १५।
२. वही, पृ० २४।

१. यह दुनिया नाचीज़ के जो आसिक होवै —नाचीज़ तथा आशिक
२. जन अपने का खिजमतगार… —ख़िद्मतगार
३. मारे काल कलन्दर दिल सों दरदमन्द धर धीरा —दर्दमन्द
४. जेहि लागै सोई जानई हो और दरद नहि जान —दर्द
५. गाफिल होके महल में सोये फिर पाछे पछिताने —ग़ाफ़िल
६. रोजा करै निमाज गजोरे —रोज़ा तथा नमाज़
७. मरता मारे फिकिर के सुख कबहूँक न सोवे —फ़िक्र
८. खलक के हिसाब बीच मुझको मत सानिये —ख़लक़
९. आखिर जमाने को डरता है मेरा दिल —आख़ीर, ज़माना
१०. व्याघ्र और बधिक निसाफ कहु तिसका —इन्साफ़

मलूकदास ने स्फुट पदों तथा सवैयों में ही अरबी-फारसी के शब्दों का विशेष प्रयोग किया है। कारण यह है कि उनके शिष्यों में हिन्दू तथा मुसलमान दोनों जातियों के मनुष्य थे। उनकी गद्दियाँ काबुल-जैसे सुदूर देशों में उन्हींके समय स्थापित हो चुकी थीं, जहाँ फारसी के अतिरिक्त और भाषा समझी ही नहीं जाती थी। इसी कारण अपने गेय पदों को अधिक प्रिय एवं स्मरणीय बनाए रखने के दृष्टिकोण से कवि ने स्फुट रचनाओं में अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग विशेषरूप से किया।

मलूकदास की भाषा में संस्कृत के शब्दों का प्रयोग भी उपलब्ध होता है, जो बहुत ही स्वाभाविक प्रतीत होता है। कवि के 'सुखसागर' ग्रन्थ में संस्कृत के शब्दों का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। विशेषकर नाम कवित्तों की रचना तो जैसे संस्कृत शब्दावली में ही की गई है। उदाहरणार्थ परब्रह्म नाम कवित्त का कुछ अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है :

"परंब्रह्म परमार्थमरागतिः परोदय। परात्परं निर्गुणो परोव्यक्तात् अव्ययः। परंज्योति परंशिवः परंधाम परोध्येयः। परंतत्वं परंपदं परंज्ञान परंश्रेयः। तुंरियसना तन अच्युतः अनीशो अतिइंद्रियः। परंव्योम निर विग्रहः परमेसरः निराश्रयः।"

कवि की रचनाओं में संस्कृत के शब्द तत्सम तथा तद्भव दोनों रूप में उपलब्ध होते हैं। कुछ शब्द तो प्राकृत से होकर स्वयं ही तद्भव बन गए हैं और कुछ को कवि ने अक्षरों के उच्चारण के लिए तद्भव-सा बना लिया है। ऐसे शब्दों में दोश (दोष), ग्यान (ज्ञान), रिसी (ऋषि), आशुतोश (आशुतोष), रूख (रुक्ष), लाख (लक्ष), औगुन (अवगुण), बिनास (विनाश), जुगति (युक्ति), अमोल (अमूल्य) उल्लेखनीय हैं। अपने

काव्य को अधिक सुगम तथा निम्नकोटि की अपढ़ जनता के लिए बोधगम्य बनाने के लिए कवि ने तद्भव शब्दों का अधिक प्रयोग किया है। संस्कृत के तत्सम शब्दों को तद्भव का रूप प्रदान कर देने से तत्कालीन अरबी-फारसी-पठित जनता के लिए भी काव्य रोचक बन गया है।

मलूकदास की पुस्तकों में यत्र-तत्र संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। इन तत्सम शब्दों का प्रयोग विभिन्न अवतारों के नाम कवित्तों में हुआ है। इसके अतिरिक्त तत्सम शब्दों का प्रयोग अन्य ग्रन्थों अथवा प्रसंगों में बिलकुल नहीं हुआ। उदाहरणार्थ 'सुखसागर' से कुछ तत्सम शब्द यहाँ उद्धृत किए जाते हैं :

परब्रह्म, परमार्थ, परागति, परोदय, परात्परं, निर्गुण, परोव्यक्तात, अव्ययः, परज्योति, परंशिव, परधाम, परोध्येयः परंतत्त्व, परंपदं, परंज्ञानं, परंश्रेयः, अच्युत, परंव्योम, परमेश्वर, निराश्रय।

मलूकदास के काव्य में खड़ी-बोली का पर्याप्त प्रयोग मिलता है। यों तो खड़ी-बोली का प्रयोग कबीर, दादू तथा नानक आदि सन्त कवियों ने भी किया था, परन्तु हमारे कवि के काव्य में खड़ी-बोली का विकसित एवं परिमार्जित स्वरूप दृष्टिगत होता है। खड़ी-बोली कविता की उन्नति में कवि को एक 'माइल स्टोन' मान लेना असंगत नहीं प्रतीत होगा। कवि की भाषा तथा भावों पर उनके समय तथा परिस्थितियों का क्या प्रभाव पड़ा, बार-बार लिखने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उनकी खड़ी-बोली में जो परिमार्जन दृष्टिगत होता है, वह बहुत अधिक मुसलमानों के सम्पर्क का फल है। उनका जन्म-स्थान कड़ा निरन्तर वर्षों तक यवनों की राजनीति का केन्द्र रहा है। वहाँ उस समय की प्रचलित अरबी-फारसीमय भाषा का ही प्रभाव है कि हमारे कवि की रचनाओं में अन्य सन्त कवियों की अपेक्षा अधिक खड़ी-बोली के शब्दों का प्रयोग हुआ है। मलूकदास की कविता में खड़ी-बोली का कितना विकसित तथा परिमार्जित स्वरूप दृष्टिगत होता है, यह निम्नलिखित उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है। प्रस्तुत उद्धरण 'ज्ञानबोध' की प्रायः १०० वर्ष प्राचीन प्रति से उद्धृत किये जाते हैं :

(क) दीन दयाल सुनी जबते तबते हिय में कछु ऐसी बसी है।
तेरो कहाय के जाऊँ कहाँ मैं तेरे हित की पट खेंच कसी है।
तेरोई एक भरोस मलूक को तेरे समान न दूजो जसी है।
एहो मुरारि पुकारि कहौं अब मेरी हँसी नहिं तेरी हँसी है।

(ख) नाम हमारा खाक है, हम खाकी बन्दे।
खाकहि ते पैदा किए, अति गाफिल गन्दे।
कबहुँ न करते बन्दगी दुनिया में भूले।
आसमान को ताकते घोड़े चढ़ि फूले।
जोरू लड़के खुस किये साहब बिसराया।
राह नेकी की छाड़ि के बुरा अमल कमाया।
(ग) गर्व न कीजै बावरे, हरि गर्व प्रहारी।
गर्वहि ते रावन गया पाया दुख भारी।
एक दया और दीनता ले रहिये भाई।
चरन गहो जाप साधु के रीझे रघुराई।
यही बड़ा उपदेस है परद्रोह न करिये।
कह मलूक हरि सुमिरि के भौसागर तरिये।
(घ) बार बार करता हूँ नसीहत में तेरी तईं।
क्यों वे हरामखोर साईं तू बिसारा है।
जिसका नित नोन खात मुतलक भी ना डरात।
अछा वजूद पाय औरत से हारा है।
कौल से बेकौल हुआ किसी की न लेत दुआ।
दोजख के लिए दिल कौन कौन मारा है।
कहता मलूक अब तोबा कर साहब से।
छाड़ि दे कुराह जिन जारे पर जारा है।

ऊपर लिखे हुए उद्धरणों के रेखांकित अंशों पर विचार करने से यह प्रकट हो जाता है कि इन रचनाओं में खड़ी-बोली का क्या स्थान तथा स्वरूप है। उद्धरण (ख) तथा (घ) में तो खड़ी-बोली के शब्दों का इतना अधिक प्रयोग हुआ है कि अन्य भाषाओं के प्रयुक्त शब्द नगण्य प्रतीत होते हैं।

भाषा तथा बोलियों की दृष्टि से ग्रन्थों का विभाजन

भाषाओं के प्रयोग की दृष्टि से मलूकदास की रचनाओं का विभाजन चार प्रकार से किया जा सकता है। सर्वप्रथम हम उन रचनाओं को लेते हैं, जिनका सृजन अवधी में हुआ है। इस कोटि की रचनाओं में 'रतन खान', 'ध्रुव-चरित', 'ज्ञान-बोध', 'भक्त-वच्छावली', 'राम अवतार लीला', 'भक्ति-विवेक' तथा 'बारह खड़ी' हैं। इन ग्रन्थों में अवधी का ही प्राधान्य है। यत्र-तत्र फारसी के बहुत सरल शब्द, संस्कृत के तद्भव तथा प्रान्तीय बोलियों के शब्दों का भी

सम्मिश्रण है। 'बारह खड़ी', 'भक्त वच्छावली' तथा 'रतन खान' में खड़ी-बोली का प्रारम्भिक स्वरूप दृष्टिगत होता है।

दूसरे वे ग्रन्थ हैं, जिनकी रचना में ब्रजभाषा के शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है। इस कोटि में 'ब्रजलीला' ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त ब्रजभाषा के शब्दों का प्रयोग कवि की अन्य रचनाओं में भी उपलब्ध होता है, परन्तु वे बहुत अल्प हैं।

तीसरी कोटि में वे रचनाएँ हैं, जो खड़ी-बोली में लिखी गई हैं। कवि की स्फुट रचनाओं में खड़ी-बोली का सुष्ठु, परिमार्जित तथा विकसित स्वरूप उपलब्ध होता है। स्फुट रचनाओं के अतिरिक्त 'बारह खड़ी', 'भक्त वच्छावली' तथा 'रतन खान' ग्रन्थों में भी खड़ी-बोली का प्रारम्भिक तथा विकासशील स्वरूप दृष्टिगत होता है।

चौथी कोटि की वे रचनाएँ हैं, जिनमें फारसी तथा संस्कृत के तद्भव शब्द विशेष रूप से प्रयुक्त हुए हैं। प्रथम हम उन रचनाओं को लेते हैं, जिनमें संस्कृत के तद्भव शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इस कोटि में 'सुखसागर', 'भक्तिविवेक', 'रतन खान' ग्रन्थ आते हैं। 'सुखसागर' में संस्कृत के तद्भव शब्द विशेष रूप से प्रयुक्त हुए हैं। इनके अतिरिक्त स्फुट रचनाओं में भी संस्कृत के तद्भव शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होता है। भाषा की दृष्टि से इसी चौथी कोटि में कुछ ऐसी भी रचनाएँ हैं, जिनमें फारसी के शब्दों का अधिकता से प्रयोग हुआ है। कवि के स्फुट काव्य में फारसी के शब्द अधिक अनुपात में प्रयुक्त हुए हैं। 'भक्त वच्छावली', 'बारह खड़ी' तथा 'रतन खान' में भी फारसी के शब्दों का प्रयोग हुआ है।

दादूदयाल

सन्त कवि दादू का जन्म-काल सं० १६५८ माना जाता है। यह मुगल सम्राट् अकबर के समकालीन थे। दादू द्वारा लिखित पदों की संख्या २०,००० बताई जाती है। इनके ५२ प्रमुख शिष्य हुए, जिनमें सुन्दरदास तथा रज्जब साहब विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। दादू की विचारधारा पर कबीर का व्यापक प्रभाव है। कबीर के समान ही वह हिन्दू और मुसलमानों की एकता के समर्थक और प्रतिपादक थे। दादू की काव्यभाषा ब्रजभाषा है। उनकी ब्रजभाषा पर राजस्थानी का स्पष्ट प्रभाव है। दादू की कविता में अवधी के शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। दादू गुजराती और पंजाबी में भी समान कौशल के साथ काव्य-रचना करने में समर्थ थे। फारसी और अरबी का भी दादू को भला ज्ञान

था, क्योंकि जयपुर से प्रकाशित 'दादूदयाल की वाणी' ग्रन्थ में ऐसे पद विद्यमान एवं संकलित हैं, जिनमें ९५ प्रतिशत फारसी के शब्दों का प्रयोग किया गया है। भाषा-ज्ञान की दृष्टि से दादू बड़े प्रतिभाशाली कवि थे। चाहे व्रज हो, या अवधी हो, या राजस्थानी हो, अथवा गुजराती भाषा, सब पर उनके समान और सहज अधिकार दिखाई देते हैं। प्रस्तुत कथन की पुष्टि के लिए यहाँ उद्धरण देना आवश्यक है। सर्वप्रथम हम उनकी व्रजभाषा के उदाहरण प्रस्तुत करेंगे :

(१) अजहूँ न निकसे प्रान कठोर।
दरसन बिना बहुत दिन बीते सुन्दर प्रीतम मोर।
चार पहर चारहु जुग बीते रैनि गँवाई भोर।
अवधि गये अजहूँ नहिं आये कतहुँ रहे चित चोर।
कबहूँ नैन निरख नहिं देखे मारग चितवत तोर।
दादू अइसहि आतुरि विरहिनि जैसहि चन्द चकोर।

दादू की व्रजभाषा के सुन्दर उदाहरण सन्त-बानी संग्रह, भाग २ के पृष्ठ ९१ पर 'मना भजि राम नाम लीजै, मनरे राम बिना तन छीजै', पृष्ठ ८७, ९२ पर 'सजनी रजनी घटती जाई', पृष्ठ ९५ पर 'हरि रस माते मगन भये' आदि पदों में पठनीय हैं। इनमें सरसता और माधुर्य है। दादू की व्रजभाषा के सम्बन्ध में पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का कथन पठनीय है—'उनकी''' व्रजभाषा बहुत ही'''प्रांजल है और इस भाव से लिखा गया है कि ज्ञात होता है कि वह सूरदासजी का अनुकरण कर रहे हैं। ऐसी उनकी कितनी ही रचनाएँ हैं।' प्रस्तुत वाक्य में हरिऔधजी ने दादू को भाषा की दृष्टि से बहुत बड़ी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है, जो बहुत अंशों में सत्य और उपयुक्त है। अब दादू की रचनाओं से दो और उद्धरण उद्धृत किए जाते हैं। इनमें से प्रथम में पंजाबी भाषा का प्रयोग हुआ है और द्वितीय में गुजराती भाषा का :

(१) आवरे सजणा आव सिर पर धरि पाँव।
जाणी मैंडा जिन्द असाड़े तू रावँदा राव वे सजणा आव।
इत्थाँ उत्थाँ जित्थाँ कित्थाँ हौ जीवाँ तो नाल वे।
मीयाँ मैडाँ आव असाडे तू लालो सिर लाल वे सजणा आव।

(२) म्हारे ह्वाला ने काजे रिदै जो वानेहूँ ध्यान धरूँ।
आकुल थाए प्राणम्हारा को ने कही पर करूँ।
पीबे पाखे दिन दुहेलाँ जापे घड़ी वरसासौ केय भरूँ।
दादू रे जन हरिगुण गाताँ पूरण स्वामी ते बरूँ॥

इन पदों से कवि का विविध भाषाओं का ज्ञान प्रमाणित हो जाता है। अब एक उद्धरण यहाँ और दिया जाता है, जिससे कवि का उर्दू-फारसी-अरबी विषयक ज्ञान स्पष्ट हो जाता है :

दादू हौज हजूरी दिलही भीतरि, गुसल हमारा सारं।
उजू साजि अलह के आगे, तहाँ निमाँज गुजारं॥
दादू नूरी दिल अरवाह का, तहाँ बसै माबूदं।
तह बन्दे की बन्दगी, जहाँ रहै मौजूदं॥
दादू नूरी दिल अखाहका, तहं खालिक भरपूरं।
आलीनूर अल्लाह का खिदमतगार हजूरं॥

तथा—

मालिक मेहरबान करीम,
गुनहगार हर रोज हर दम, पनह राखि रहीम॥
अव्वल आखिर बन्दा गुनही, अमल बद विसियार।
गरक दुनिया सितार, साहिब, दरबन्द पुकार॥
फरामोस नेकी बदी, करदः बुराई बद फैल।
बससिन्दः तूँ अजीब आखिर, हुक्म हाजिर सैल॥
नाम नेक रहीम राजिक, पाकपरबरदिगार।
गुनह फिर करि देहु दादू, तलब दर दीदार॥

दादू को संस्कृत का भी सम्यक् ज्ञान था। एक पद यहाँ कथन की पुष्टि के लिए उद्धृत किया जाता है :

दादू नमो निरंजनं नमस्कार गुरुदेवताः।
बन्दनं सर्व साधवा, प्रणामं पारंगतः॥

दादू केवल एक महान् दार्शनिक और आदर्श साधक ही न थे, वरन् एक सफल कवि भी थे। भाषा के माध्यम से उन्होंने अनेक प्रयोग किए, जो आज भी उनकी प्रतिभा के प्रतिपादक और समर्थक हैं। अब हम उनके सम्प्रदाय या पन्थ के अन्य दो प्रतिभाशाली कवियों की भाषा पर विचार करेंगे। इनमें से प्रथम हैं सन्त कवि सुन्दरदास और द्वितीय हैं सन्त रज्जब साहब। उनमें से हम सर्वप्रथम सन्त कवि सुन्दरदास पर विचार करेंगे।

सन्त सुन्दरदास

सुन्दरदास की भाषा अन्य निर्गुणोपासक कवियों की भाषा की तुलना में प्रचुर शुद्ध, परिमार्जित और परिष्कृत है। जब हमारा ध्यान गोरखनाथ, कबीर,

नानक, रैदास, दरिया साहब आदि की भाषा की ओर आकर्षित होता है, तो काव्यभाषा का एक बहुत ही अव्यवस्थित, अनियमित और अशुद्ध स्वरूप सामने आ जाता है। एक कबीर ही की भाषा ले लीजिए। उसमें पंजाबी और भोजपुरी भाषा का आश्चर्यजनक प्रभाव परिलक्षित होता है। कबीर काशी छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं गये, फिर भी राजस्थानी का प्रभाव उनकी उस भाषा पर पूर्ण रूप से दृष्टिगत होता है। सन्तों की भाषा का स्वरूप बड़ा विवादास्पद है। उनके शुद्ध रूप और पाठ को प्राप्त करना प्रायः असम्भव-सा बनता जा रहा है। इस अव्यवस्थित रूप के दो कारण हैं। प्रथम कि, सन्तों का साहित्य सम्प्रदायों के श्रद्धालु अनुयायियों की स्मरण-शक्ति पर सदैव आश्रित और निर्भर रहा है। अतः एक मुख से दूसरे मुख तक पहुँचने और पुनः दूसरे कान तक पहुँचने में निश्चय रूप से बड़ा परिवर्तन होता गया। दूसरे, सन्तों के साहित्य का प्रामाणिक लिखित रूप उपलब्ध न होने के कारण उनकी भाषा के शुद्ध रूप का ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु यह बात सुन्दरदास की भाषा के साथ नहीं लागू होती है। सुन्दरदास का समस्त काव्य-साहित्य उनके जीवन-काल में ही लिपिबद्ध हो चुका था। कवि की जीवनी और ग्रन्थ परिचय के साथ इस बात का उल्लेख हो चुका है कि कवि के समस्त ग्रन्थों का प्रतिलिपिकरण उनके वैश्य शिष्य के द्वारा सम्पन्न हुआ था। अतः सुन्दरदास की भाषा के विषय में कोई भेद-भाव और मतभेद नहीं माना जा सकता।

सुन्दरदास की भाषा की विवेचना करने से पूर्व कवि के भाषादर्श का अध्ययन कर लेना अपेक्षित है। 'सर्वांगयोगप्रदीपिका' के प्रारम्भ में कवि का कथन है कि :

केचित् कहैं संस्कृत बानी। कहिन श्लोक सुनावहिं जानी ॥२५॥
केचित् तर्कत शासतर पाठी। कौशल विद्या पकरत काठी।
केचित् वाद विविधि मत जाने। पढ़ि व्याकरण चातुरी ठाने ॥२६॥
केचित् कविता कवित सुनावैं। कुण्डलिया अरु अरिल बनावै।
केचित् छन्द सवैया जोरै। जहाँ तहाँ के अक्षर चोरैं ॥२७॥
केचित् बीण वेणु बदीता। ताल मृदंग सहित संगीता ॥
केचित् नट की कला दिखावे। हस्त विनोद मधुर सुर गावै ॥२८॥[1]

कवि के भाषादर्श का एक उदाहरण और उल्लेखनीय है :

एक वांणी रूपवतं-भूषन-वसन अंग,
अधिक विराजमान कहियत ऐसी है।

---

१. 'सर्वांगयोगप्रदीपिका'।

एक बांणी फाटे अम्बर उढ़ाये आंनि,
ताहू मांहिं विपरीति सुनियत तैसी है ॥
एक बांणी मृतकहि बहुत सिंगार किये,
लोकनि कौ नीकी लगै संतनि कौ मैसी है ।
सुन्दर कहत वांणी त्रिविधि जगत मांहिं,
जानै कोऊ चतुर प्रवीन जाके जैसी है ॥

और भी—चतुर प्रवीन आगै मूरख उच्चार करै,
सूरज के आगे जैसे जैगणा दिखाइये ॥

तथा—

सुन्दर समुझि करि कहिये सरस बात ।
तबही तौ बदन कपाट गहि खोलिये ॥
सुन्दर सुवयन सुनत अति सुख होत ।
कुवचन सुनत हि प्रीति घटि जात है ॥[1]

उपर्युक्त इन उद्धरणों से कवि का भाषादर्श स्पष्ट है। कवि की दृष्टि में माधुर्य, सुन्दरता, कर्ण-प्रियता तथा मांगलिक भाषा के अनिवार्य गुण और तत्त्व हैं।

सुन्दरदास के काव्य में भावों की अभिव्यंजना के हेतु निम्नलिखित भाषाओं एवं बोलियों को माध्यम बनाया गया है :

१—व्रजभाषा
२—खड़ी बोली
३—राजस्थानी
४—फारसी-अरबी
५—अवधी
६—गुजराती
७—संस्कृत अपभ्रंश

कवि की निम्नलिखित रचनाएँ व्रजभाषा में लिखित हैं:

१—ज्ञान-समुद्र,
२—सर्वांगयोग-प्रदीपिका,
३—पंचेन्द्रिय-चरित्र,
४—स्वप्न-प्रबोध,
५—उक्त-अनूप,
६—अद्‌भुत उपदेश,
७—पंच प्रभाव,
८—गुरु-सम्प्रदाय
९—गुन उत्पत्ति नीसांनी,
१०—सद्‌गुरु महिमा नीसांनी,
११—बावनी,
१२—गुरुदया षटपदी,
१३—भ्रम विध्वंस अष्टक,
१४—गुरु कृपा अष्टक,
१५—गुरु उपदेश ज्ञानाष्टक,
१६—गुरुमहिमा स्तोत्राष्टक,
१७—रामाष्टक,
१८—आतमा अचलाष्टक,

१. 'वचन विवेक को अंग'।

१९—सहजानन्द,	२५—अडिला-छन्द,
२०—गृह बैरागीबोध,	२६—मडिल्ला,
२१—हरिबोल चितावनी,	२७—बारहोमासा,
२२—तर्क चितावनी,	२८—आयुर्बल भेद आत्मविचार,
२३—विवेक चितावनी,	२९—विविध अन्तःकरण भेद
२४—पतंग छन्द,	तथा ३०—स्फुट साहित्य।

ग्रन्थों का अवलोकन करने से स्पष्ट हो जाता है कि ब्रजभाषा ही कवि की भावाभिव्यंजना का प्रमुख माध्यम थी। ब्रजभाषा में जितने सहज, सरल और स्वाभाविक रूप से विचार व्यक्त हुए हैं उतने अन्य किसी भाषा में नहीं। ब्रजभाषा की सुष्टुता से ग्रन्थों का सौन्दर्य और भी निखर आया है। ब्रजभाषा यों भी मधुर भाषा होती है, परन्तु उसका माधुर्य सुन्दरदास-जैसे विद्वान् कवि की लेखनी से और भी अधिक हो गया है। कवि की ब्रजभाषा में संस्कृत के तत्सम और तद्भव रूपों का प्रयोग निरन्तर हुआ है, परन्तु उससे रसानुभूति में कहीं कोई अन्तर नहीं पड़ा है। कवि ने काव्य को तुकान्त बनाने के लिए भी कहीं पर शब्दों के रूप को विकृत नहीं किया है। ब्रजभाषा का रूप कवि के सवैया साहित्य में और भी अधिक निखरा है। यहाँ पर दो-एक उदाहरण उद्धृत किए जाते हैं :

हीये और जीये और लीये और दीये और,
कीये और कौनऊ अनूप पाटी पढ़े है।
मुख और बैन और नैन और सैन और,
तन और मन और जन्त्र माँहिं कढ़े है॥
हाथ और पाँव और सीसहूँ श्रवन और,
नख शिख रोम रोम कलई सौ मढ़े हैं।
ऐसी तौ कठोरता सुनी न देषी जगत में,
सुन्दर कहत काहू ब्रज हीके गढ़े हैं॥
(बिरहिन उराहने को अंग सवैया ४७)

२—उपज्यौ प्रपंच अनादि कौ यह महामाया बिस्तरी।
नानात्व ह्वै करि जगत भास्यौ बुद्धि सबहिन की हरी।
जिनि भ्रम मिटाइ दिषाइ दीनौ सर्व व्यापक राम है।
दादू दयाल प्रसिद्ध सद्गुरु ताहि मोर प्रनाम है॥[1]

१. 'गुरु उपदेश ज्ञानाष्टक' छन्द ६।

इन दोनों उद्धरणों से कवि की व्रजभाषा का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। व्रजभाषा परिमार्जित, शुद्ध और नियमानुकूल है। इसे साहित्यिक व्रजभाषा अथवा व्रजभाषा का साहित्यिक रूप कहना अधिक उपयुक्त होगा। कवि की व्रजभाषा में संस्कृत के शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। परन्तु इन शब्दों के प्रयोग से भाषा की गति, सजीवता, प्रवाह और स्वाभाविक सौन्दर्य में कोई बाधा नहीं पड़ी है।

यद्यपि कवि की भाषा व्रजभाषा है, तथापि अन्य बोलियों और भाषाओं का प्रभाव भी कवि की भाषा में परिलक्षित होता है। जयपुर में रहने के कारण कवि की भाषा पर राजस्थानी और पंजाबी का प्रभाव भी उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिए यहाँ कतिपय उद्धरण प्रस्तुत किए जाते हैं :

१—कदे नहि क्षोभ कौं पावै, उदधि महि अग्नि बुझि जावै।
बहुरि तन त्रास दे काऊ, क्षमा करि सहै पुनि सोऊ ॥[१]

२—चेतनि शक्ति जहाँ तहाँ घट घट नहिं छाँनी।
हलन चलन जाते भया सो है सेनानी ॥[२]

इसी प्रकार षांभी (आत्मा अचल अष्टक-१), निकसिर (पवगभं छन्द), लार (पृ० १८९), काँनी (पृ० २०७), इसा (पृ० २११), ल्याया (पृ० २११), म्हारी-थारौ (सं० । ३१।३) आदि अनेक शब्दों का प्रयोग प्रचुरता के साथ हुआ है। इसके अतिरिक्त कवि की पंजाबी भाषा अष्टक का उल्लेख यहाँ अत्यन्त आवश्यक है। कवि को पंजाबी भाषा का भी सम्यक् ज्ञान था। इसका प्रमाण पंजाबी भाषा अष्टक से प्रकट होता है। उदाहरण देखिए :

वहु दिलदा मालिक दिलदी जाणैं दिल मौं बैठा देषैं।
हुंण तिसनौं कोई क्यौं करि पावैं जिसदै रूप न रेषैं॥
वे गांस कुतब्र पैकम्बर थक्कै पीर अवलिया सेषै।
भी सुन्दर कहि न सकै कोइ तिसनौं जिसदी सिफ्ति अलेषै ॥१॥

भी उसदा षोजु करैं बहुतेरे षोजुँ तिणाँ दें बोले।
वह मुल्लेनौं मुल्ला समुझावे सोभी मुल्ला डोलै॥
वे जित्थैं कित्थैं फिरै बिचारा धिरि छिल्लकु छोलै।
कहि सुन्दर अपना वन्धनु कप्पै सोई बन्धनु षोलै ॥२॥

---

१. 'ज्ञानसागर' ३।१६।

२. 'गुन उत्पत्ति नीसांनी', २०७।१९।

भी षोजै जती तपी सन्यांसी सम्भो दिट्ठे रोगी।
वह उसदा षोजु न पाया किन्हीं दिट्ठे ऋषि मुनि योगी॥
वै वहुतै फिरै उदासी जग मौं वहुतै फिरै विवोगी।
कहि सुन्दर केई विरले दिट्ठे अमृत रस दे भोगी॥३॥

इन पंक्तियों में पंजाबी भाषा का निर्मल स्वरूप दृष्टिगत होता है। इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि कवि का भाषा-ज्ञान पर्याप्त गम्भीर और महत्त्वपूर्ण है।

फारसी-अरबी

कवि ने फारसी के शब्दों का काव्य-सर्जन में प्रयोग किया है। परन्तु इन शब्दों का बहुत अल्प अनुपात में प्रयोग हुआ है। फारसी-अरबी के शब्दों के कतिपय उदाहरण निम्नलिखित हैं :

पीर, पैगम्बर, पाजी, हाजिर, हुजूर, हजरति, हरदम, हैरान, हिर्स, हक्क, मालिक, मौला, मीयाँ, मशाइक, वलायतं मुल्क, सिकन्दर, शेख, फकीर, पादाह, दीवान, कोतवाल, काजी, शाहजादा, नफस, फिक्र, फारीक, दरगाह, खुदाइ, महबूब, शैतान, दिल, दिदार, अक्ल, क़दम, औजूद, कैद, और खाक आदि। स्थानाभाव के कारण पूरी सूची देना सम्भव भी नहीं है। यह हुआ फारसी अरबी शब्दों के प्रयोग का प्रथम रूप। ये शब्द छन्दों और सवैयों में अल्प मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। इनके प्रयोग से कवि की भाषा में स्वाभाविकता आ गई है।

फारसी-अरबी के शब्दों का दूसरा रूप कवि के सवैया साहित्य में उपलब्ध होता है। इस वर्ग में फारसी-अरबी के शब्दों का अनुपात अपेक्षाकृत अधिक है। उदाहरणार्थ :

नफ्स सैतान कौ आपुनी कदै करि क्याँ दुनी मैं परया पाइ गोता।
हैं गुनहगार भी गुनह ही करत हैं खाइगा मार तब फिरै रोता।
जिनि तुझै षाक सौ अजब पैदा किया तूँ उसे क्यों फरामोस होता।
दास सुन्दर कहै सरम तबही रहै हक्क तूँ हक्क तूँ बोलि तोता॥[१]

तथा—

अवल उस्ताद के कदम की षाक हो हिरस बुगुजार सब छोडि फैना।
यार दिलदार दिल माँहि तू याद करहे तुझी पास तू देषि नैना॥
जाँन का जाँन है जिन्द का जिन्द है सषुन का सषुन कछु संमुझि सैंना।
दास सुन्दर कहै सकत घट में रहै एक तूँ एक तू बोलि मैंना॥[२]

१. 'ज्ञान भूलना अष्टक'।
२. 'उपदेश चितावनी' का अंग २।

इन सवैयों में फारसी-अरबी के शब्दों का प्रयोग बाहुल्य के साथ हुआ है और हिन्दी-संस्कृत के शब्द अल्प संख्या में प्रयुक्त हुए हैं। इन सवैयों में अधिकांश पंक्तियाँ ऐसी हैं जिन्हें हम हिन्दी कविता का अंग कहने में संकोच करेंगे।

अब कवि द्वारा लिखित फारसी-अरबी शब्दावली में 'पीर मुरीद अष्टक' ग्रन्थ की भाषा देखिए :

औवलि कदम उस्ताद के मैं गहे दोऊ दस्त।
उनि मिहर मुझ पर करी ऐसा ह्वै गया मैं मस्त॥
जब सपुन करि मुझ को कह्या तू बन्दिनी करि पूब।
इस राह सीधा जाइगा तब मिलैगा महबूब॥१॥[१]
तब उठि अरज उस्ताद सौं मैं करी ऐसी रौस।
तुम मिहर मुझ पर करौ मुरसिद मैं तुम्हारी कौस॥
वह बन्दगी किस रोस करिये मुझे देहु बताइ।
वह राह सीधा कौन है जिस राह बन्दा जाइ॥२॥[१]

इन उद्धरणों में भाषा का स्वरूप फारसी-अरबी से पूर्णतया प्रभावित है। इन उद्धरणों में अधिक-से-अधिक दो प्रतिशत हिन्दी के शब्दों का प्रयोग हुआ है। यह अरबी-फारसी शब्दों का तृतीय प्रकार है। इसी प्रकार की भाषा कवि की रचना 'अजब ख्याल-अष्टक' में भी उपलब्ध होती है।

संस्कृत

कवि की काव्य-भाषा के कुछ रूपों का दिग्दर्शन ऊपर किया जा चुका है। कवि ने संस्कृत शब्दावली-प्रधान भाषा में भी अपने काव्य की रचना की है। ऐसी रचनाओं में संस्कृत की शब्दावली का प्रयोग ७५ प्रतिशत हुआ है। इस कोटि की रचनाओं में 'ब्रह्मस्तोत्र अष्टक' और 'गुरुमहिमा स्तोत्राष्टक' का उल्लेख आवश्यक है। इस प्रकार की रचनाओं में संस्कृत की छटा दर्शनीय है :

अखण्ड चिदानन्द देवाधिदेवं। फणिन्द्रादि रुद्रादि इन्द्रादि सेवं॥
मुनीन्द्रा कवीन्द्रादि चन्द्रादि मित्रं। नमस्ते नमस्ते नमस्ते पवित्रं॥
धरा त्वं जलाग्निं मरुत्वं नमस्त्वं। घटत्वं पटत्वं अणुत्वं महत्वं॥
मनस्त्वं वचस्त्वं दृगत्वं दृशत्वं। नमस्ते नमस्ते नमस्ते समत्वं॥[२]

---

१. 'पीर मुरीद अष्टक'।
२. 'ब्रह्मस्तोत्र अष्टक'।

अडोलं अतोलं अमोलं अमानं। अदेहं अछेहं अनेहं निधानं ॥
अजापं अथापं अपापं अतापं। नमस्ते नमस्ते नमस्ते अमापं ॥[१]

गुरुदेव महिमा स्त्रोत्राष्टक के उद्धरण पढ़िये :

प्रकाशं स्वरूपं हृदै ब्रह्म ज्ञानं, सदाचार येही निराकार ध्यानं।
निरीहं निजानन्द जाने जगादू, नमो देव दादू नमो देव दादू ॥
अछेदं अभेदं अनन्तं अपारं, अगाधं अबाधं निराधार सारं।
अजीतं अमीतं गहे है समादू, नमो देव दादू नमो देव दादू ॥[२]

इन उद्धरणों से संस्कृत-विषयक कवि का ज्ञान स्पष्ट हो जाता है। संस्कृत की रचनाएँ न होते हुए भी इन पर संस्कृत की पूरी छाया और प्रभाव है। इस विषय में पुरोहितजी का कथन पठनीय है :

"वैसे संस्कृत के शब्दों के शुद्ध प्रयोग बहुत छन्दों में भी प्रचुरता से आये हैं। यह बात पांडित्य के कारण स्वाभाविक क्रिया सी ही स्वामीजी की थी। उनकी भाषा उत्तम होने का कारण या रहस्य उनका संस्कृतज्ञ होना ही विशेषतया है। वैसे भाषा के वह प्रखर और दीर्घ पण्डित थे और भाषा पर उनका अधिकार बहुत गहरा था"।[३]

संस्कृत की छटा 'ज्ञानसमुद्र' (पंचमोल्लास) तथा स्फुट काव्य में भी पठनीय है।

कवि की भाषा में खड़ी-बोली का विकासमान सुन्दर रूप व्यक्त हुआ है। कवि के जीवन-काल तक खड़ी-बोली कितनी विकसित हो गई थी, यह उसकी रचनाओं से प्रमाणित हो जाता है। उदाहरणार्थ 'ज्ञान झूलना अष्टक' से यहाँ कतिपय पंक्तियाँ पठनीय होंगी :

१—कोई बार कहै कोई पार कहै उसका कहूँ बार न पार है रे।
कोई मूल कहै कोई डार कहै उसके कहूँ मूल न डार है रे ॥
कोई सून्य कहै कोई थूल कहै वह सून्य हुँ थूल निराला है रे।
कोई एक कहै कोई दोइ कहै नहिं सुन्दर द्वन्द लगार है रे ॥[४]

२—नहिं बैठता है निहं उठता है, नहिं आवनै का नहिं जावनै का।
नहिं बोलता है नहिं अबोलता है, नहिं देषता है न दिपावने का ॥

---

१. 'ब्रह्मस्तोत्र अष्टक'।
२. 'गुरुदेव महिमा स्तोत्राष्टक'।
३. सु० ग्र०, भाग १, पृ० ८५।
४. 'ज्ञान झूलना अष्टक'।

नहिं सूँघता है न असूँघता है, नहिं सुँनता है न सुनावनै का।
नहिं सोवता है नहिं जागता है, नहिं सुन्दर सपुन पावनै का॥
३—नहिं गौस है रे नहिं नैन है रे नहिं मुख है रे नहिं बैन है रे।
नहिं ऐन है रे नहिं गैन है रे नहिं सैन है रे न असैन है रे॥
नहिं पेट है रे नहिं पीठ है रे नहिं कड़वा है नहिं मीठ है रे।
नहिं दुश्मन है नहिं ईठ है रे नहिं सुन्दर दीठ अदीठ है रे॥[1]

उपर्युक्त तीनों उद्धरणों में क्रमशः खड़ी-बोली का विकासमान रूप व्यक्त हुआ है। तृतीय छन्द में खड़ी-बोली अपने सुष्ठु, नियमानुकूल और परिमार्जित रूप में व्यक्त की गई है। द्वितीय और तृतीय छन्दों में खड़ी-बोली के क्रिया पदों का रूप दर्शनीय है। भाषा का यह रूप 'वेद विकार', 'पीरमुरीर अष्टक' तथा 'अजब-खयाल अष्टक' आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

पूरबी भाषा पर कवि का अच्छा अधिकार था। इसी भाषा में कवि ने एक ग्रन्थ 'पूरबी भाषा बरवै' भी लिखा है। 'पूरबी भाषा बरवै' से कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं :

पण्डित होइ सु पावइ अरथ अनूप।
हेठ भरलप निहारिय ऊपर कूप॥
कुम्भ भरल सम्पूरन निर्मल नीर।
पंषि तिसाई गइले सागर तीर।
गंगा जमुन दोउ बहइय तीक्षण धार।
सुमति नवरिया बैसल उतरव पार॥[2]

गुजराती भाषा के शब्दों का प्रयोग काव्य में स्थान-स्थान पर हुआ है। इनके अतिरिक्त पदों में गुजराती का स्वरूप पठनीय है :

भाई रे आपण पौ जू ज्यों। साँभलि नै जिमना तिन हूँ ज्यों॥
जीव थया ज्यारै देह हूँ जारायों। निज सरूप नथी आप पिछाण्यों॥१॥
भूलगौ ज्ञान तुम्हें बीसरयौ ज्यारै। जीव थया तुम्हें ततक्षण त्यारै॥२॥
सद्गुरु मिलतै संसय जाये। पोतानी जाँणै महिमाये॥३॥
हू हू करतौ तेहूँ[1] भोलै। हूँ तौ तेजं सोहं बोलै॥४॥
हम जाणै हूँ वस्तु अनामै। सुन्दर ते सुन्दर पद पामै॥५॥

इसी प्रकार राग भरूँ पद ५, काल्हैडो राग पद १, राग काल्हैडो पद २, राग

१. 'ज्ञान झूलना अष्टक'।
२. 'पूरबी भाषा बरवै'।

काल्हैडो पद ३, रागकाल्हैडो पद ४ आदि की रचना भी गुजराती शब्दावली में हुई है।

इन पृष्ठों में भाषा के विवेचन से स्पष्ट है कि सुन्दरदास का भाषा पर सम्यक् अधिकार था। खड़ी-बोली, गुजराती, पूर्वी भाषा, संस्कृत, व्रजभाषा आदि के द्वारा कवि के भावों की अभिव्यंजना बड़ी सफलता के साथ हुई है। कवि का भाषा-ज्ञान सराहनीय और व्यापक है।

सन्त-कवि रज्जब साहब

रज्जब साहब का जन्म संवत् १७१० में जयपुर के पास स्थित साँगानेर के एक प्रतिष्ठित पठान वंश में हुआ था। दादू के यह बड़े प्रिय और विश्वसनीय शिष्य थे और समर्थ कवि थे। भाषा पर उनका अच्छा अधिकार था।[१] रज्जब की भाषा में व्रज, अवधी, राजस्थानी और संस्कृत की शब्दावली का सुन्दर सम्मिश्रण दिखाई देता है। उदाहरणार्थ यहाँ कतिपय साखियाँ दी जाती हैं :

शील समुद्र न ठाहरै, इन्द्री पंच अगस्त।
रज्जब रीता सिंह सो, जहाँ परै दस हस्त॥
जब रज्जब घण जीत सदा, लघुदीरघन विशेख।
पेखै पन्नग पपीलकूँ प्रत्यक्ष खाया देख॥
श्रवण नैन, मुख नासिका सटिवणावणहार।
रज्जब पीछे पन्थका प्राण पिण्ड व्यवहार॥

---

१. Of outstanding worth are the works of Rajjab Das and of Sunder Das. Of all Dadu's disciples, Rajjabji, probably entered most deeply into his master's mind and was best fitted to expound his message. Dadu is said to have treated him more as an equal than as a disciple. Even in Dadu's lifetime Rajjab's poems were in wide use among his fellow disciples, and previous to the collection of Dadu's own "Oracles" appear to have formed their main devotional readings....His easy command of the Hindi vernacular is less surprising when we remember his Hindu ancestory, but his lurting is characterised no less by literary grace than by depth of thought.

—*A Sixteenth Century Indian Mystic* by *W. G. Orr*, p. 209-210.

जल ज्वाला जिह्वा रहै सुख दुःख शब्द सुमाहि ।
रज्जब रस बिसरन मधि वक्र सुहारै नाँहि ॥[१]

इन उद्धरणों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि रज्जब साहब की भाषा खड़ी-बोली के बहुत निकट और संस्कृतमयी है। उनके काव्य में कहीं-कहीं पर अरबी-फारसी के शब्दों का भी बड़ा स्वाभाविक प्रयोग हुआ है।[२] पर इस ओर उनकी विशेष प्रवृत्ति थी नहीं।

सन्त जनगोपाल

'श्री दादू-जन्म-लीला-परची' के लेखक, दादू पन्थ के शिष्य तथा दादू के समकालीन कवि सन्त जनगोपाल तेरह ग्रन्थों के लेखक हैं।[३] सुखदयाल दादू ने इनकी भाषा का परिचय देते हुए लिखा है कि जनगोपाल के ये समस्त ग्रन्थ राजस्थानी भाषा में हैं, और ऐसा लिखा जाना स्वाभाविक भी था, क्योंकि जनगोपाल के जीवन का एक बहुत बड़ा भाग राजस्थान प्रान्त में रहते हुए ही व्यतीत हुआ था। अतः इस देश की बोली उनकी मातृभाषा हो गई थी। उनकी रचना में उर्दू शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं।[४] परन्तु मेरा निष्कर्ष है कि जनगोपाल की भाषा राजस्थानी से प्रभावित व्रजभाषा है। उदाहरणार्थ :

इक तस्कर आपौ घर माही, ढूँढै तौ संचित कछु नाहीं ।
पोथी-पाना लेन जु लागा, आहट पाय सन्त सब जागा ।
तब सब सन्त कहै सुखदाई, कौन घुस्यौ घर भीतर भाई ।
पुरुस तुल्य दीखै घर माही, तस्कर है सो बोलै नाही ।
सुन तस्कर मन में पछतायौ, महापुरुस मम जीव बचायौ ।
ले प्रसाद स्वामी पै आयो, चोरी छाड़ी सिस्य कहायौ ।

(श्री दादू-जन्म-लीला-परची, पृ० २८)

---

१. 'रज्जबजी की बाणी', पृ० ३४३।

२. उपर्युक्त पुस्तक के पृ० ३२९ पर अरबी के कई एक शब्द—गाहक, दलाल, सुलतान, बेकाम आदि—उदाहरणार्थ देखे जा सकते हैं।

३. ध्रू, प्रहलाद, जड़भरत, दत्त, चौबीसौ गुए को।
मोह विवेक दल वरन, दूर विदौं भ्रम डर को।
गुरु की महिमा कथी, जनम गुरु परची गाई।
टकसाली पद ग्रन्थ दयाल की छाप सुहाई।
प्रेम-भक्ति-दुविधा रहित करी, वैस्य कुल निस्तरयौ।
जनगुपाल दादू तणें हरि भक्तन जस विस्तरयौ ॥
—राघव-भक्त-माल।

४. श्री दादू-जन्म-लीला-परची, सम्पादक सुखदयाल दादू, पृ० ६।

जनगोपाल ने प्रसंग के अनुसार ही अपने काव्य में फारसी-अरबी के शब्दों का प्रयोग भी बड़ी सुन्दर शैली में किया है। उदाहरणार्थ :

काजी मुल्ला कहै जु सबही। इसकी अजमत लीजे के वही।
बादसाह पै जाय पुकारै। अजमत देखौ हजरत प्यारे॥
फक्कर क्या तुम भुरकी लाई। राह शरह की दई छुडाई।
बोले सुखन खूब तुम खासा। ये भी देखौ एक तमासा॥
अजमत देखन की मन माँही। अविगत की गति जानै नाहीं॥[1]

जनगोपाल की प्रतिभा ने उन्हें संस्कृत में काव्य लिखने के लिए भी प्रेरित किया था। उदाहरणार्थ :

यत्र कुत्र मृतो भक्तः क्रियां कुर्वन्ति पक्षिणः।
परं स्थानं गताः प्राणाः मुक्तिखेन संशयः॥[2]

धरणीदास

धरणीदास का जन्म माँझी गाँव (छपरा) में संवत् १६७३ में परसरामदास कायस्थ के परिवार में हुआ। इनकी भाषा का परिचय देते हुए डॉ० रामकुमार वर्मा ने अपने आलोचनात्मक इतिहास के पृ० २७३ पर लिखा है कि "श्री राजवल्लभ सहाय की कृपा से धरणीदासजी-कृत 'प्रेम प्रगास' की एक हस्तलिखित प्रति डॉ० उदयनारायण तिवारी को माँझी (सारन) के पुस्तकालय में मिली थी। इसके अनुसार इनकी तिथि भाद्र शुक्ल नवमी सन् १२८१ फसली दी हुई है।...धरणीदास की मातृभाषा भोजपुरी थी। इसी कारण 'प्रेम प्रगास' में भोजपुरी के कतिपय पद मिलते हैं। इनकी भाषा पर पूर्वी प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। यह फारसी भी खूब जानते थे। 'अलफनामा' में इनका फारसी का ज्ञान देखा जा सकता है। इनका बारहमासा दोहों में कहा हुआ है।" स्पष्ट है कि डॉ० वर्मा और डॉ० तिवारी धरणीदास की भाषा भोजपुरी मानते हैं। परन्तु 'सन्तबानी-संग्रह' में संकलित उनके पदों से पता चलता है कि उनकी काव्य-भाषा परिष्कृत और परिमार्जित व्रज है। उदाहरणार्थ यहाँ एक पद उद्धृत किया जाता है :

प्रभुजी अब जिनि मोहि बिसारो।
असरन सरन अधम जन तारन, जुग जुग बिरद तिहारो॥

---

१. दादू-जन्म-लीला-परची, पृ० ७५।
२. वही पृ० १११।

जहँ जहँ जनम करम बसिपायो, तहँ अरुझे रस खाए।
पाँचहु के परपंच भुलानो, धरेउ न ध्यान अधारौ॥
अन्ध गर्भ दस मास निरन्तर, नखसिख सुरति सँवारो।
मज्जा मूत्र अग्नि कल कृम जहँ, सहजै तहँ प्रतिपारो॥
दीजै दरस दयाल दया करि, गुन ऐगुन न विचारो।
धरनी भजि आयो सरनागति, तजि लज्जा कुलगारो॥

इस पद में भाषा का जो रूप है, वह परिष्कृत ब्रज भाषा है। इसी प्रकार के पदों का सुन्दर संकलन 'सन्तबानी संग्रह', भाग २ में विद्यमान है। धरणीदास को फारसी-अरबी का भी ज्ञान था। उनकी रचनाओं में फारसी के सरल और सुबोध शब्दों का प्रयोग मिलता है, यथा परपंच, हजूरी, मजूरी[१], दोजख, नाहक, दरद[२], खसम, खुदाय, आजिज, बन्दगी, भुलवाई, कौल, पैदा[३]। कवि ने ग्रामीण शब्दों का भी अपने काव्य में प्रयोग किया है। इन ग्रामीण शब्दों से भाषा में स्वाभाविकता का समावेश हो जाता है। उदाहरणार्थ यहाँ कतिपय शब्द दिए जाते हैं—आँच[४], बिहात, उधारे, निहारत, पनारे।[५]

इस प्रकार धरणीदास ब्रजभाषा के कुशल कवि थे। इनकी काव्य-भाषा में माधुर्य और सरसता है।

बावरी साहिबा

बावरी पन्थ की प्रवर्तक बावरी साहिबा का समय लगभग १५९९—१६६२ है। यह सन्त दादू तथा हरिदास निरंजनी (मृ० स० १७००) की समकालीन थीं। इनकी काव्य-भाषा सुन्दर और परिष्कृत ब्रजभाषा है। बावरी साहिबा की परिष्कृत ब्रजभाषा और भावुकता देखकर ब्रजभाषा के अमर कवि, 'प्रेम सदा अति ऊँचों लहै' के प्रतिपादक घनानन्द का स्मरण हो आता है। बावरी साहिबा की लेखनी में शक्ति, भाषा में बड़ी गति और प्रभावित करने की सामर्थ्य है। उनकी भाषा का एक उदाहरण निम्नलिखित छन्द के द्वारा दिया जाता है :

---

१. सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृ० १२८।
२. वही, पृ० १२६।
३. वही, पृ० १२५।
४. वही, पृ० १२५।
५. वही, पृ० १२६।

बावरी रावरी का कहिये, मन ह्वैकै पतंग भरै नितभ भाँवरी।
भाँवरी जानहि सन्त सुजान, जिन्हें हरिरूप हिये दरसावरी॥
साँवरी सूरत मोहनी मूरत, दै करि ज्ञान अनन्त लखावरी।
खाँवरी सो है तेहारी प्रभू, गति रावरी देखि भई मति बावरी॥

यारी साहब

यारी साहब बावरी साहिबा के शिष्य वीरू साहब के शिष्य थे। यह जाति के मुसलमान और दिल्ली-निवासी थे। इनका आविर्भाव-काल संवत् १७२५—१७८० तक माना जाता है। डॉक्टर रामकुमार वर्मा के मतानुसार "इनकी रचना सरल और सरस है। उसमें भाषा का बहुत चलता हुआ रूप है।"[१] परन्तु वर्माजी ने यह उल्लेख नहीं किया कि इनकी भाषा कौनसी है। यारी साहब की भाषा व्रज है। उसमें अरबी-फारसी के शब्दों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ यहाँ कतिपय पद उद्धृत किए जाते हैं :

(१) हमारा एक अलेहे पिय प्यारा है।
घट घट नूर मुहम्मद साहब, जाका सकल पसारा है॥
चौदह तबक जाकी रुसनाई, झिलमिल जोति सितारा है।
बेचमून बेचून अकेला, हिन्दू तुरुक से न्यारा है॥
साई दरबेस दरस निज पायो, सोई मुसलम सारा है।
आवै न जाय मरै नहि जीवै, यारी यार हमारा है॥

(२) सुन्न के मुकाम में बेचून की निसानी है॥
जिकिर रूह सोई अनहद बानी है॥
अगम को गम्य नहीं झलक पिसानी है॥
कहै यारी आपा चीन्है सोई ब्रह्म ज्ञानी है॥

यारी साहब के कुछ पदों में परिष्कृत और शुद्ध व्रजभाषा के भी दर्शन होते हैं यथा :

गहने के गढ़े तें कहीं सोनो भी जातु है,
सोनो बीच गहनो और गहनो बीच सोन है॥
भीतर भी सोनो और बाहर भी सोन दीसै,
सोनो तो अयल अन्त गहनो को मीच है।
सोन को तो जानि लीजै गहनो बरबाद कीजै,
यारी एक सोनो तामें ऊँच कवन नीच है॥

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २८०।

यारी साहब ने 'अलफनामा' में फारसी का ककहरा भी लिखा है, जिसके प्रत्येक अक्षर में ज्ञान-निरूपण हुआ है।

बुल्ला साहब

बुल्ला साहब का आविर्भाव-काल सं० १६८९ है। यह यारी साहब के प्रिय शिष्य, भुरकुड़ा के निवासी और जाति के कुर्मी थे। पहले इनका नाम बुलाकी-राम था। बुल्ला साहब की काव्य-भाषा भोजपुरी और अवधी है। उदाहरणार्थ यहाँ पर दोनों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं :

भोजपुरी का उदाहरण :

पुरब देस कर आपुहिं बंभना, आपु भयल अवधूता ॥
अपरम्पार पार ब्रह्म बंभना, आयो हमरे घर अंगना।
परम तत्त ले पूजि आपुही, सरल गावै अनहद ततना ॥
सगुन, तमगुन, सतगुन सारल, हारल तन मन दोऊ।
गगन मण्डल में हरि रस चाखल, बूझै विरला कोऊ ॥
ज्ञान कि तरकस सब्द तीर भरि, प्रेम धनुष धरि तानल।
सुरति कै सीस निसाना मारल, सबका भण्डा फोरल ॥
निर्भय जन इक निर्गुन गावल, स्वासा सर्गुन भावल।
जन बुल्ला बिन स्वासहि गावहिं, सेत प्रकास समावल ॥

अवधी का उदाहरण :

ऐसी विनय सुनहु अबिनासी। अबकी बार काटहु जम फाँसी ॥
भया प्रकास मिटा अँधियारा। आदि अन्त मध भी उँजियारा ॥
रूप देख तहँ बरनि न जासी। निरंकार आपुहिं अबिनासी ॥
जन बुल्ला तहँ रहै हजूरा। पूरन ब्रह्म देखा जहँ नूरा ॥

अवधी के क्रिया पदों के प्रयोग की दृष्टि से निम्नलिखित पद पठनीय है :

एकै ब्रह्म सकल माँ अहई। काम क्रोध से भरमत रहई ॥
काम क्रोध है जम की फाँसी। मरि मरि जिव भरमै चौरासी ॥
लछ चौरासी भरम गँवाया। मानुष जनम बहुरि कै पाया ॥
मानुष जनम दुर्लभ रे भाई। कह बुल्ला याही जग आई ॥

कवि ने स्थान-स्थान पर अरबी-फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया है। उदा-

हरणार्थ महबूब, दिवाना, पियाला[1], हाजिरी, दफ्तर, गरीब, सिपाही, अल्फ़ा, रोज, जालिम[2]। कवि ने ग्रामीण शब्दों का भी प्रचुरता के साथ प्रयोग किया है। ये शब्द बड़ी स्वाभाविक रीति से प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरणार्थ इनकी सूचियाँ निम्नलिखित हैं :

संघाती, सुहादी, पौढिया, अघाती[3], चीन्हवे, मुँहबाय, धमारि, अखरना[4]। बुल्ला साहब की हर प्रकार की रचना में, चाहे वह भोजपुरी में हो या अवधी में, संस्कृत के शब्दों का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ रसना, शब्द विवेकी, गगन, निरखी, साध, संगति, सुधरा, मदन, जतन, संजम, ज्ञान, निरगुन, निरन्तर, पेखी-जैसे दुरूह और सरल शब्दों का प्रयोग कवि ने सहस्रों बार किया है। इस दृष्टि से निम्नलिखित पद पठनीय होंगे। इनसे कवि का संस्कृत शब्दावली से प्रगाढ़ परिचय प्रकट हो जाता है :

१. शब्द ५, शब्दसार, पृ० २७।
२. शब्द ९, शब्दसार, पृ० २५।
३. शब्द ५, शब्दसार, पृ० २४।
४. शब्द ११, शब्दसार, पृ० २५।
५. शब्द ८, शब्दसार, पृ० १६।
६. शब्द २, शब्दसार, पृ० १४।

गुलाल साहब

गुलाल साहब बुल्ला साहब के शिष्य थे। यह जाति के क्षत्रिय तथा बंसहरि ताल्लुका, परगना शादियाबाद, तहसील व जिला गाजीपुर के निवासी थे। सम्पादक 'सन्तबानी-संग्रह' का मत है कि इनका जीवन-काल विक्रमी संवत् १७५० और १८०० वि० के मध्य है। गुलाल साहब की काव्य-भाषा अवधी और व्रज है। परन्तु इनकी भाषा पर पूर्वीपन या भोजपुरी की छाप सर्वत्र विद्यमान है। इनकी भाषा में खड़ी-बोली का विकासशील रूप दृष्टिगत होता है। उदाहरणार्थ यहाँ पर एक पद उद्धृत किया जाता है :

भनि परकासित कहिये भुवंगा, सोहै कुल अधिकारी।
को पतिवर्ता को अलवन्ता, को बिभचारी वारी॥

---

१. शब्दसार, बुल्लासाहब, पृ० १३।
२. वही, पृ० २९।
३. वही, पृ० १७।
४. वही, पृ० १९।

कवेने नीर कवन जल कहिये को अमृत को खारी।
को है कूप गंगाजल को है, को है सलिल उबारी॥
को है कीट पतंग कौन है, को है नृपति भिखारी।
को है चिऊँटी हरित कवन है, को जन्मै को मारी॥
कह गुलाल यह बूझि थको जिव, निरवत को निरवारी।
सतगुरु कृपा सन्त सरनागति, भवसागर तें उबारी॥

इस पद की भाषा खड़ी-बोली से बहुत निकट है। अवधी और व्रज में पदों की रचना करते हुए कवि ने स्थान-स्थान पर भोजपुरी के शब्दों का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ—गइल, परल पावल[१], छूटलि, परलि[२], फरल, भेटल, बाँधल[३]। संस्कृत के शब्दों का भी कवि ने प्रचुरता के साथ प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ कवि ने निम्नलिखित कोटि के संस्कृत शब्दों का अपने काव्य में प्रयोग किया है :

आयसु, गगन, स्वरूप, अगम, सेत, समूह, दिस, पातक, अनुरागी[४], निर्मल, ज्ञान, पंचम, रुचिकर, विमल, क्रोध, ससि, कोटि, प्रीतम, प्राण, अनुभव, काया, अष्टयाम, नागरि[५], ज्ञानहीन, मति, मेलै, अनुभव[६]। कवि ने ग्रामीण शब्दों का भी अपनी काव्य-भाषा में प्रयोग किया है, यथा—सुधि, थकी, बिसरी, छिरकत[७], गोहराई, धूनै[८]। कवि की कुछ ऐसी भी रचनाएँ हैं, जिनमें फारसी-अरबी के शब्दों की ही प्रधानता है। उदाहरणार्थ यहाँ कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत हैं :

अलह अक्रवति करै सिफत हरदय धरै। असल के रूह से खेल पाया॥
बैन साफी करो साँच हृदये धरो। अमल इमान सो सिफत गाया॥
राजा अक्रवति करै भिता को क्या करै। दून बेचून का छय छाया॥
मोती मुक्ता झरै नूर चशमों धरै। हैफ के ख्याल सो खूब खाया॥
कहै गुलाल मिसाल साहेब मिले। दौर को करै इश्क समाया॥[९]

१. गुलाल साहब की बानी, पृ० ९५।
२. वही, पृ० ९६।
३. वही, पृ० ९९।
४. वही, पृ० १०३।
५. वही, पृ० १०२।
६. वही, पृ० ९७।
७. वही, पृ० ९७।
८. वही, पृ० ५७।
९. महात्माओं की बानी, पृ० २६२।

केशवदास

केशवदास जाति के बनिया, यारी साहब के शिष्य और सन्त बुल्ला के गुरु-भाई थे। अनुमान है कि इनका जीवन-काल विक्रमी संवत् १७५० और १८२५ वि० के मध्य है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने इनकी भाषा के सम्बन्ध में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए कहा है कि "इनका एक ही ग्रन्थ प्राप्त हुआ है, उसका नाम 'अमीघूँट' है। 'अमीघूँट' की भाषा कहीं मारवाड़ी और कहीं पूर्वी-हिन्दी के प्रभाव से प्रभावित है।...इनके रेखते फारसी शब्दों से पूर्ण हैं। ज्ञात होता है कि केशवदास अपनी भाषा के प्रयोग में बड़े स्वतन्त्र थे।"[१] वास्तव में केशवदास की भाषा पूर्वी से प्रभावित व्रज है। पूर्वी का प्रभाव उनके सभी पदों और साखियों में दृष्टिगत नहीं होता है। कवि की व्रजभाषा में लिखित रचनाओं की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं :

(१) अविनासी दूलह मन मोह्यो, जाको निगम बतावै नेत।
निरंकार निरअंक निरंजन, निर्विकार निरलेस।
जगह अजोनि भवन भरि पायो, सतगुरु वे उपदेस।[२]

(२) प्रिय थारे रूप भुलानी हो।
प्रेम ठगौरी मन रह्यो विनदाम विकानी हो।
भँवर कँवल रस बोधिया, सुख स्वाद बखानी हो।
दीपक ज्ञान पतंग सों, मिलि जोति समानी हो।[३]

(३) म्हारे हरिजू सूँ जुरलि सगाई हो।
तन मन प्रान दान दै पिय को, सहज सरूपम पाई हो॥
अरध उरध के मध्य निरन्तर, सुखमन चौक पुराई हो।
रबि ससि कुमक अमृत भरिया, मन मंगल मठ छाई हो॥[४]

पद २ और ३ के थारे और म्हारे मारवाड़ी के शब्द हैं। कवि की भाषा में खड़ी-बोली के सुन्दर उदाहरण उपलब्ध होते हैं :

(१) दीजिए मित रीझि कै उत, बहुरि इतहि न आइए।
जह तेज पुंज अनन्त सूरज, गगन में मठ छाइए॥[५]

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २८४।
२. अमीघूँट, पृ० ४।
३. वही, पृ० ७।
४. वही, पृ० २।
५. वही, पृ० २।

(२) पूरन सर्व निधान, जानि सोइ लीजिए।
निर्मल निर्गुन कन्त, ताहि चित दीजिए ॥[१]
(३) धनि सो धरी धनिबार, जबहि प्रभु पाइए।
प्रकट प्रकास हजूर, दूर नहिं जाइए ॥[२]
(४) लाइए घट छाडि के मठ, उमगि सोहं भरि रहो ।[३]

कवि ने अपनी भाषा को स्वाभाविकता प्रदान करने के लिए ग्रामीण शब्दों का भी प्रयोग किया है। यथा—ठाठ, हुलास[४], ठाँव, बिछुरन, धरी, विरला[५], बिसरी, समाया[६]। कवि की भाषा कहीं-कहीं पर संस्कृत की शुद्ध शब्दावली से सकलंकृत और बड़ी सम्मोहक बन गई है। देखिए निम्नलिखित पद में भाषा कितनी शुद्ध और परिमार्जित है :

गगन मगन धुनि लगन लगी,
सुनत सुनत तन त्रिप्त भई।
जगर मगर नाहीं डगर बगर नहिं
रवि ससि निसु दिन भाव नहीं ॥
प्रान गवन हरि पवन भवन करि,
मिलि सन्मुख पिय बाँह गही।
सत रातसत्त पती हम पावल
केसबदास सुहाग सही[७] ॥

भीखा साहब

भीखा साहब गुलाल साहब के शिष्य और जाति के ब्राह्मण थे। इनका वास्तविक नाम था भीखानन्द। इनका जन्म संवत् १७७० में आजमगढ़ के खनपुर बोहना में हुआ था। बाल्यावस्था में ही भुरकुड़ा में जाकर इन्होंने गुलाल साहब से दीक्षा ली। इनके ग्रन्थों में 'रामजहाज' उत्तम और बहुपठित है। भीखा से पूर्व ब्रजभाषा को साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया जा

१. अमीघूँट, पृ० २।
२. वही, पृ० ३।
३. वही, पृ० ४।
४. वही, पृ० ४।
५. वही, पृ० ३।
६. वही, पृ० ६।
७. वही, पृ० १०।

चुका था। अपने लालित्य के कारण यह भाषा उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों से लेकर बिहार तक साहित्यिक भाषा के रूप में मान्य थी। यहाँ तक कि अवधी भाषा के सम्राट् गोस्वामी तुलसीदास भी व्रजभाषा के आकर्षण से दूर नहीं हो सके थे। भीखा साहब भी व्रजभाषा के चमत्कार से प्रभावित हुए और उन्होंने उसे स्वकाव्य-भाषा बनाया। भीखा से पूर्व 'पद्मावत', 'अखरावट'-जैसे ग्रन्थों की रचना अवधी में श्री मलिक मुहम्मद जायसी कर चुके थे। जायसी के अतिरिक्त प्रेमाख्यान-काव्य के दर्जनों यशस्वी कवियों ने अवधी में काव्य की रचना करके उसे जनता की भाषा उद्घोषित कर दिया था। इसके अनन्तर गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' की रचना करके इसे न केवल जन-प्रियता प्रदान की वरन् अमरत्व भी प्रदान किया। भीखा पर गोस्वामी तुलसीदास के भाषा-दर्श और अवधीप्रियता का प्रभाव पड़ा और उन्होंने भी 'महाजनो येन गतः स पन्थः' स्वीकार करके उसी पथ पर चलना स्वीकार किया। विद्यापति के समय से ही मैथिली और भोजपुरी का महत्त्व बढ़ता जा रहा था। भीखा से पूर्व दर्जनों सन्तों ने भोजपुरी को माध्यम बनाकर स्वभावों की अभिव्यक्ति की। पूर्व परम्परा का भीखा पर भी प्रभाव पड़ा। उनकी कविता में भी भोजपुरी और पूर्वी भाषाओं का प्रभाव पड़ा। भीखा साहब की भाषा पर निम्नलिखित भाषाओं का प्रभाव पड़ा :

१—व्रज   २—अवधी   ३—भोजपुरी
४—खड़ीबोली   ५—फ़ारसी-अरबी।

व्रजभाषा का प्रभाव—भीखा साहब की भाषा के क्रिया, सर्वनाम, कारक और क्रियाविशेषणों की अधिकांश रचना व्रजभाषा से प्रभावित है। अब यहाँ पर एक-एक विषय लेकर उनके उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं।

सर्वनाम—भीखा की भाषा में व्रजभाषा के सर्वनामवाचक शब्द अधिक हैं :

दीजै दो प्रभु बास चरन में, मन अस्थिर नहिं पास।
हौं सठ सदा जीव को काँचो नहिं समात उर साँस॥
...   .
प्रभुजी नहि आवच मोंहि दोस।

इसी प्रकार भीखा की कविता में व्रजभाषा के सर्वनाम कोऊ, सोई, सों, तू आदि भी मिलते हैं।

क्रिया—भीखा ने क्रिया-पदों की रचना भी व्रजभाषा के अनुसार की है।

भूतकालिक क्रियाओं में व्रज में प्रायः 'ओ' लगता है, अवधी में 'आ' और भोजपुरी में 'इल'। निम्नलिखित में व्रज के ही प्रभाव हैं :

भयो अचेत नर चिंता चित्त लग्यो।

कारक—करण कारक से (खड़ी-बोली) का 'सूँ' या 'सों' हो जाता है, अवधी और भोजपुरी में 'से','ते' आदि। भीखा ने व्रज का ही प्रयोग किया है :

बीते बारह वसर उपजी। रामनाम सौं प्रीति।

क्रियाविशेषण—भीखा ने व्रजभाषा के क्रियाविशेषणों का प्रयोग किया है। खड़ी-बोली का प्रश्नवाचक क्रियाविशेषण 'क्या' का व्रजभाषा में रूप 'काह' या 'का' हो जाता है। भीखा ने भी ऐसा ही किया है :

मोहि राखो जी अपनी सरन
अपरम्पार पार नहि तेरो, काह कहौं का करन।

अवधी के प्रभाव :

भीखा की भाषा पर अवधी प्रयोगों का प्रभाव है अवश्य, पर अल्प ही। उनके कुछ क्रियापदों और क्रियाविशेषणों पर अवधी का सुन्दर प्रभाव पड़ा है। अवधी में क्रिया, कारक और संज्ञा के अन्त में प्रायः लघु 'उ' होता है, यथा घर का घरु, लगत का लगतु तथा लग का लगु, रूप होता है। भीखा ने भी ऐसा प्रयोग किया है :

साँझ समय अरु प्रात लगु तत्त पदारथ पाय।

अवधी में 'जिसका' क्रियाविशेषण 'जेकर' हो जाता है :

कह भीखा सोइ धन्न है, जेकर नाम अधार।

अवधी भाषा की दृष्टि से भीखा के निम्नलिखित पद पठनीय हैं :

१. भीखा साहब की बानी, पद १, पृ० ४२।
२. वही, पद ६, पृ० ३३।
३. वही, पद ५, पृ० ३२।
४. वही, पद ४, पृ० ३१।
५. वही, पद ३, पृ० ३१।
६. वही, पद ८, पृ० २६।

भोजपुरी का प्रभाव :

भीखा साहब की भाषा की क्रियाओं में पर्याप्त मात्रा में भोजपुरी का प्रभाव पड़ा है। भोजपुरी की भूतकालिक क्रियाओं में 'ल' आ जाता है। निम्नलिखित उद्धरण में अनुरागल, जागल, भागल, रातल आदि भूतकाल के द्योतक हैं :

सत गुरु नावल सब्द हिंडोलवा, सुनतहि मन अनुरागल।
झुलत गुनत रुचिर मन भावल, जियरा चकित उठि जागल।
झूलत चेतन चित लागल, अनहद धुनि मन रातल।

खड़ी-बोली का प्रभाव :

भीखा की भाषा पर खड़ी-बोली का प्रभाव भी यत्र-तत्र दिखाई देता है। कारकों और क्रियाओं के प्रयोग में ऐसा प्रभाव विशेष रूप से दिखाई देता है। क्रियाओं में खड़ी-बोली का रूप इस प्रकार है :

१—यह माया विस्तार खड़ा है।
२—गुरु दाता छमी सुनि पाया,
शिष्य होन द्विज जातक आया।
३—सकल परपंच में खूब फाजिल हुआ।

भीखा ने अरबी-फारसी के शब्दों का अपने काव्य में खूब प्रयोग किया है। भीखा साहब की बानी से यहाँ पर कतिपय शब्द उद्धृत किए जाते हैं— खूब, दीमाग, मगरूर, शुमार, जेरा (जूर), हरामै (हराम), नफा, दिल, करार, हजूर, खुनी (खूनी), होस, जोस, परमोस, गरज, सवाल, कुफुर, नजीर, अजब, हुकुम, हिम्मत, आफताब, लाहूत, इस्क, नूर।

ग्रामीण शब्दों का प्रयोग :

कवि ने अवधी और भोजपुरी से सम्बन्धित बहुत से ग्रामीण शब्दों का प्रयोग किया है, उदाहरणार्थ :

(१) जग में करम बहुत कठिनाई
ताते भरमि भरमि जहँडाई।

'जहँडाई' का अर्थ होता है ठगा जाना।

(२) लबज लबज एहवर ओहवर करि
करम दुइत करि डारे।

'एहवर ओहवर' का अर्थ होता है इधर-उधर।

(३) पइया करम ध्यान सों फटको,
जोग जुक्ति करि सूपे।

'पइया' ग्रामीण अवधी का शब्द है। अर्थ होता है धान की भूसी।

पलटू साहब

पलटू साहब अवध के नवाब शुजाउद्दौला के समकालीन थे। यह जाति के बनिया, भीखा साहब के शिष्य और फैजाबाद के नगपुर जलालपुर में उत्पन्न हुए थे। पलटू साहब फैजाबाद के निवासी थे। अतः उनके शब्द की भाषा शुद्ध अवधी है। उनकी अवधी परिमार्जित और प्रवाहयुक्त है। उदाहरणार्थ यहाँ दो उद्धरण प्रस्तुत किए जाते हैं :

(१) समझि बूझि रन चढ़ना साधो, खूब लड़ाई लड़ना है॥
दम दम कदम परै आगे को, पीछे नाहि पछरना है।
तिल तिल घाव लगै जो तन में, खेत सेती क्या टरना है॥
सबद खैंचि समसेर जेर करि, उन पाँचों को धरना है।
काम क्रोध मद लोक कैद करि, मन कर ठौरै मरना है॥
खड़ा रहै मैदान के ऊपर, उनकी चोट सँभरना है।
आठ पहर असवार सुरत पर, गाफिल नाहीं परना है॥
सीस दिहा साहिब के ऊपर, किसका डेर अब डेरना है।
पलटू बिना रुण्ड के ऊपर, अब क्या दूसर करना है॥

(२) टेढ़ा सोझ मुँह आपना ऐना टेढ़ा नाहिं।
ऐना टेढ़ा नाहिं टेढ़ को टेढ़ैं सूझै।
जो कोइ देखै सोझ ताहि को सोझै बूझै॥
जाको कछु नहिं भेद भावना अपनी दरसै।
जाको जैसी प्रीति मुरत को तैसी परसै॥
दुर्जन के दुर्बुद्धि पाप से अपने जरते।
सज्जन के हैं सुमति सुमति से अपने तर से॥
पलटू ऐना सन्त हैं सब देखै तेहि माँहि।
टेढ़ सोझ मुँह आपना, ऐना टेढ़ो नाहिं॥

पलटू साहब के काव्य में अवधी की क्रियाओं के दो-तीन प्रकार के सुन्दर रूप उपलब्ध होते हैं। इनमें से कुछ ऐसी क्रियाएँ हैं, जिनका अन्त 'ए' से होता

है, कुछ का अन्त 'ऐ' से होता है और कुछ का ईकारान्त होता है। अब यहाँ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं :

(१) ऐकारान्त क्रियाएँ—करै, कहै, सुनै, ठहरावै, पसीजै, पहिचानै, कीजै, पतीजै, सोहै, मोहैं, पीजै, दीजै, लीजै, बतलावै, काढ़ै, भागै, टरै, भीजै, करीजै, जीजै, दुरियावै।

(२) इकारान्त क्रियाएँ—बोलेगी, लुभाओगी, मनावोगी, धराओगी, रिझावोगी, त्यागोगी, माँगोगी, लाओगी। इन क्रियाओं का रूप खड़ी-बोली की क्रियाओं से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है।

(३) तृतीय कोटि की क्रियाएँ वे हैं, जिनमें 'हो' अन्त होता है; यथा अगुताइन हो, पाइन हो, लीन्हा हो, दीन्हो हो, फारै हो, मारै हो, ढरकै हो, भरमै हो, सोवै हो।

(४) चतुर्थ कोटि की क्रियाएँ वे हैं, जिनका अन्त 'यनि' से होता है; यथा नायनि, चुरायनि, लगायनि, जायनि, बिछायनि, धरायनि, मनायनि।

(५) पंचम कोटि की क्रियाओं के अन्त में 'इन' होता है; यथा—गुहराइन, बुलाइन, डुलाइन, कराइन, चराइन, सुनाइन, देखाइन।

सर्वनाम—कवि के काव्य में जिन सर्वनामों का प्रयोग हुआ है, वे शुद्ध अवधी के हैं। उदाहरणार्थ :

मध्यमपुरुष के सर्वनाम शब्द एकवचन में—तुही, ताहि, तुझ, त्वार, तू तो, तूँ तोरे तरे। बहुवचन में तुम, तुहार, तुम्हार, तुम्हारि।

अन्यपुरुष के एकवचन में सर्वनाम शब्द तिस, ताहि, तोहि, सो, वह तै, इकहै, उकहै, वोहिइकरै, उकरै, एकर, वोकर, जेकर, केकर।

विभक्तियों की दृष्टि से अध्ययन :

पलटू के काव्य में निम्नलिखित विभक्तियों का प्रयोग मिलता है :

कर्ता—ने
कर्म—को, कौ, कह
करण—से
सम्प्रदान—ताई
अपादान—ते, से
सम्बन्ध—को, कै, केरा, केरे।
अधिकरण—मे, पर, महैं माँहि, माझा।

पल्टू की काव्य-भाषा अवधी ही है, परन्तु यत्र-तत्र अन्य बोलियों के माध्यम से कवि ने अपने विचारों को प्रकट किया है। कहीं-कहीं पर कवि ने भोजपुरी को भी भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है, यथा :

(१) राम नाम गुन गावल हो, पावल विश्राम।
यह मन होय बनिजारा, लुबुधल तेहि ठाँव॥

(२) प्रेमवान जोगी मारल हो फाटा हिय मोर।
जोगी अमर मरै नाही हो, पूजली मोरी आस
कर्म लिखा पर पावल हो कहैं पल्टू दास॥

कवि ने संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का भी प्रयोग किया है। 'सन्तबानी-संग्रह', भाग २ से ऐसे कतिपय उद्धरण दिए जाते हैं :

सहज, समाधि, अनरूप[१], निर्गुन, पवन, अमृत, दिस, सीस, कुटुम्ब, मन्दिर, माया[२], संसार, क्रोध, लोभ, दुरमति, तृस्ना, ध्यानी, दृष्टि, परमान, सुरत, कारज, कमठ[३]। इनके अतिरिक्त कवि ने जोग, भेख, सत्संग, साधा, मरदन, हरखाती, तिरबेनी, अच्छय, परदक्षिणा, ईस, परपंच, बिशु, सरनागत, मस्तक, सरन, मर्म, गुपति, सबद, सोहं, बिस्वास, उपदेश आदि शब्दों का प्रयोग किया है।

कवि ने अवधी के ग्रामीण शब्दों का बड़ी सुन्दरता के साथ प्रयोग किया है। इन शब्दों के प्रयोग से भाषा में स्वाभाविकता का संचार हो जाता है।

उदाहरणार्थ :

डण्डिया, पहुड़ाई, गोहरावा[४], छिनार[५], रिसियै है[६], मनैहौ[७], सुताय[८], ओटै, निकोटै[९]।

पल्टू साहब को अरबी-फारसी की शब्दावली का भी सम्यक् ज्ञान था।

---

१. सन्तबानी-संग्रह, भाग २, पृ० २१६।
२. वही, पृ० २१७।
३. वही, पृ० २१९।
४. वही, पृ० २१७।
५. वही, पृ० २१९।
६. वही, पृ० २२०।
७. वही, पृ० २२१।
८. वही, पृ० २२५।
९. वही, पृ० २२७।

उनकी कविता में कुछ ऐसे पदों की रचना हुई है, जिनमें ८५ प्रतिशत फारसी-अरबी के शब्द विद्यमान हैं :

जोर दरवेस दरस ये पहुँचे महरम फाजिल सोई है।
रोशन जमीर दिल अन्दर जा रूह पाक कै धोई है।
दरमियाँन महै एक तूँबा दरख्त सैंदल की खुशबोई है।
मिलाइल जब रइल होय बैठे तहाँ मोहा सिबा होई है।
बायें तरफ नासून जबरूता भई तहाँ दोई है।
दहिनी तरफ मलकूत लहूता रूहमे रूह मिलोई है।
दरियाव पर अस्मान फोरि कै सच्चा मुस्ला सोई है।
पलटू दास उन्हें दरियाफा खुसी खूब जिन्ह खोई है॥

तथा—

शरियत जो शर्त करि आया यदि अब तुम करो उसका।
तरीफत तर्क कर आलम ऐब न लगेगा तुझको।
हकीकत हक्क पहिचानो हक्क में हक है राजी।
मारिफत जब्र मारोगे जियतै जाय तब होवोगे हाजी।

इन पदों में फारसी-अरबी के जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उनके अलावा फक्कर, दौलत, साबित, जिक्र, खूबी, हब, हिरस, इबादत, मजलिस, कसब, काली, सुन्नी, शिया, मजहब, मसुलमीन, अली, मुहम्मद, अकिल, शमशेर, नासूत, अजराइल, लहमाँ, नूर, तजल्ली, आवाज, अर्श, मेहर, करीम, खिल्लत, तसलीमात, पैगम्बर, मुबारक, मुहब्बत, जलवा, शाह, बादशाह, मुरीद आदि शब्दों का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है।

पलटू साहब का अवधी भाषा पर अच्छा अधिकार था। कबीर और सुन्दरदास के अनन्तर भाषा पर इतना अच्छा अधिकार किसी अन्य सन्त कवि का नहीं रहा। पलटू पहुँचे हुए साधक, सफल कवि और समादृत उपदेशक थे।

जगजीवन साहब

सतनामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक जगजीवन साहब का जन्म संवत् १७३९ के सारदाह (बाराबंकी) में चन्देल ठाकुरों के परिवार में हुआ। जगजीवनदास के तीन प्रधान ग्रन्थ 'ज्ञानप्रकाश', 'महाप्रलय', एवं 'प्रथम ग्रन्थ' हैं। भीखा पन्थवाले इन्हें गुलाल साहब का शिष्य मानते हैं, पर सतनामी इन्हें विश्वेश्वरपुरी का शिष्य मानते हैं। जगजीवन साहब की काव्य-भाषा अवधी और ब्रज है।

उदाहरणार्थ यहाँ दोनों प्रकार के पद उद्धृत किए जाते हैं :

अरे मन समुझि करु पहिचान।
को तैं अहसि कहाँ ते आयसि, काहे मर्म भुलान॥
सुधि सँभारु विचार करिकै, बूझु पाछिल ज्ञान।
नात यह दुई चारि दिन का, अचल नहिं अस्थान॥
लोक गढ़ यहु कोट काया, कठिन माया वान।
लाग सबरे बचे कोउ नहि, हरयो सबका ध्यान॥
खबरदार बेखबर हो नहिं ओट नाम निरबान।
जगजीवन सतगुरु राखिलै हैं, चरन रहु लपटान॥

ब्रजभाषा से प्रभावित हिन्दी का उदाहरण :

कहाँ गयो मुरली को बजइया, कहाँ गयो रे॥
एक समय जब मुरली बजायो, सब सुनि मोहि रह्यो रे।
जिनके भाग भये पूर्वज के, ते वहि संग रह्यो रे॥
खबरि न कोई कहु री पाई, कीधौं कहाँ गयो रे।
ऐसा करता हरता यहि जग, तेऊ थिर न गह्यो रे॥
रे नर बौरे तै कितना है केहि गिनती माँ है रे।
जगजीवन दास गुमान करहु नहि, सत्तनाम गहि रहु रे॥

कवि ने स्थान-स्थान पर अरबी-फारसी के शब्दों के प्रयोग द्वारा भाषा में स्वाभाविकता और सरसता का संचार कर दिया। ऐसे शब्दों की सूची निम्न लिखित है :

खबरदार, बेखबर[१], गुमान, फजीहत, खबरि[२], तलफि, दरद, खाक[३], दीवानी[४], आरदास, ऐगुन, गुनाह, अजब, ख्याल[५], कुदरत[६]।

कवि ने ग्रामीण शब्दों का प्रयोग भी प्रचुरता के साथ किया है। करवा,

---

१. सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृ० १३०।
२. वही, पृ० १३१।
३. वही, पृ० १३३।
४. वही, पृ० १३५।
५. वही, पृ० १३७।
६. वही, पृ० १३८।

उब्रहनि, अरथाय, रिसाय, गोहराय[1], बिसारि[2], बिलाइ, वजइया[3], केतना, समोई[4], अन्हाऊ, आउ[5], उहवाँ, तेहिका[6] आदि इसी प्रकार के शब्द हैं।

जगजीवन साहब अवधी भाषा क्षेत्र के ही निवासी थे, फिर भी भोजपुरी या पूर्वी बोली में से प्रभावित पदों की रचना की है। उदाहरणार्थ :

जोगिया भंगिया खवाइल, बौरानी छिरौ दिवानी॥
ऐसे जोगिया की बलि बलि जैहै, जिन्ह मोहि दरस दिखाइल।
नहिं करतें नहिं मुखँहि पियावै, नैनन सुरति मिलाइल॥
कहा कहौं कहि आवत नाहीं, जिन्हके भाग तिन्ह पाइन।
जगजीवन दास निरखि छवि देखै, जोगिया मुरति मन भाइल॥

दरिया साहब (बिहारवाले)

दरिया साहब की जन्म-तिथि सं० १७३१ है। डॉ० रामकुमार वर्मा का अनुमान है कि इन्हें १०६ वर्ष की आयु प्राप्त हुई थी। इनका जन्म धरकन्धा (आरा) के पीरनशाह के परिवार में हुआ। इनके दो प्रधान ग्रन्थ हैं—'दरिया सागर' तथा 'ज्ञानदीपक'। डॉ० वर्मा का मत है कि इनकी भाषा बहुत साधारण है।[7] इनकी भाषा अवधी-प्रधान है।

डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी का कथन है, "जिन विभिन्न भाषाओं और शब्दावलियों का व्यवहार दरिया साहब ने किया है, उनके अनुकूल उनकी शैली में विभिन्नता भी पाई जाती है। 'दरियानामा' की रचना फारसी में और 'ब्रह्म चैतन्य' की रचना संस्कृत में हुई है। उनकी फारसी या संस्कृत भाषा व्याकरण-सम्मत नहीं है और इस विषय में कवि ने अत्यधिक स्वतन्त्रता का उपयोग किया है। सम्भवतः यह उनके इन भाषाओं के अल्प ज्ञान का परिणाम है।"[8] संस्कृत प्रधान भाषा का उदाहरण :

---

१. सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृ० १४१।
२. वही, पृ० १३०।
३. वही, पृ० १३१।
४. वही, पृ० १३५।
५. वही, पृ० १३४।
६. वही, पृ० १३६।
७. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २८१।
८. 'सन्त-कवि दरिया—एक अनुशीलन', डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, पृ० २१५।

परब्रह्म परचिन्त पर ई प्रगासम् ।
कायम् न क्रोधम् न माया न साधम् ।। (ब्रह्म चैतन्य)

फारसी-प्रधान भाषा का एक उदाहरण :

अये दरिया जे तो बैरूँ यके नीस्त ।
तु हस्ती हर चे हस्ती रा शके नीस्त ।।
(दरियानामा)

डॉ० ब्रह्मचारी का मत है कि इनकी अन्य रचनाओं की भाषा अवधी-प्रधान हिन्दी है, पर यह दो रूपों में पाई जाती है :

(१) पंजाबीपन लिये हुए अरबी और फारसी शब्दावली से प्रभावित ।
(२) संस्कृत शब्दों के तत्सम एवं तद्भव रूपों से युक्त ।

उदाहरणार्थ :

(१) जरबक्स जरबक्स जरबुन्द जरबुन्द
दिलजाँक दिलजाँक रब पावन्दा रे ।
कदरदान कदरदान फरामोस फरामोस
यह गैब का फूल झरि आयन्दा रे ॥

(२) रचेउ विरंचि चित्र बहु भाँती ।
त्योइ सोहागिन पिया रंग राती ॥

कवि ने अपनी भाषा को प्रभावशाली बनाने के लिए कहावतों और लोकोक्तियों का खूब प्रयोग किया है । उदाहरण :

(१) नेम कहाँ जब प्रेम उपासी ।
(२) चेला वहिर गुरु है अन्धा ।
(३) प्रेम गली अति साँकरी ।
(४) पन्थ न थाकि पथिक थकि गयऊ ।
(५) आगे नाथ न पीछे पगहा एहि विधि गदहा मोटा ।

दरिया साहब (मारवाड़वाले)

दरिया साहब मारवाड़ के निवासी और जाति के धुनिया थे । इनका जन्म संवत् १७३३ में हुआ । अपने समय के यह प्रसिद्ध साधक रहे हैं । इनकी भाषा खड़ी-बोली से प्रभावित अवधी है । खड़ी-बोली का इतना सुष्ठु और विकासशील

रूप बहुत कम सन्त कवियों में उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ यहाँ कतिपय पंक्तियाँ दी जाती हैं :

जाके उर उपजी नहिं भाई। सो क्या जाने पीर पराई॥
व्यवार जाने पीर की सार। बाँझ नार क्या लखै विकार॥
पतिव्रता पति को व्रत जानै। विभचारिन मिल कहा बखानै॥
हीरा पारख जौहरिं पावै। मूरख निरख के कहा बतावै॥
लागा घाव करा है सोई। कौतुक हार के दर्द न कोई॥
राम नाम मेरा प्रान अधार। सोई राम रस पीवन हार॥
जन दरिया जानैगर सोई। प्रेम की माल कलेजे पोई॥

एक पद की कतिपय और पंक्तियाँ देखिए। इनमें खड़ीबोली का सुन्दर रूप व्यक्त हुआ है :

बाबल कैसे बिसरा जाई।
यदि मैं पति संग रल खेलूँगी, आपा धरम समाई॥
सतगुरु मेरे कृपा कीन्ही, उत्तम बर परनाई।
अब मेरे साँई को सरम पड़ैगी, लेगा चरन लगाई॥

कवि की भाषा में संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। एक बात और ध्यान देने योग्य है। दरिया साहब की भाषा में अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग बिलकुल नहीं है। कवि ने ग्रामीण शब्दों का भी प्रयोग नहीं किया है। सामान्य दृष्टि से देखने पर कवि की भाषा अच्छे स्तर (स्टैण्डर्ड) की है।

दूलनदास

दूलनदासजी का आविर्भाव-काल लगभग सं० १७०० है। इनका जन्म समेसी (लखनऊ) में हुआ था। धर्मगाँव (जिला रायबरेली) में रहकर इन्होंने अपने उच्चादर्शों और अनुभूति का व्यापक प्रचार किया। आपकी काव्य-भाषा कहीं-कहीं पर व्रजभाषा है और कहीं पर अवधी। व्रजभाषा का एक उदाहरण निम्नलिखित है :

जब गज अरघ नाम गुहरायो।
जब लगि आवै दूसर अक्षर, तब लगि आपुहि धायो॥

पायं पियादे भे करुनामय, गरुडासन बिसरायो।
धाय गयन्द गोद प्रभु लीन्हो, आपनि भक्ति दिढ़ायो॥
मीरा को विष अमृत कीन्हो, विमल सुजस जग छायो।
नाम देव हित कारन प्रभु तुम, मिर्तक गाय जियायो॥
भक्त हेत तुम जुग जुग जनमेउ, तुम्हहि सदा यह भायो।
बलि बलि दूलनदास नाम की, नामहि तें चित लायो॥

कवि की रुचि और भाषा खड़ी-बोली के बहुत निकट है। कुछ पदों में तो अधिक अवतरण खड़ी-बोली में ही लिखे गए हैं :

तू काहे को जग में आया, जो पै नाम से प्रीति न लाया रे।
तृस्ना काम सवाद घनेरे मन से ही नहिं बिसराया रे।
भोगविलास आस निस वासर, इत उत चित भरमाया रे।
कहँ से आयो कहँ को जैहै, अन्त खोज नहि पाया रे।
उपजि उपजि के बिनसि गये सब, काल सबै जग खाया रे॥

इस उद्धरण की भाषा खड़ी-बोली के बहुत निकट है। दाग़, वेकूफ, गाफिल, महल, कवीला[1], हवाल[2], किताब, हुसियार[3], गरीब, नेवाज, जहाज[4]-जैसे अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग भी कवि ने किया है।

चरनदास

चरनदास का आविर्भाव संवत् १७६० विक्रमी में हुआ था। इस समय से प्रायः १२५ वर्ष पूर्व हिन्दी के महाकवि गोस्वामी तुलसीदास अवधी भाषा में अपने गौरव-ग्रन्थ की रचना कर चुके थे। 'मानस' की लोकप्रियता के साथ ही अवधी भाषा की लोकप्रियता और प्रचार-प्रसार व्यापक हो रहा था। अवधी की समृद्धि तथा व्यापकता में 'रामचरितमानस' का प्रमुख भाग रहा। 'मानस' के अतिरिक्त गोस्वामी तुलसीदास की अवधी में रचित अन्य रचनाएँ भी इस समय तक जनता में पहुँच चुकी थीं। गोस्वामीजी के समकालीन अकबर के दरबारी कवियों में बीरबल, रहीम, गंग, नरहरि, महापात्र आदि अवधी में काव्य-साहित्य की रचना कर रहे थे। गोस्वामीजी से कुछ पूर्व जायस (रायबरेली) के

१. सन्तवानी संग्रह, भाग २, पृ० १६१।
२. वही, पृ० १६०।
३. वही, पृ० १५९।
४. वही, पृ० १६२।

सुप्रसिद्ध कवि मलिक मुहम्मद जायसी (सं० १५९७) अपने प्रसिद्ध प्रबन्ध काव्यों 'पद्मावत' और 'अखरावट' की रचना कर चुके थे।

सन्त चरनदास ने अपने काव्य की रचना अवधी भाषा में की थी। हमारे कवि की अवधी भाषा में साहित्यिक अवधी और ग्रामीण अवधी के रूपों का सुन्दर समन्वय है। रचना-काल के पूर्व के लिखित 'मटकी लीला', 'दान लीला', 'चीर हरण' आदि की भाषा अव्यवस्थित और ग्रामीण अवधी है। इन कृष्ण-चरित्र विषयक ग्रन्थों की भाषा कहीं-कहीं ब्रजभाषा के शब्दों और क्रिया-पदों से भी प्रभावित है। इसके अतिरिक्त अन्य भाषाओं और बोलियों का भी सम्मिश्रण कवि की भाषा में उपलब्ध होता है। इन बोलियों और भाषाओं में अरबी, फारसी, संस्कृत, बैसवारी, भोजपुरी एवं बुन्देलखण्डी के शब्द पर्याप्त मात्रा में व्यवहृत हुए हैं। कवि की भाषा अत्यन्त सरल एवं स्वाभाविक है। वह जन-समाज की बोली के अनुरूप है और समाज को प्रभावित करने की शक्ति से सम्पन्न है। कवि की यह भाषा संस्कृत की कठिन शब्दावली और समासों से उन्मुक्त है। प्रान्तीय भाषाओं और बोलियों का प्रयोग आवश्यकता और प्रसंग के अनुरूप किया गया है। इनके प्रयोग से भाषा की व्यावहारिकता और परिमार्जन में अभिवृद्धि हुई है। यातायात की कठिनाइयों के उन दिनों में भी चरनदास ने कुरुक्षेत्र, जयपुर आदि अन्य सुदूर स्थानों का भ्रमण किया था। यात्राओं में विभिन्न देशों के वातावरण तथा भाषाओं का भी हमारे कवि पर प्रभाव पड़ा, तो आश्चर्य नहीं है। कवि के साहित्य में उपलब्ध प्रान्तीय बोलियों के शब्द इतने अधिक नहीं हैं कि उनकी भाषा उससे दबी हुई प्रतीत हो।

'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' में चरनदास की भाषा के विषय में विचार प्रकट करते हुए हरिऔधजी ने लिखा था, "कबीर पन्थ की छाया भी उनके पन्थ पर पड़ी है। वह भी एक प्रकार से अपठित हैं। उनकी भाषा भी सन्त बानियों की-सी ही है। उसमें किसी भाषा का विशेष रंग नहीं। परन्तु ब्रज-भाषा के शब्द उसमें अधिक मिलते हैं और कहीं-कहीं राजस्थानी की झलक भी दृष्टिगत होती है। 'स्वरोदय' की रचना जटिल है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्द भी पाए जाते हैं, जिससे भाषा का माधुर्य बहुत-कुछ नष्ट हो जाता है।"[१] प्रस्तुत उद्धरण में ध्यान देने योग्य तीन बातें हैं। प्रथम आरोप यह है कि उसमें किसी भाषा का विशेष रंग नहीं है। इस आरोप का निराकरण कवि की रचनाओं

१. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, पृष्ठ ४६४।

को देखने से ही हो जाता है। प्रत्यक्ष है कि कवि की भाषा खड़ी-बोली से प्रभावित अवधी है। द्वितीय यह कि व्रजभाषा के शब्द उसमें अधिक मिलते हैं। आलोचक का प्रस्तुत कथन केवल कतिपय ग्रन्थों के लिए ही उपयुक्त प्रतीत होता है। इस कोटि में कृष्ण-चरित्र काव्यों की परिगणना हो सकती है। तृतीय आरोप यह है कि संस्कृत के तत्सम शब्दों के अत्यधिक प्रयोग से भाषा-सौन्दर्य विनष्ट हो गया है। इसके उत्तर में केवल इतना ही उल्लेखनीय है कि ऐसे शब्दों का प्रयोग अल्प संख्या में है। दो-एक उदाहरणों के आधार पर सामान्य नियमों का निर्माण नहीं कर सकते हैं।

कवि के साहित्य में प्रान्तीय बोलियों के अतिरिक्त अरबी एवं फारसी के शब्दों का भी प्रयोग कौशल के साथ हुआ है। प्रथम परिच्छेद में कवि के आविर्भाव-काल पर प्रकाश डाला जा चुका है। इस समय तक मुसलमानों की सत्ता देश पर पूर्ण रूप से स्थापित हो चुकी थी। मुगल राज्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। देश पर उनकी संस्कृति और भाषा का बोलबाला था। फारसी एवं अरबी राज्यभाषा होने के कारण जनता में अधिक प्रिय थीं। फलतः उस समय अरबी और फारसी की वही स्थिति थी, जो आजकल अंग्रेजी भाषा की है। ऐसे वातावरण से प्रभावित होना कवि के लिए सर्वथा स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त दिल्ली बहुत काल तक मुसलमानों की राजधानी रही थी। फलतः उनकी संस्कृति की जड़ें दिल्ली में जम गई थीं। अपनी रचनाओं को जनता में प्रिय बनाने के लिए हमारे कवि ने अपने ग्रन्थों में अरबी-फारसी की शब्दावली का प्रयोग किया है। अरबी-फारसी जाननेवाली जनता में उस समय ऐसी ही भाषा की माँग थी और विशेषतया उस दशा में, जब उसकी रचना त्रस्त जनता के परिमाण एवं उपदेश के लिए हुई थी।

कवि की रचनाओं में फारसी के शब्दों का प्रयोग सामान्यतया तीन प्रकार से उपलब्ध होता है। सर्वप्रथम वे रचनाएँ, जिनमें फारसी के शब्दों की प्रचुरता है। ये रचनाएँ सवैया एवं पदों में हैं। इस प्रकार की स्फुट रचनाओं में फारसी के शब्द प्रायः ९० प्रतिशत प्रयुक्त हुए हैं। स्फुट साहित्य के अतिरिक्त कवि के किसी अन्य ग्रन्थ में फारसी-अरबी शब्दों का प्रयोग इस अनुपात में उपलब्ध नहीं होता है। इन रचनाओं से कवि का अरबी-फारसी ज्ञान भी ज्ञात हो जाता है। निम्नलिखित उद्धरणों से प्रकट हो जाता है कि कवि की इस प्रकार की रचनाओं में अरबी-फारसी के शब्दों का कितना प्रयोग हुआ है :

मुझे कृष्ण के मिलने की आरजू है।
शबो रोज़ दिल में यही जुस्तजू है॥
नहीं भाती हैं मुझको बातें किसीकी।
सुनी जब से उस यार की गुफ़्तगू है॥
नहीं मुझको मतलब जहाँ में किसीसे।
चुभा जब से दिल में सनम खूसबू है॥
जो आशिक़ है उसका नहीं उससे गाफिल।
तड़पता अज़ल से खड़ा रूबरू है॥
शराबे मुहब्बत पिई जिसने यारो।
हुआ दो जहाँ में वो ही सुर्खरू है॥
सभी आशिकों पे किया कर्म तूने।
मुआसी पे तेरा नहा दिल रजू है॥
जहाँ देखे रनजीत वहीं हैं वे हाजिर।
हर एक गुल में उसकी मिली मुश्क बू है॥

इसी सम्बन्ध में एक उद्धरण और पठनीय होगा :

मुरशद मेरा दिल दरियाई दिलगह अन्दर खोजा।
जिसके अन्दर सत्तर कावा मक्का तीसों रोजा॥

चौदह तबक़ औलिया तिसमें भेद न होय जुदाई।
सहस्र कमल नमाज़ में ठाढ़े दरशन जहाँ खुदाई॥

हवा न हिर्स खुदी नहि खूबी अनलहक्क जहाँ बानी।
बिन चिराग खाने सब रौशन जिसमें तख्त सुमानी॥

बिना अम्बर जहाँ बहु गुल फूले बिना अम्बर जहाँ बरसें।
बिन सरोदय तम्बूर बजे जहाँ चशमें होम न दरसे॥

तिस दरगाह मुसल्ला डारे बैठे काद काजी।
न्याव करे सीने की पूछे रखे सबकों राजी॥

जिसके फल दीदार किये से नादिर होय फकीर।
मारे काल कलन्दर जबलो मनवा धरे न धीर॥

इन उद्धरणों में फारसी-अरबी के शब्दों का अनुपात क्या है, यह पाठक स्वयं समझ जाएँगे। इन दोनों उद्धरणों में हिन्दी के कतिपय शब्दों—फल, सहस्र, न्याय, कमल एवं दर्शन—का ही प्रयोग हुआ है। आज का शिक्षित

व्यक्ति भी इन उद्धरणों की भाषा को समझने में किसी प्रकार समर्थ न होगा। इन दोनों उद्धरणों से चरनदास का अरबी-फारसी ज्ञान प्रकट हो जाता है।

द्वितीय कोटि की वे रचनाएँ हैं, जिनमें कवि ने अरबी-फारसी के लगभग ७० प्रतिशत शब्दों का प्रयोग किया है। इनमें से भी लगभग २५ प्रतिशत शब्द ऐसे हैं, जो सामान्य जनता के ज्ञान से ऊपर हैं। शेष ५० प्रतिशत शब्द फारसी-अरबी के होते हुए भी सामान्य जनता द्वारा व्यवहृत हुआ करते हैं। इनके अन्तर्गत कवि की अनेक स्फुट रचनाएँ आ जाती हैं, उदाहरणार्थ यह एक उद्धरण दिया जाता है :

ऐसा हो दरवेश ही जग को बिसरावै।
ईमान सबूरी साँच सो सोई बकसा जावै॥
जन जर और ज़मीन को दिल में नहिं लावै।
फिक्र फकीरी को बुरा वह जिक्र छुटावै॥
फेफा केका गुण यही राज़क करै यादा।
काफि कनाअत सुख धना आनन्द अगाधा॥
रे रीयाज़त बलवान है हरि को अपनावै॥
आखिर कौ दीदार ही निश्चय करि पावै॥
एज़द को धारै रहै सब सो नीचा॥
शुकदेव कही चरणदास सो पावे पद ऊँचा॥

इस छन्द में जग, बिसरावै, साँच, सोई, गुण, यदा, अगाध, आनन्द, सुख, धना, निश्चय, धारे, नीचा, ऊँचा, बलवान आदि हिन्दी के शब्द हैं। इनके अतिरिक्त दैनिक जीवन में व्यवहृत होनेवाले फारसी-अरबी के शब्दों में दरवेश, ईमान, दिल, ज़र, जमीन, फिक्र, फकीरी, जिक्र, आखिर, दीदार उल्लेखनीय हैं। शेष फारसी-अरबी शब्दावली सामान्य पाठक के ज्ञान से परे की वस्तु है। प्रथम कोटि की रचना की तुलना में यह छन्द अधिक सरल और बोधगम्य प्रतीत होता है। जिस समय कवि ने इन छन्दों की रचना की होगी, उस समय की जनता के लिए यह शब्दावली लेश-मात्र भी कठिन नहीं रही होगी।

तृतीय कोटि की रचनाएँ वे हैं, जिनमें अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग बहुत ही अल्प मात्रा में हुआ है। इस प्रकार की रचना में कवि का ध्यान सरल और सुबोध शब्दों के प्रयोग के प्रति रहा है। इस कोटि में कवि की समस्त स्फुट रचना आ जाती है और साथ ही प्रायः सभी ग्रन्थ भी। उदाहरणार्थ कतिपय उद्धरण नीचे दिए जाते हैं :

दो दिन का जग में जीवना करता है क्यों गुमान।
ऐ बेसहूर गीदी टुक राम को पिछान॥
दावा खुदी का दूर कर अपने तु दिल सेती।
चलता है अकड़ अकड़ के जीवनी का जोस आना॥
मुरसिद का ज्ञान समझ के हुसियार हो सिताब।
गफलत को छोड़ सुहबत साधो की खूब जान॥
दौलत का जौक ऐसे ज्यों आब का हुबावं।
जाता रहेगा छिन में पछतायगा निदान॥
दिन भर खोवता है दुनिया के कार बार।
इक पल भी याद साईं की करता नहीं अजान॥

तथा—

तज के जगत की रीति को कर आपनी तदबीर।
इस जग भरोसे ख्वार हो गये सार और अमीर॥
सुन यार मन यार मन।
इक दम करारी है नहीं छिन छिन में फेरै रंग।
कबहुँ तो हैराँ सुख घना चल बिचल बेढंग॥
सुन यार मन यार मन॥
हशमत व शौकत थिर नहीं मत देख हो मगरूर।
ठहराव ता कूँ है नहीं भगालु बढ़ाई घूर॥
सुन यार मन यार मन॥

इन उपर्युक्त उद्धरणों में व्यवहृत अरबी-फारसी के शब्दों के रूप बड़े सरल हैं। गुमान, बेसहूर, दावा, खुदी, मुरशिद, हुसियार, गफलत, दौलत, जौक, ख्वार, तदबीर, शौकत, हशमत, दम करारी आदि सुगम शब्द हैं और इनसे कौन नहीं परिचित है। आज की अशिक्षित जनता में भी इस प्रकार के शब्दों का बराबर व्यवहार होता चला आ रहा है। ये विदेशी शब्द हमारे जीवन में इतने अधिक पैठ गए हैं कि इनका विदेशीपन हमें बिलकुल नहीं खटकता है।

कवि ने अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग अपनी रचनाओं में बड़ी कुशलता से किया है। जहाँ-कहीं फारसी के शब्द काव्य में नहीं बैठ सके हैं, वहाँ कवि ने उनका परिष्कार कर दिया है और इस प्रकार उसने विदेशी शब्दों को पूर्णतया अपना लिया है। उनका विदेशीपन पूर्णतया विलुप्त-सा हो गया है। निम्नलिखित उद्धरणों में ये विदेशी शब्द कुशलतापूर्वक अपना लिये गए हैं :

१. बिना अम्बर जहँ गुल बहु फूलै	—	(गुल)
२. दिल में यही जुस्तजू है	—	(जुस्तजू)
३. जो आशिक है उसका	—	(आशिक़)
४. मुरशद मेरा दिल दरियाई	—	(मुर्शिद)
५. फिकर फकीरी	—	(फ़िक्र फ़कीरी)
६. हुसियार	—	(होशियार)
७. शौकत	—	(शौकत)
८. गफलत	—	(ग़फ़लत)

कवि के ग्रन्थों की अपेक्षा स्फुट काव्य पदों एवं सवैयों में अरबी-फारसी के शब्दों का विशेष प्रयोग हुआ है। कारण यह है कि कवि ने अपने काव्य की रचना सामान्य जनता के लिए की थी, जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सम्मिलित थे। अतः ऐसी जनता के लिए इस कोटि की रचना उपयुक्त प्रतीत होती है।

चरनदास की भाषा में संस्कृत के शब्दों का सुन्दर प्रयोग उपलब्ध होता है। 'योग सन्देह सागर', 'पंचोपनिषद सार', 'ज्ञान स्वरोदय', 'ब्रज चरित', 'अमर लोक' आदि ग्रन्थों में कवि ने बड़ी स्वाभाविक शैली में संस्कृत के शब्दों का प्रयोग किया है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त 'मन विरक्त करण सार', 'ब्रह्म-ज्ञान सागर', 'नासकेत लीला' 'कुरुक्षेत्र लीला' तथा 'भक्ति सागर' इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। उदाहरणार्थ यहाँ उपर्युक्त ग्रन्थों से कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं :

१. तारा मण्डल कैसे दरशैं। त्रिकुटी संयम कैसे परशै ॥
कहँ इकीस काया में लोक। इन्द्र करै कहँ नित्त भोग ॥
षोडश चन्द्र कहँ त्रिदेवा। का विधि उनको पावै सेवा ॥
ब्रह्म रन्ध्र का भेद लखाव। कामधेनु का वरण बताव ॥
चार अवस्था चार शरीरा। वाणी चारि नाम कहँ बीरा ॥
षट चक्कर को जो तुम जानौ। नाम सहित सब भेद बखानौ ॥
(योग सन्देह सागर)

२. नवल किशोरी गोरी सारी। सुघर सयानी चातुर नारी।
दिव्य वस्त अरु मधुर शरीरा। अधिक रूप छवि गहर गम्भीरा ॥
मन्द मन्द विहँसत मुसकाई। रणजीत मीत छवि कही न जाई ॥
भूषण अंग संग लाजत ऐसे। चन्द्र निकट लघु तारे जैसे ॥
(ब्रज चरित)

३. जो जीवातम सो भया, परमातम अरु ब्रह्म।
वाकी सरवर को करै पाई परै ना गम्य॥
पहुचै नावा तेज को, कोटि कोटि ही मान।
चरणदास कोइ जानही, ताको निर्मल ज्ञान॥

... ...

अनहद शब्द अपार दूर सों दूर है।
चेतन निर्मल शुद्ध देह भरपूर है॥
ताहि निः अक्षर जानि और निष्कर्म है।
परमातम तेहि मानि वही परब्रह्म है॥
सूक्ष्म शरीररु आतमा, भिन्न लखै नहि कोय।
यही जु मन की गाँठ है, खुले मुक्ति ही होय॥
(पंचोपनिषद सार)

४. सूरज मण्डल चीरिकै, योगी त्यागै प्रान।
सायुज मुक्ति सोई लहै, पावै पद निर्वान॥
काल अवधि बीतै तभी, जबै बीति सब जाय।
जोगी प्राण उतारिये, लोहि समाधि जगाय॥
काल जीति हरि सो मिलै, शून्य महल अस्थान।
आगे जिन साधन करी, तरुण अवस्था जान॥
(ज्ञान स्वरोदय)

इन उद्धरणों में संस्कृत के शब्दों का शुद्ध और उपयुक्त प्रयोग भाषा के सौन्दर्य को बढ़ा देता है। स्पष्ट है कि इस प्रकार के प्रयोग बड़े स्वाभाविक प्रतीत होते हैं।

कवि की रचनाओं में संस्कृत के शब्द तत्सम और तद्भव दोनों ही रूपों में मिलते हैं। कुछ शब्द तो प्राकृत से होकर स्वयं ही तद्भव बन गए हैं और कुछ को कवि ने अक्षरों के उच्चारण की सुविधा के लिए तद्भव बना लिया है। इस प्रकार के शब्दों में ग्यानी (ज्ञानी), प्रापत (प्राप्त), विसेष (विशेष), सबद (शब्द), औगुन (अवगुण), विनास (विनाश), परमेसर (परमेश्वर), परग्यान (परज्ञान), दोश (दोष) उल्लेखनीय हैं। सम्भवतः कवि ने इन शब्दों को बोध-गम्य और सुगम बनाने के लिए यह तद्भव रूप प्रदान किया है।

कवि की रचनाओं में संस्कृत के तत्सम शब्दों की भी प्रचुरता है। उदाहरणार्थ ऐसे शब्दों की संक्षिप्त सूची निम्नलिखित है :

दिव्य, वाणी, संयम, रन्ध्र, भूषण, जीवात्मा, ऋषीश्वर, परमेश्वर, द्वन्द्व, सर्वत्र, अजपा, हृदय, साक्षी, ज्ञान प्रकाश, अविनाशी, परमार्थ, निर्गुण, सगुण, परब्रह्म, अच्युत तथा निराश्रय।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि ने संस्कृत के बड़े सुन्दर शब्दों का उचित रूप से प्रयोग किया है। इससे भाषा-सौन्दर्य और शैली का परिमार्जन बढ़ जाती है।

खड़ी-बोली के विकासशील रूप के दर्शन हमें कबीर, दादू, नानक, सुन्दर-दास आदि कवियों के काव्य में होते हैं। सन्त कवि मलूकदास के काव्य में खड़ी-बोली का विकसित एवं परिमार्जित स्वरूप दृष्टिगत होता है। मलूकदास की भाषा एवं भावों पर उस समय का जो प्रभाव पड़ा, सो तो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से पड़ा ही, परन्तु यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उनकी खड़ी-बोली में जो परिमार्जन उपलब्ध होता है, वह बहुत-कुछ मुसलमानों के सम्पर्क और अरबी-फारसी के प्रभाव के कारण। मलूकदास से लगभग १२५ वर्ष के अनन्तर चरनदास का आविर्भाव देश की राजधानी दिल्ली-जैसे महत्त्वपूर्ण स्थल पर हुआ। राजनीतिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से दिल्ली का अपना विशेष महत्त्व है। दिल्ली निरन्तर वर्षों तक यवनों की राजनीति का केन्द्र रहा है। यह उस समय की प्रचलित अरबी और फारसीमय भाषा का ही प्रभाव है कि हमारे कवि की रचनाओं में अन्य सन्त कवियों की अपेक्षा अधिक खड़ी-बोली के शब्दों का प्रयोग हुआ है। अरबी और फारसी के जन-प्रचलित शब्दों के प्रयोग से कवि की बोली में परिमार्जन और प्रवाह का समावेश हो गया है। कवि की भाषा में खड़ी-बोली का प्रमुख स्थान निर्धारित हो गया है। मलूकदास की भाषा की तुलना में चरनदास की भाषा अधिक विकसित, सुष्ठु एवं परिमार्जित प्रतीत होती है। ऊपर कहा जा चुका है कि चरनदास का आविर्भाव मलूकदास से प्रायः १२५ वर्ष बाद हुआ। यह कवि की भाषा देखने पर ही ज्ञात होता है।

कवि की रचनाओं, 'ब्रह्म ज्ञान सागर', 'योग सन्देह सागर', 'पंचोपनिषद् सार', 'नासकेत लीला', 'अष्टांग योग', 'भक्ति सागर', 'भक्ति पदार्थ' और 'ज्ञान स्वरोदय' में खड़ी-बोली का बड़ा ही सुष्ठु और सुन्दर रूप उपलब्ध होता है। इन रचनाओं के अतिरिक्त कवि की स्फुट रचनाओं, पदों एवं साखियों में खड़ी-बोली का बड़ा सुव्यवस्थित रूप उपलब्ध होता है। इन उपर्युक्त रचनाओं में से कहीं से कोई उद्धरण ले लीजए, उसकी भाषा के परिमार्ज़ित स्वरूप

के दर्शन हो जाएँगे। कथन के समर्थन के हेतु कतिपय उद्धरण यहाँ दिये जाते हैं :

१. तुम साहब करतार हो हम बन्दे तेरे।
रोम रोम गुनहगार है बकसो हरि मेरे॥
दसी दुवारे मैल है सब गन्दम गन्दा।
उत्तम तेरा नाम है बिसरे सो अन्धा॥
गुन तजिके औगुन कियो तुम सब पहिचानो।
तुम सूँ कहा छिपाइये हरि घट की जानो॥
रहम करो रहमान सूँ यह दास तिहारो।
भक्ति पदारथ दीजिए आवागमन निवारो॥

२. दो दिन का जग में जीवना करता है क्यों गुमान।
ऐ बेसहूर गीदी टुक राम को पिछान॥
दावा खुदी का दूर अपने तु दिल सेती।
चलता है अकड़ अकड़ के ज्वानी का जोस आन॥
मुरसिद का ज्ञान समझ के हुसियार हो सिताब।
गफलत को छोड़ सुहबत साधो की खूब जान॥

३. भक्ति गरीबी लीजिए तजिए अभिमाना।
दो दिन जग में जीवना आखिर मरि जाना।
पाप पुन्न लेखा लिखैं जम बैठे थाना।
कहा हिसाब तुम देहुगे जब जाहि दिवाना।
साहब की कर बन्दगी दे भूखे दाना॥

४. भाई रे अवधि बीती जात।
अंजुली जल घटत जैसे, तारे ज्यों परभात॥
स्वास पूँजी गाँठि तेरे, सो घटत दिन रात।
साधु संगत पैंठ लागी, ले लगै सोइ हाथ॥
लोभ मोह बजाज ठगिया, लगे है तेरी घात।
शब्द गुरु को राखि हिरदया तौ दगा नहि खात॥

स्थानाभाव के कारण स्फुट-काव्य से चार पद ही उद्धृत किये गए हैं। इन पदों में खड़ी-बोली का परिमार्जित और विकसित रूप ध्यान देने योग्य है। इन चारों में से तीसरे उद्धृत उदाहरण में खड़ी-बोली का पूर्ण विकसित रूप

दृष्टिगत होता है। अब कवि की अन्य रचनाओं से खड़ी बोली के उदाहरण देना अपेक्षित है :

१. कौन कमल पर गुरु विराजै। कै प्रकार अनहद धुनि बाजै ॥
कै बाणी ह्वै अनहद तूरा। जानैगा कोई साधू पूरा ॥
तीन शून्य कहाँ चौथा शून्य। जित ही भूले पढ़ि अरु गून्य ॥
कै कहिये क्या के द्वारे। भिन्न-भिन्न कहु मेरे प्यारे ॥
जलका कोठा कीधर होय। कहाँ अग्नि का कहिये सोय ॥
ब्रह्म ज्वाल कहु कैसे आगै। किस आसन से निद्रा भागै ।।
बहत्तरि हजार आठ सौ चौंसठि नारी। इनका भेद बहुत है भारी।
(योग सन्देह सागर)

२. इड़ा पिंगला सुषमना, नाड़ी कहिये तीन।
सूरज चन्द विचारिकै, रहै श्वास लवलीन ॥
नवों द्वार को बन्ध करि, उत्तम नाड़ी तीन।
इड़ा पिंगला सुषमना केलि करै परवीन ॥
(ज्ञान स्वरोदय)

३. योग तपस्या कीजिये, सकल कामना त्याग।
ताको फल मत चाहिये, तजौ दोष अरु राग ॥
चाह मिटी सब सुख भये, रहा न दुख का मूल।
चाहूँ तौ चाहूँ यही तुम चरणन की धूल ॥
(अष्टांग योग)

४. स्वारथ में चिन्ता घनी, जो ह्वाँकर होगेह।
विना जाग की चिता में जीवत जरिहै देह ॥
आशा न दिया मैं चलै, सदा मनोरथ नीर।
परमारथ उपजै वहै, मन नहि पकड़े थीर ।।
(भक्ति पदारथ)

'योग सन्देह सागर', 'ज्ञान स्वरोदय', 'अष्टांग योग' और 'भक्ति पदार्थ' से उद्धृत उपर्युक्त उदाहरण ध्यान देने योग्य हैं। इनसे कवि की भाषा में खड़ी-बोली का क्या स्थान है, यह स्पष्ट हो जाता है। लगभग इसी प्रकार की भाषा कवि के अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध होती है।

'व्रज चरित', 'मठ की लीला', 'चीरहरन लीला', 'दान लीला' आदि श्रीकृष्णचरित-काव्यों में खड़ी-बोली के बहुत ही साधारण और निम्न उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

कवि के काव्य में खड़ी-बोली के क्रिया-पदों का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है। उपर्युक्त उदाहरणों से क्रियापदों की अच्छी सूची बनाई जा सकती है। इनके अतिरिक्त 'जाना है', 'कहता', 'सुनता', 'देखे', 'हुआ है', 'हँसी है', 'जाल है', 'करते', 'कहते' आदि अनेक क्रिया-पद उनके स्फुट साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं।

खड़ी-बोली की दृष्टि से भी कवि की रचनाओं को हम तीन विभागों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम वे रचनाएँ हैं, जिनमें खड़ी-बोली का प्रयोग बिलकुल ही साधारण और हीन रूप में हुआ। इस कोटि में कवि की कृष्ण-चरित-विषयक रचनाएँ आ जाती हैं। द्वितीय कोटि की रचनाएँ वे हैं, जिनमें कवि ने खड़ी-बोली के शब्दों तथा क्रिया-पदों का थोड़ा-बहुत प्रयोग अवश्य किया है। इस कोटि में 'ब्रह्मज्ञान सागर,' 'भक्ति सागर' आदि ग्रन्थ आ जाते हैं। तृतीय कोटि की रचनाओं में खड़ी-बोली का परिष्कृत रूप उपलब्ध होता है। इस कोटि में गिनी जानेवाली रचनाओं में 'योग सन्देह सागर,' 'अष्टांग योग' तथा 'ज्ञान स्वरोदय' आदि आ जाती हैं। इसके अतिरिक्त कवि की स्फुट साखियाँ और पद भी इसी कोटि में आ जाते हैं।

गरीबदास

गरीबदास जाति के जाट और छुड़ानी (रोहतक) के निवासी थे। इनका जन्म-संवत् १७७४ वि० माना जाता है। यह सन्त चरनदास के सम-कालीन, कबीर के बड़े भक्त थे। डॉ० रामकुमार वर्मा ने अपने आलोचनात्मक इतिहास में लिखा है कि कबीर की रचना की भाँति गरीबदास की रचना भी बहुमुखी है। भाषा के सम्बन्ध में इन्होंने बड़ी स्वतन्त्रता ली है। परन्तु डॉक्टर वर्मा ने यह संकेत नहीं किया कि इनकी भाषा कौन-सी है। यहाँ हमारा यही ध्येय है कि उनकी भाषा का रूप स्थिर करें। गरीबदासजी की भाषा प्रमुख रूप से अवधी है। उनकी अवधी का रूप खड़ी-बोली से बहुत अंशों में प्रभावित है। गरीबदास की अवधी अन्य सन्तों की काव्यभाषा अवधी की तुलना में अधिक परिष्कृत और परिमार्जित है। उदाहरणार्थ यहाँ कतिपय पद दिये जाते हैं:

(१) मन मगन भया जब क्या गावै ॥
ये गुन इन्द्रीदमन करेगा, वस्तु अमोली सो पावै ॥

तिरलोकी की इच्छा छाडै, जग में बिचरै निर्दावै ॥
उलटी सुलटी निरति निरन्तर, बाहर से भीतर लावै ॥
अधर सिंहासन अविचल आसन, जहाँ सुरति ठहरावै ॥
त्रिकुटी महल में सेज बिछी है, द्वादस अन्दर छिप जावै ॥
अजर अमर निज मूरत सूरत ओअं सोहं दम ध्यावै ॥
सकल मनोरथ पूरन साहिब, ब्हुरि नहीं मौजल आवै ॥
गरीबदास सत्पुरुष विरेही, साचा सतगुरु दरसावै ॥

(२) कैसे हिन्दू तुरक कहाया। सबही एकै द्वारे आया ॥
कैसे बाह्मन कैसे सूद्रं। एकै हाड़ चाम तन गूदं ॥
एकै बिदं एक भग द्वारा। एकै सब घट बोलन हारा ॥
कौम छत्तीस एक ही जाती। ब्रह्मबीज सबकी उतपाती ॥
एकै कुल एकै परिवारा। ब्रह्मबीज का सकल पसार ॥
ऊँच नीच इस विधि है लोई। कर्म कुकर्म कहाकै रोई ॥
गरीबदास जिन नाम पिछाना। ऊँच नीच पद ये परमाना ॥

इन पंक्तियों में उनकी भाषा खड़ी-बोली से प्रभावित अवधी है। कवि की भाषा में खड़ी-बोली का बड़ा विकासशील प्रिय रूप दिखाई देता है। उपर्युक्त दो उद्धरणों में खड़ी-बोली की छाया विद्यमान है। अब निम्नलिखित उद्धरण देखिए :

(१) दीन के दयाल, भक्ति विर्द दीजिए।
खाना जाद गुलाम, अपन कर लीजिए ॥
खाना जाद गुलाम, तुम्हारा है सही।
मिहरबान महबूब, जुगन जुगपत रही ॥
बाँदी जाद गुलाम, गुलाम गुलाम है।
खडा रहै दरबार, सु आठो जाम है ॥
सेवक तलबदार, तुम्हारे दर कूकही।
औगुन अनत अपार, परी मोहि चूकही ॥
मैं घर का बन्दाजादा, अरज मेरी मानिये।
कहत दास गरीब अपने कर जानिये ॥

(२) सुनिये सन्त सुजान, गरब नहिं करना रे ॥
चारि दिनाँ की चिहर बनी है, आखिर तोकूँ मरना रे ॥
तू जाने मेरी ऐसी निभेगी, हरदम लेखा भरना रे।

खाय ले पी ले बिलस ले हंसा, जोरि जारि नहि धरना रे ॥
दास गरीब सकल में साहिब, नहीं किसी सूँ अड़नारे ॥

(३) देवही नही तौ सेव किसकी करूँ,
किसे पूजूँ कोई नहिं दूजा ॥[१]

(४) आदि सनातन पंथ हमारा।
जानत नाँहीं यह संसारा ॥[२]

इन उपर्युक्त पदों की भाषा खड़ी-बोली के बहुत निकट है। इन पदों को पढ़ने से यह नहीं प्रकट होता है कि हमारा कवि खड़ी-बोली का कवि नहीं है।

खड़ी-बोली की रचना करते हुए कवि ने अरबी-फारसी के शब्दों का प्रचुर प्रयोग किया है—गरब, चिहर, आखिर, भरदाने, बलाय, कूच, बदी,[३] दरीबा, खूब, अजब, महबूब, हक, हलाल, रब, अलह, रहमान, रमजानी, खूनी,[४] गुलजार, परवान, खानाजाद, गुलाम, मिहरबान, महबूब,[५] बादी, जाद, गुलाम, दरबार, तलबदार, चूक, अरज, चुगली, अवल, यकीन, जहाज,[६] मुकाम, सुवान, अदली, अदल, राज, बादसाही, गारतगोरा।[७]

कवयित्री सहजोबाई

सहजोबाई डेहरा की निवासी और सन्त चरनदास की समकालीन थीं। सहजोबाई की भाषा ब्रज है। उनके काव्य में लगभग सभी क्रियाएँ ब्रजभाषा की प्रयुक्त हुई हैं। उदाहरणार्थ एक पद प्रस्तुत है :

सठ तजि नाँव जगत संग राचो।
जेहि कारन बहु स्वाँग कछे है, चौरासी तनधरि धरि नाचो।
गर्भ माँहि जे जनम कियो थे, एकहुँ बार भयो नहि साचो ॥
स्वारथ ही को उठि उठि धावै, राम भजन परमारथ काचो।
सन्तन की टकसाल चढ़ो ना, गुरु की हाट कबहुँ नहि जाचो ॥

---

१. गरीबदास की बानी, पृ० ११३।
२. वही पृ० ११४।
३. सन्तबानी संग्रह—भाग २, पृ० १९५।
४. वही ,, पृ० १९६।
५. ,, ,, पृ० १९७।
६. ,, ,, पृ० १९८।
७. ,, ,, पृ० १९९।

जम द्वारे की लाज न मानी, नरक अगिन की सहि सहि आँचो।
चरनदास कहै सहजोबाई, हरि की सरन बिना नहि वाचो॥

इस पद की प्रायः सभी क्रियाएँ ब्रजभाषा की हैं। कवयित्री ने इसी प्रकार अन्य क्रियाओं का प्रयोग किया है, जो ब्रजभाषा की ही हैं। उदाहरण वेलवीडियर प्रेस से प्रकाशित उनकी बानी से प्रस्तुत किये जाते हैं:

कीन्ही, दीन्ही, दियौ, उरझायौ, दिखायौ, जान्यौ, गही, थाकी, बनायौ, धरयौ, भयौ, कियौ, काढ़ा, लुकानी, बिसरी, पसारी, जनम्यौ, मिटावै, तिरावैं, पलटै, पिछानू, हुलसतहै, करूँगो, उपजैगी, करिहौ, आवैंगे, खलिहै, पैहै, लखाऊँ, समझौगो, रहन पावै, पैये।

कवयित्री ने खड़ी-बोली की क्रियाओं और सर्वनामों का स्थान-स्थान पर प्रयोग किया है, यथा—तुम्हारो, तुम, तुमको, हमारो, हम, हमको। खड़ी-बोली के प्रयुक्त क्रिया-पदों के उदाहरण—हुए, हुई, गई, होगी, दीजिए, कीजिए, किये हैं, गये हैं, आये हैं।

कवियित्री ने अपने 'सहज प्रकाश' में संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी प्रयोग किया है। इन प्रयोगों से कवियित्री की भाषा आकर्षक और प्रभावशाली बन जाती है। इष्ट, अग्नि, धर्म, भक्ति, आनन्द, दोष, दृष्टि, सत्य, निर्विकार, निर्भय, निराकार, ब्रह्म, जीव, जगत, कर्म, मुक्ति आदि इसी प्रकार के शब्द हैं, जिनका प्रयोग अनेक बार हुआ है। सहजोबाई ने संस्कृत के तद्भव शब्दों का प्रयोग भी अपनी भाषा में अनेक स्थल पर किया है। उदाहरणार्थ ये शब्द हैं, आसा, सेस, महेसुर, कारन, निस, मनुष्र, उतपति, दिष्टि, रिच्छक, अविनासी, निर्गुन, ओअ, निरमल, मारग, पदारथ, छिया, योग, किरन, बानी, सिरीपति, ब्रह्मण्ड, निर्वान, घोर, परताप, परनाम, सब्द, स्रवन।

कवयित्री की भाषा में अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। दिल्ली में दीर्घ-काल तक रहने के कारण वहाँ की बोली का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। 'सन्तबानी संग्रह' तथा 'सहज प्रकाश' से खोजकर कुछ इस प्रकार के शब्दों की सूची दी जाती है—खबर, गुलजारी, अरज, नूर, हजूर, खुशी, साहब, ख्वार, निसानी, खजानों, गरीब, बरबाद, नूर आदि।

दयाबाई

दयाबाई चरनदास की शिष्या और सहजो की समकालीन थीं। इनकी काव्य-भाषा ब्रजभाषा है। उदाहरण:

ज्ञान रूप को भयो प्रकास। भयो अविद्या तम को नास॥
सूझ परयो निज रूप अभेद। सहजै मिटयौ जीव को खेद॥
जीव ब्रह्म आँतर नहिं कोय। एकै रूप सर्व घट सोय॥
जग विवर्त सूँ न्यारा जान। परम अद्वै रूप निर्वान॥

कवयित्री की भाषा में संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का प्रचुरता के साथ प्रयोग हुआ है। बेलवीडियर प्रेस से प्रकाशित 'दयाबाई की बानी' के किसी पृष्ठ से सरलता के साथ अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। पृष्ठ पन्द्रह से संस्कृत के निम्नलिखित शब्दों को उद्धृत किया जाता है—विधि, नाथ, सनाथ, भयमोचन, सर्वमय, अस, व्यापक, अचल, अखण्ड, दयासिन्धु, ब्रह्मण्ड, ब्रह्म, विसम्भर, विस्वरूप, बलवीर, बोध, बाधाहरन, केसव, कृस्न, कृपाल, पारब्रह्म, परमात्मा, पुरुषोत्तम, पीताम्बर, अजर, अमर, अविगत, अमित, अनुभय, अलख, अभेव, अविनाशी, आनन्दमय, अभय, आनन्द, देव, मकसूदन, मदन, गिरिध, समरत्थ, सहजहि, सबल, निःकंलक, नरसिह, निरंजन, अलख, अभेव, निरभय, मगन, नित देव।

कवयित्री की भाषा में अरबी-फारसी के शब्दों का भी प्रयोग यदा-कदा हुआ है। यथा—बन्दगी, बिस्तर, कबूली, तकसीर[1], कसाई[2], महकत, मेहर, मिहरबान, नजर[3], दरबार, जहाज, गरीब नेवाज, मेहर, अरज, साहिब[4]।

तुलसी साहब (हाथरस वाले)

तुलसी साहब का आविर्भाव ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय में हुआ था। यह हाथरस (अलीगढ़) के निवासी थे। इनकी 'शब्दावली' में भाव की अनेकरूपता दृष्टिगत होती है। उसमें संस्कृत, राजस्थानी, पंजाबी, फ़ारसी, अरबी और खड़ीबोली के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। 'रत्नसागर' और 'घटरामायण' की भाषा में पूर्वी प्रभाव बहुत स्पष्ट है। 'शब्दावली' में उपर्युक्त अनेक प्रकार की भाषाओं का प्रभाव दिखाई देता है।

(१) प्रथम बन्द स्वामी सो सतगुरु प्रनामी। अगम पन्थ धामी सो वारं न पारं।
परमअमूलं सो महिमा अतूलं। कटे घोर मूलं अनन्तं अपारं॥[5]

---

१. दयाबाई की बानी, पृ० १७।
२. वही, पृ० १८।
३. ,, पृ० १९।
४. ,, पृ० १६।
५. घटरामायण—द्वितीय भाग, पृ० १९३।

(२) अली आत्मरूपं अकासं सरूपं। रबी भास भूपं अनन्तं अनूपं ॥
निराकार कारं भई जोति जारं। लई विस्वभारं सो भारं सम्हारं ॥[१]

राजस्थानी शब्दावली प्रधान पद

वारी सहेली प्यारी, आली मैं तो थारे संग वाली।
महाने तो भेद दीजै लारे लीजे, प्यारे से मिलन नित नित कीजै।
जिवड़ो काज म्हारे सीझे, पिया के महल चेत चाली।
अलख लखासी सुरत थारी दासी, पासी अविनासी पूरापद बासी ॥[२]

पंजाबी शब्दावली प्रधान पद

यह साँनूँ साडे बिच नाल न पौदा।
तैडी जटी दो जोर ना जाओदा।
मैडे पत पिउ परचे पाओदा, सब सतन की सुरत भाओदा ॥
सानू गुर पूरा पार दिखाओन्दा, मैडी आद नजर घर आओन्दा ॥[३]
तुलसी तत मत बिच चाओन्दा, मेरी सुरत नाम गुन गाओन्दा ॥

अरबी-फारसी शब्दावली से प्रभावित भाषा के उदाहरण

(१) तुलसी खलक कुल ख्याल है, आसिक मुहब्बत कर सही।
खोजो मुहम्मद दिल रहम, जिस इस्क से आलम हुआ ॥
तुलसी नबी निरखै नहीं, जहं लग मुसल्लम है नहीं।
रब रूह मरहम ना हुआ, रब देख अन्दर है सही ॥[४]

(२) बन्दे तलासी में रहे। बातिल मुरीदी जिन करी ॥
महरम जिन्हें आसान है। मुस्किल भुकरवै पर अमल ॥
कारिम करम बखसी करै। दिल के रहम रहबर मिलै हैं ॥
तुलसी अधर पै लै चढ़ै। मुरसिद मंजिल फाजिल फजल[५] ॥

खड़ी-बोली प्रधान भाषा

(१) कोइ ज्ञान से ब्रह्म बखाना है, नहि ब्रह्म के भेद को जानता है ॥
कागदों की साख से भाख कहै, लख ब्रह्म का भेद न पावता है ॥[६]

---

१. पटरामायण—द्वितीय भाग, पृ० १९४।
२. शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० २२६।
३. वही, पृ० २२८।
४. घटरामायण, प्रथम भाग, पृ० ८४।
५. शब्दावली, प्रथम भाग, पृ० ५४।
६. वही, पृ० ४३।

(२) मेंढक अधम कहै हंस से, यह कूप से भारी कहा।
हंसा कहे दरियाव की गति, जन्म से ह्वाही रहा॥
दोनों में यह प्रतिवाद उत्तर, परसपर होता रहा।
हिरदे कठिन मन मेढ़का, जड़ टेक में अपनी रहा।[१]

क्रिया-पदों की अनेकरूपता

भाषा की सुनिश्चितता का आधार शब्दों की अपेक्षा क्रिया-पदों पर होता है। परन्तु तुलसी साहब की भाषा में क्रिया-पदों की विभिन्नता सर्वत्र उपलब्ध होती है। 'रत्नसागर' की भाषा तुलसी साहब के अन्य ग्रन्थों की भाषा से प्रौढ़ है, परन्तु इसमें भी पूर्वी और पश्चिमी क्रिया-पदों का मनमाना प्रयोग मिलता है। क्रिया-पदों की यह अनेकस्वरूपता निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जाती है :

१—सब आदि अन्त हवाल तुलसी, बरन हिरदै को कहौ।[२]
२—जल बुंद पाँत पचीस बस, कस आप तन बन्धन सह्यौ।[३]
३—भय भव भार अवार अनीता। कर्म काल संग पाल्पौ प्रीता।[४]
४—आदि अकास सब्द से आया। ऐसे तुमने भाख सुनाया।[५]
५—सुनौ सतसंग का रंग कहौं, सो उत्तंग अमोल जो मोल न आवै।
कहैं सबही सन्त पकारि, बिना सतसंग नहीं कछु आवै।[६]
६—किये तन काज की लाज करौ, सो बनाइ कै साज ले तोहि पठायौ।
ताको बिसरा दियौ मति मन्द, जगत के फन्द ये बन्द बधायौ॥[७]
७—बाहर भेद नहीं कछु गावा, बेद कहै हम भेद न पावा।[८]
८—अडवड आठ पहर अरथाइलो, अष्ट कँवल को धर ध्यानी।
सुरत महाबाली आली हरख पठाइलो।[९]
९—भामिन भमन भमन मन भइलो, दस दिस देखि दृगन दरसइलो।[१०]

---

१. रत्नसागर, पृ० ७३।
२. वही पृ० १।
३. ,, पृ० १।
४. ,, पृ० ७।
५. ,, पृ० १३।
६. 'घटरामायण', प्रथम भाग, पृ० १२५।
७. वही पृ० १२५।
८. ,, पृ० १३५।
९. शब्दावली, द्वितीय भाग, पृ० १५२।
१०. वही पृ० १५२।

१०—मैंडे पत पिउ परये पाओंरा, सब सन्तन की सुरत भ ओन्दा।
सानू गुर पूरा पार दिखाओन्दा, मैडी आद नजर घर ओओदा ॥[१]

इन उद्धरणों में क्रिया-पदों के विकृत रूप दिखाई देते हैं।

सन्तों के काव्य का अध्ययन कर लेने के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सन्तों की अभिव्यंजना-शक्ति, वर्ण-विन्यास, शब्दों की पहचान, भाषा की भावग्रहता सराहनीय है। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि सन्तों की भाषा भावानुकूल है। अब यहाँ पर हम एक-एक विषय को लेकर उस पर विचार करेंगे। सर्वप्रथम है अभिव्यंजना-शक्ति। मनुष्य का हृदय एवं मस्तिष्क विचारों एवं भावों का स्रोत-स्थल है। मानव की असंख्य मनोवृत्तियों में दो प्रधान वृत्तियाँ हैं—अनुकरण एवं अभिव्यंजना। प्रथम मानव के विचारों का सृजन करती है और द्वितीय उन्हें स्थानान्तरित करती है। आत्माभिव्यंजना की अभिलाषा ने ही भाषा को जन्म दिया। भाषा पर विचार करते समय हमारी दृष्टि दो बातों पर जाती है। प्रथम यह कि भाषा भावों की अभिव्यंजना में कितनी समर्थ हुई है और उसका प्रकाशन कितनी सुन्दर रीति से हुआ है। यहाँ पर यह उल्लेख करना आवश्यक है कि सन्तों की भाषा उनके विचारों का वहन करने में पूर्ण समर्थ रही है। प्रेम, विरह, उपदेश, नश्वरता, क्षणभंगुरता, चेतावनी, अनुभूति आदि की अभिव्यंजना सन्तों ने अपनी भाषा द्वारा ही की। सन्तों की भाषा में अद्भुत शक्ति है। एक ही भाव को लेकर उन्होंने शतशः साखियों की रचना की। यह तथ्य उनकी अद्भुत अभिव्यंजना शक्ति का द्योतक है। कबीर, दादू और नानक से लेकर तुलसी साहब तक कोई ऐसा कवि नहीं हुआ, जिसके काव्य से उसकी अभिव्यंजना-शक्ति की हीनता प्रकट होती है। इन सन्तों के काव्य से उनकी अभिव्यंजना की अद्भुतता हर स्थान पर प्रकट होती है।

काव्य में भावों का यथातथ्य चित्रण आवश्यक है। इसके लिए शब्द-शक्तियों और अलंकारों की आवश्यकता होती है। शब्द-शक्तियों में लक्षणा (जिसके अन्तर्गत लोकोक्तियाँ और मुहावरे आ जाते हैं) और व्यंजना का विशेष महत्त्व है। लक्षणा भावों की अभिव्यंजना की अद्वितीय सामर्थ्य रखती है। यही काव्य के चमत्कार का सृजन करते हैं। अलंकार सौन्दर्य की पुष्टि करते हैं। सन्तों के काव्य में लक्षणा का प्रयोग प्रचुर रूप में हुआ है और अलंकार भी उनकी भावाभिव्यंजना के माध्यम हैं।[२]

---

१. शब्दावली, द्वितीय भाग पृ० २२८।
२. देखिए 'सन्तों की अप्रस्तुत योजना' परिच्छेद।

वर्ण-विन्यास

काव्य-भाषा में सुन्दर वर्णों का होना आवश्यक है। वर्ण-विन्यास का कोमलता, माधुर्य और रस से परिपूर्ण होना आवश्यक है। सुन्दर वर्ण-विन्यास के कारण ही मधुर, कोमलकान्त पदावली की योजना होती है। अच्छे वर्णों से युक्त भाषा नाद-सौन्दर्य की सृष्टि करती है। छन्द, तुक, गति, यति और लय नाद-सौन्दर्य के साधन हैं। संगीतात्मक कविता चिरजीवी भी होती है। जनता के हृयय में ये लोकोक्तियाँ निवास करती हैं। वर्ण-विन्यास माधुर्य की सृष्टि करते हैं। वर्ण-विन्यास भावानुकूल और रसानुकूल होना चाहिए। सन्तों के काव्य में वर्ण की रचना भाव एवं रस के अनुकूल हुई है। सन्त-साहित्य में माधुर्य गुण की प्रधानता है। यह सत्य है कि सन्त-कवियों ने वर्ण-विन्यास के ज्ञान के लिए काव्य-शास्त्र का अध्ययन नहीं किया था, फिर भी उनका प्रतिपादन शास्त्रों के अनुकूल मिलता है। आचार्य मम्मट का माधुर्य-गुण की दृष्टि से मत है कि :

मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा॥

अर्थात् टवर्ग वर्जित स्पर्शवर्ण (क से लेकर म तक के २५ व्यंजन जो वर्णमाला में पठित) है। वे अग्रभाग में अपने-अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण (ङ, न, ण, न, य) से युक्त हों तथा र और ण ये दोनों अक्षर (ह्रस्व स्वर के बीच में) और समास का अभाव अथवा छोटे-छोटे समस्त पदों का व्यवहार और मधुरता युक्त करना माधुर्य गुण की व्यंजना होती है। काव्य-शास्त्र से अपरिचित होते हुए भी सन्त-कवियों की रचनाओं में माधुर्य की व्यंजना हुई है। वर्ण-विन्यास की उत्तमता निम्नलिखित उद्धरण से भी प्रकट होती है :

हरि मेरा पीव भाई हरि मेरा पीव।
हरि बिन रह न सकै मेरा जीव॥
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया।
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया॥
किया सिंगार मिलन के ताईं।
काहे न मिलौ राजाराम गुसाईं॥
अबकी बेर मिलन जो पाऊँ।
कह कबीर भौजाल नहीं आऊँ॥

कवि ने इस पद में दुरूह वर्णों का प्रयोग नहीं किया। बहुरिया, लहुरिया भाव-सौन्दर्य और ध्वनि-माधुर्य में हर प्रकार से सहायक हैं।

सन्तों ने भावों के अनुकूल ही वर्णों का चुनाव किया है। वीर रस के प्रसंग में उन्होंने पुरुषावृत्ति वर्णों का प्रयोग किया है, जो वीर रस के लिए सर्वथा उचित और सहायक प्रतीत होता है :

तडफडै सूर नीसान धाई पडं, कोट की वोट सब छोडि चालै।
स्याम के राम कौ लोट अरु परिहवै, निकसि मैदान में चोट घालै॥
कडकडे वीर गजराज हय हड़हडे, घडहडै धरनि ब्रह्मण्ड गाजै।
झलहलै सार हथियार अति बडहडै, देविता दूरि झकभूरि भाजै॥
तुपक तरवारि अरु सेल टकटूक ह्वै, बांण की ताण चहुँ फेर होई।
गहर धमसांण में कहर धीरज धरै, हहरि भाजै नहीं सुभट होई॥
पिसुन सब पेलि झड़झेलि लडै, मर्द को भारि करि गदे भेले।
पंच पच्चीस रिप रसिकरि निर्दलै, सीस मुइ मेल्हि कै कमध वेलै॥
अंगम को गति करै दृष्टि उलटो धरे, जीति संग्राम निज धाम आवै।
दास सुन्दर कहै मौज मोहिं लंह, रीझि हरि राइ दरसन दिखावै॥

इसी प्रकार एक पद में वर्ण-विन्यास और पठनीय है। यहाँ कवि ने वर्ण-विन्यास द्वारा वातावरण और सजीव दृश्य समक्ष प्रस्तुत कर दिया है। यह सत्य ही है कि वर्णनात्मक शब्द-योजना से भावाभिव्यक्ति ही में स्वाभाविकता और प्रबलता का समावेश हो जाता है। निम्नलिखित उद्धरण में वातावरण की गम्भीरता और भावानुकूल वर्ण-विन्यास ध्यान देने योग्य है :

समुझि बूझि रन चढ़ना साधो, खूब लड़ाई लड़ना है॥
दम दम कदम परै आगे को, पीछे नाँहि पछरना है।
तिलतिल घाव लगै जो तन में, खेती सेती क्या टरना है॥
सबद खैंचि समसेर जो करि, उन पाँचों को धरना है।
काम क्रोध मद लोभ कैद करि, मन कर ठौरे भरना है॥
खड़ा रहै मैदान के ऊपर, उनकी चोट सँभरना है।
आठ पहर असवार सुरत पर, गाफिल नाहीं परना है॥
सीस दिहा साहिब के ऊपर, किसके डेर अब डरना है।
पलटू बिना रुण्ड के ऊपर, अब क्या दूसर करना है॥

सारांश यह कि सन्तों का वर्ण-विन्यास भावानुकूल, प्रसंगानुकूल और अवसरानुकूल होता है।

शब्दों की पहचान

शब्दों की पहचान, शब्द-संचय और प्रसंगानुकूल शब्दों के निर्वाचन की शक्ति केवल कुशल कवियों को ही होती है। यह ईश्वर-प्रदत्त, प्रकृति से उपहार रूप में सम्प्राप्त प्रतिभा और शक्ति के आधार पर ही सम्भव होता है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक फ़्लावर्ट का मत है कि "आप एक ही संज्ञा द्वारा अपने विचारों को व्यक्त कर सकते हैं, एक ही क्रिया उस विचार को प्रगतिशील बना सकती है" और केवल एक ही विशेषण उसकी विशेष व्याख्या कर सकता है। यहाँ पर विद्वान लेखक ने भी शब्द-चुनाव पर बल दिया है। कवि का शब्द-चुनाव एवं शब्द-ज्ञान कवि के अध्ययन एवं मनन पर निर्भर होता है। कवि अपने शब्द-भण्डार से ही भावों की अभिव्यक्ति के लिए शब्दों को ग्रहण और निर्वाचित करता है। इस कार्य में प्रतिभा उसकी सहायता करती है। विद्वानों का कथन है कि भावों के अनुसार शब्द-चयन करनेवाला कवि ही वस्तुतः महान कलाकार बनता है। एक ही अर्थ के द्योतक अनेक पर्यावाची शब्द हुआ करते हैं, परन्तु उनमें से कौन अधिक भावों का वहन करनेवाला, प्रभावोत्पादक तथा मार्मिक होगा, इस चयन का दायित्व कवि को ही करना होगा।

सन्तों ने अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए अर्थ और वातावरण को यथातथ्य रूप में हृदय एवं मस्तिष्क पर अंकित कर देनेवाले शब्दों का ही प्रयोग किया है। चाहे वह रहस्यात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति हो, या उपदेशात्मक प्रवृत्ति की या प्रबोधनात्मक चेतावनी की, सर्वत्र शब्द-संचय देखने योग्य और प्रभावशाली हो। उदाहरणार्थ यहाँ कतिपय उद्धरण प्रस्तुत हैं :

मन फूला फूला फिरै, जगत में कैसा नाता रे।
माता कहै यह पुत्र हमारा, बहिन कहै बिर मेरा।
भाई कहै यह भुजा हमारी, नारि कहै नर मेरा॥
पेट पकरि के माता रोवै, बाँह पकरि के भाई।
लपटि झपटि के तिरिया रोवै, हंस अकेला जाई॥
जब लगि जीवै माता रोवै, बहिन रोवै दस मासा।
तेरह दिन तक तिरिया रोवै, फेर करै घरबासा॥
चार गजी चरगजी मँगाया, चढ़ा काठ की घोड़ी।
चारो कोने आग लगाया, फूँक दियो जस होरी॥
हाड़ जरै जस लाह कड़ी को, केस जरै जस घासा।
सोना ऐसी काया जरिगइ, कोइ न आयो पासा॥

घर की तिरिया ढूँढ़न लागी, ढूँढि फिरी चहुँ देसा ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, छाडौ जग की आसा ।।

कबीर के समान ही सुन्दरदास भी शब्द-योजना में बड़े कुशल थे। एक उदाहरण पठनीय है। इसमें शब्द-चयन पर ध्यान दीजिए :

प्रीति सी न पाती कोऊ प्रेम से न फूल और ।
चित्त सों न चन्दन सनेह सों न सेहरा ।।
हृदय सों न आसन, सहज सों न सिहासन ।
भाव सी न सेज और सून्य सों न गेहरा ।।
सील सों न स्नान और ध्यान सो न धूप और ।
ज्ञान सों न दीपक अज्ञान तम कहरा ।।
मनसी न माला कोऊ सोहं सो न जाप और
आतम सों देव नाहिं देह सों न देहरा ।।

इन दोनों पदों में कवियों में उच्चारण-ध्वनि और उनके अर्थ-साम्य पर ध्यान रहा है। इन्हीं शब्दों के समुचित प्रयोग के कारण, उच्चारण शब्द और उसके अर्थ को बढ़ा देते हैं। सन्त में स्वर और व्यंजनों के पहचानने की शक्ति है। कबीर के पद से संसार की क्षणभंगुरता स्पष्ट और घनीभूत हो जाती है। सन्त सुन्दरदास इसी प्रकार शब्दों के निर्वाचन में खूब सफल हुए हैं। इसीलिए उनकी भाषा में इतना प्रवाह और गति है। काव्य-भाषा में शब्दों के प्रयोग दो रूपों में होते हैं—समासयुक्त और समासहीन। सन्तों ने समासहीन शब्दों को ही ग्रहण किया है। कारण कि इसमें भावों को अभिव्यक्त करने की स्वतन्त्रता एवं स्वच्छन्दता रहती है। सन्तों ने काव्य के उपयुक्त भाषा को बनाने एवं अन्त्यानुप्रास शुद्ध रखने के लिए शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा भी है। उदाहरणार्थ विन्दु को व्यंद, सिंह को स्यंघ, उत्तम को उत्यम, शान्ति को स्वाति, साबित को स्याबति, भिक्षा को भिष्या, विदेस को विदेश, पुरुष को पुरिष, मित को मीत के रूप में व्यक्त किया है। कभी-कभी शब्द इतने तोड़-मरोड़ दिए गए हैं कि उनका वास्तविक रूप पता लगाना कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ :

रे दिल खोजि दिलहर खोजि, नाँ पीर परेसानी माँहि ।
महल माल अजीज औरति, कोई दस्तगीरी क्यूँ नाँहि ।।
पीर, मुरीदाँ काजियाँ, मुलाँ अरु दरवेस ।
कहाँ थे तुम्ह किनि किये, अकलि है सब नेस ।।

कुरानाँ कतेबाँ अस पढि पढि, फिकरि यानहि जाइ।
टुक दम करारी जे करे, हाजिराँ भूर खुदाई॥

सन्तों ने भाव के अनुकूल भाषा का प्रयोग किया है। इसीलिए उनकी अभिव्यक्ति में प्रवेग और प्रेषणीयता विद्यमान हैं। उनकी प्रतिभा का परिचायक एक और पक्ष है। उन्होंने विभिन्न भाषाओं के शब्दों का प्रयोग भी कुशलता के साथ किया है। इन सबके अतिरिक्त उनकी वाक्य-योजना में प्रतीका के प्रयोग भी मिलते हैं। सन्तों ने लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रचुरता के साथ प्रयोग किया है। यहाँ पर कुछ सन्तों की भाषा से लोकोक्तियों और मुहावरों के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

कबीर के साहित्य में लोकोक्तियों और मुहावरों का बड़ा सुन्दर प्रयोग मिलता है। उदाहरणार्थ :

१—आछे दिन पाछे गये, गुरु से किया न हेत।
अब पछितावा क्या करै, जब चिडिया चुग गई खेत॥

२—काल्ह करै सो आज कर, आज करै सो अब्ब।
पल में परलै होयगी, बहुरि करेगा कब्ब॥

३—कबीर थोड़ा जीवना माड़ै बहुत मण्डान।
सबहिं उभा में लगि रहा, राव रङ्क सुल्तान॥

४—पाचों नौबति वाजती, होत छतीसो राग।
ते मन्दिर खाली पडे, बैठन लागे काग॥

५—पिय का मारग कठिन है, खाँडा हो जैसा।
नाचन निकसी बापुरी, फिर घूँघट कैसा॥

६—पिया का मारग सुगम है, तेरा चलन अवेड़ा।
नाच न जानै बापुरी कहै आँगना टेढ़ा॥

७—पीया चाहे प्रेम रस, राखा चाहे मान।
एक म्यान में दो खडग, देखा सुना न काँन॥

इसी दृष्टि से 'सन्तबानी संग्रह', भाग १, पृ० ३१ की साखी १, साखी २, पृ० ३५ की साखी ४, पृ० ४५ की साखी ६, पृ० ४७ की ५ साखी, पृ० ६३ की ८ एवं ४ साखी पठनीय हैं। सन्त मलूकदास के साहित्य में लोकोक्तियों एवं मुहावरों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। उदाहरणार्थ :

१.	पूजी मन की आसा	मलूकदासजी की बानी,	पृ० २।
२.	सुई के नाके सुमेर चलावै	वही	पृ० २।
३.	सूखे नाव चलावै	वही	पृ० २।
४.	मलमूत्र के कीरा	वही	पृ० २।
५.	ताती बाब न लाइ	वही	पृ० २।
६.	हरि समान दाता कोउ नाही	वही	पृ० २।
७.	नरदेही दिन दोय की	वही	पृ० ३।
८.	पाँव पसारे सोवै	वही	पृ० ४।
९.	तीतर पर छूटे बाज	वही	पृ० ६।
१०.	पीर है गाज	वही	पृ० ६।
११.	रंग मतवाला	वही	पृ० ६।
१२.	आठ पहर यों झूमते ज्यों माता हाथी	वही	पृ० ७।
१३.	दीन न भाखौ	वही	पृ० ८।
१४.	हिय जुड़ाई	वही	पृ० ९।
१५.	जन्म के काटे फन्दा	वही	पृ० ९।
१६.	आसा तृष्ना सब घट व्यापी	वही	पृ० १०।
१७.	औंधी खोपरी	वही	पृ० १०।
१८.	कपट को भाला लिये	वही	पृ० ११।
१९.	जग में अमर न देखा कोई	वही	पृ० १२।
२०.	नित उठि पेट नचावै नाच	वही	पृ० १३।
२१.	फूले फिरे	वही	पृ० १३।
२२.	बूड़े बिन पानी	वही	पृ० १८।
२३.	पानी परहिन भाई	वही	पृ० १९।
२४.	अस जीने कौन बड़ाई	वही	पृ० १९।
२५.	आप भले तो सबहि भलो	वही	पृ० २०।
२६.	काटि जम की फासी	वही	पृ० २३।
२७.	गन्दा अमल कमाया	वही	पृ० २३।

अब सन्त सुन्दरदास के साहित्य से कतिपय लोकोक्तियाँ और कहावतें उदाहरणार्थ प्रस्तुत की जाती हैं :

	लोकोक्ति	'सुन्दर विलास अंग'	छन्द
१.	गुरु बिन ज्ञान जैसे अँधेरे में आरती	१	१६
२.	सीस धुन्यो है	१	२०

३. तेल सौं भिजोइ करि चीथरा लपेट राखे कूता की पूँछ सूधी होत नहीं तबहूँ	२	११
४. कहत कहत दिन बीत गए सबहूँ	२	७
५. वालू माँही तेल नहि निकसत काहू विधि	२	८
६. पाथर न भीजै बहु बरषत घन है	२	८
७. खोसि खोसि खाहिगे	२	९
८. चंचल चपल माया भई किन किन की	२	१०
९. देखत ही देखत बुढ़ापौ दौरि आयौ है	२	१०
१०. जो गुर खाय सो कॉन विंधावै	२	१९
११. तू दमरी दमरी करि जोरै	२	२५
१२. तोरि ही चातुरी तोहि लै बोरै	२	२५
१३. जनम सिरानौ जाइ	२	१९
१४. तेल जर्यौ अरु बुझी जब बाती	२	३
१५. भाग्य लिख्यौ तितनौही लहैगो	३	७
१६. तेल घटि गये जैसे बाती बुझात है	३	१८
१७. तृष्णा दिन ही दिन होत नई है	५	१

भाषा की भावग्रहता

भाषा की भावग्रहता अत्यन्त आवश्यक तत्त्व है। कवि और पाठक के मध्य सम्बन्ध सूत्र स्थापित करने में भाषा सबसे बड़ा माध्यम है। भाषा दो प्रकार से भाव ग्रहण करती है। एक तो भाषा स्वयं ही ऐसी शक्ति से सम्पन्न होती है, जिसमें प्रांजलता और गतिशीलता विद्यमान रहती हैं। दूसरी भाषा में वाह्याडम्बर होता है, उसका प्रवाह अवरुद्ध-सा होता है, उसमें शब्दों को बलपूर्वक रखा-सा प्रतीत होता है। इस कोटि की भाषा को भावहीन भाषा की संज्ञा दी जाती है। सन्त-साहित्य में प्रथम कोटि की भाषा का प्रयोग हुआ है। सन्त-साहित्य में भावों की प्रधानता है। चमत्कार और अलंकार तो उनकी भाषा में बड़ी स्वाभाविकता के साथ स्वतः आ गए हैं। उनकी भाषा भावानुगामिनी और भावानुकूल है। सन्तों की भाषा सरल, सीधी और प्रभावशाली है। इनकी भाषा में सरलता और स्वाभाविकता सर्वत्र विद्यमान है। स्वाभाविक दृष्टान्त, उदाहरण, उपमा आदि अलंकारों के प्रयोग से उनकी भाषा में प्रसादात्मकता बढ़ जाती है। निम्नलिखित उद्धरणों में अलंकारों, भाषा, अभिव्यक्ति की सरलता और स्वाभाविकता विशेष हृदयग्राही है :

१—साध बड़े परमारथी, घन ज्यों बरसैं आय ।
तपन बुझावैं और की, अपनो पारस लाय ॥ –कबीर
२—बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूर ।
पंथी को छाया नहीं फल लागै अति दूर ॥–कबीर
३—लिखा लिखी की है नहीं, देखा देखि की बात ।
दुलहा दुलहिन मिलि गये, फीकी पड़ी बरात ॥–कबीर
४—सुन्दर मछरी नीर में, बिचरत अपने ख्याल ।
बगुला लेत उठाइ कै, तोहि ग्रसै यौं काल ॥–सुन्दरदास
५—मिंहदी में लाली रहै, दूध माँहि घिव होय ।
पलटू तैसे सन्त है, हरि बिन रहैं न कोय ॥—पलटूसाहब
६—दसो दिसा मुरचा किहा, बाती दिहा लगाय ।
काया गढ़ में पैसि कै, पलटू लिहा छुड़ाय ॥—पलटूसाहब

भावानुगामिनी, हृदयग्राही, प्रभावशाली और गति से सम्पन्न भाषा का एक उदाहरण यहाँ पर सन्त सुन्दरदास की कविता से प्रस्तुत किया जाता है :

सोवत सोवत सोइ गयो सठ, रोवत रोवत कै बेर रोयो ॥
गोवत गोवत गोइ धरयो धन, खोवत खोवत तैं सब खोयो ॥
जोवत जोवत बीत गये दिन, बोवत बोवत लै विष बोयो ॥
सुन्दर सुन्दर राम भज्यो नहिं, ढोवत ढोवत बोझहि ढोयो ॥

इसी प्रकार के उदाहरण सन्त मलूकदास, पलटूसाहब तथा गरीबदास से भी उद्धत किये जा सकते हैं । इन कवियों में भावाभिव्यक्ति की विचित्र सामर्थ्य है । ये बहुशिक्षित और बहुपठित नहीं थे, पर काव्य-प्रतिभा इनमें बड़ी सुन्दर और हृदयग्राही है । काव्य की सबसे बड़ी कसौटी है उसकी सर्वप्रियता, जनप्रियता और हृदयग्राहिता । जितने बड़े जन-समूह के हृदय को वह स्पर्श करती है, प्रभावित करती है, उतनी ही वह अपने लक्ष्य में सफल और महान है । भाषा और शैलीगत सौन्दर्य से सम्पन्न होने के अनन्तर भी यदि उस भावना में हृदय को प्रभावित करने की सामर्थ्य नहीं है, शक्ति नहीं है, तो वह काव्य चिरस्थायी नहीं हो सकता है ।[1] सन्तों के काव्य के चिरस्थायी होने का सबसे बड़ा कारण

1. It may be quite true that fine and telling rhythms without substance (substance of idea, suggestion, feeling) are hardly poetry at all, even if they make good verse.
—*Letters of Sri Aurobindo* (Third Series), p. 11.

यह है कि उसमें मानव-हृदय की शाश्वत भावनाओं और प्रवृत्तियों का चित्रण बड़ी सचाई के साथ किया गया है। इस वैज्ञानिक युग में भी सन्तों के पद रेडियो से प्रसारित होते हैं। यह केवल इसीलिए कि उसमें मानव-हृदय को प्रभावित करने की अद्वितीय क्षमता है, उसमें मानव को प्रभावित करने की सामर्थ्य है। कबीर के निम्नलिखित पद में :

करम गति टारे नाहिं टरी ॥
मुनि बसिष्ट से पण्डित ज्ञानी, सोधि के लगन धरी।
सीता हरन मरन दसरथ को, बन में बिपति परी ॥
कहँ वह फन्द कहाँ वह पारधि, कहँ वह मिरग चरी।
सीता को हरि ले गयो रावन, सोने की लंक जरी ॥
नीच हाथ हरिचन्द बिकाने, बलि पाताल धरी।
कोटि गाय नित पुन्नि करत नृप, गिरगिट जोनि परी ॥
पाण्डव जिनके आपु सारथी, तिन पर बिपति परी।
दुरजोधन को गर्व घटायौ, जदु कुल नास करी ॥
राहु केतु औ भानु चन्द्रमा, विधि संजोग परी।
कहत कबीर सुनो भाइ साधो, होनी होके रही ॥

भाषा की भावानुकूलता

भाषा का भावानुकूल होना परम आवश्यक है। काव्य के दो प्रधान तत्त्व हैं—एक भाव और दूसरा भाषा। भाषा की दृष्टि से काव्य की उत्तमता या श्रेष्ठता उसके शब्द-चयन, वाक्य-रचना एवं वर्णन शैली में देखी जाती है तथा भाव या विषय की उत्तमता की खोज भाव-गाम्भीर्य, अर्थ-गौरव और रचना के उद्देश्य से की जाती है। प्रथम कोटि के कवि का ध्यान भाषा एवं काव्य के बहिरंग को समलंकृत करने में ही केन्द्रित रहता है और द्वितीय कोटि का कवि भावों को अधिकाधिक आकर्षक बनाने में संलग्न रहता है। वह वर्ण्य विषय के गाम्भीर्य द्वारा आनन्द की सृष्टि करता है। उसके भावों की व्यञ्जना में किसी प्रकार के काव्य के बहिरंग की आवश्यकता नहीं होती है। उसके भाव स्वतः शब्दों द्वारा रमणीय रूप में व्यक्त हो जाते हैं। भाव काव्य की सबसे बड़ी शक्ति है। भाषा-दोष क्षम्य है, पर भाव-दोष अक्षम्य है। काव्य-सरिता सुरसरि की भाँति वक्र होने पर भी अन्तःपूतसलिला बनी रहने के कारण अभिनन्दनीय हुआ करती है। काव्य की श्रेष्ठता उसके भावों में है। परन्तु जिस रचना में भाषा भावों के अनुकूल प्रवाहित होती है, वहीं सच्चा काव्यानन्द सम्प्राप्त होता है।

अतः भाषा का भावानुकूल होना आवश्यक है। इतना ही पर्याप्त नहीं है कि शब्दों में कर्णकटुता न हो, वरन् यह भी आवश्यक है कि उच्चारण मात्र से भाव ध्वनित हो जाए। सन्तों की काव्य-भाषा में यह गुण विद्यमान है। उनकी भाषा जीवन की क्षणभंगुरता, काल की भयानकता, मृत्यु की भयंकरता और संसार की विनाशशीलता को उभार करके, साकार रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत कर देती है। इतना ही नहीं, इन्होंने जहाँ 'पाण्डे' को सम्बोधित किया है, वहाँ भाषा शुद्ध हिन्दी है और जहाँ 'मीर' या 'मियाँ' को सम्बोधित किया, वहाँ भाषा अरबी-फारसी के रंग से अनुरंजित है। तात्पर्य यह है कि इनकी भाषा प्रसंग और व्यक्ति के अनुकूल है। उदाहरणार्थ :

मीयाँ तुम्हसों बोल्याँ बनि नहि आवै।
हम मसकीन खुदाई बन्दे, तुम्हारा जस मनि भावै॥
अल्लाह अवलि दीन का साहिब, जोरि नहीं फुरमाया।
मुरसिद पीर तुम्हारे है को, कहो कहाँ थै आया॥

एक उदाहरण मलूकदास से भी यहाँ प्रस्तुत किया जाता है :

दर्द दिवाने बावरे अलमस्त फकीरा।
एक अकीदा लै रहे, ऐसे मन धीरा॥

सन्तों ने प्रसंगानुकूल भाषा और शब्दों की योजना भी की है। जहाँ जैसा भाव है, उसी के अनुकूल शब्द एकत्र करके उन्होंने विषय को प्रभावशाली बना दिया है। यहाँ दो-एक उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं :

१—सतगुरु है रंगरेज, चुनर मेरी रंग डारी॥
स्याही रंग छुडाइ के रे, दियो मजीठा रंग।
धोये से छूटै नहीं रे, दिन दिन होत सुरंग॥
भाव के कुण्ड नेह के जल में, प्रेमरंग दई बोर।
चसकी चास लगाइ के रे, खूब रंगी झकझोर॥
सतगुरु ने चुनरी रंगी रे, सतगुरु चतुर सुजान।
सब कुछ उनपर वार दूँ रे, तन मन धन औ प्रान॥
कहै कबीर रंगरेज गुरु रे, मुझ पर हुए दयाल।
सीतल चुनरी ओढ़ि के रे, भई हौ मगन निहाल॥

२—चेतन है तो चेत ले, निसि दिन में प्रानी।
दिन दिन अवधि विहात है, फूटै घट ज्यों पानी॥

हरि गुन काहे न गावही, मूरख अज्ञाना।
झूठे लालच लागि कै, नहिं मर्म पिछाना॥
अजहूँ कछु बिगरयो नहीं, जो प्रभु गुन गावै।
कहु नानक तेहि भजन तें, निरभय पद पावै॥

पहला पद कबीर का है और द्वितीय नानक का। पहले पद की प्रथम चार पंक्तियों से उल्लास, अनुराग, प्रसन्नता और हर्ष का भाव प्रगट होता है। द्वितीय पद की 'छिन छिन अवधि बिहात' आदि से क्षण-भगुंरता का आभास मिलता है। इस प्रकार के उदाहरणों को पढ़कर महाकवि टेनिसन की उक्ति स्मरण हो जाती है कि 'कलात्मक ढंग से सुन्दरतम शब्दों का एकत्रीकरण ही काव्य है।'

सन्त-कवि भाषा और शब्दों द्वारा वातावरण की सृष्टि कर देने में भी बड़े कुशल थे। उनके द्वारा वर्णित संसार की अनस्थिरता मानव की क्षणभंगुरता, काल की कठोरता और विकरालता, पढ़ते-पढ़ते एक वातावरण की सृष्टि हो जाती है, जो हमें अपनी सशक्त भाव-धारा के साथ बहा ले जाता है और हमारे मस्तिष्क पर सजातीय भावों की रचना कर देता है। इस कथन के समर्थन के लिए उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है, कारण कि सन्त-साहित्य में ऐसे सहस्रों पदों एवं साखियों की रचना हुई है, जो हमें संसार की क्षणभंगुरता की दृष्टि से बहुत प्रभावित करते हैं। कबीर का प्रस्तुत पद देखिए, कितना मार्मिक और प्रभावशाली है :

आई गवनवाँ की सारी, अबहुँ उमिरि मोरी बारी॥
साज समाज पिया लै आये और कहरिया चारी।
बम्हना बेदरदी अँचरा पकरि कै, जोरत गठिया हमारी॥
विधि गति वाम कछु समझ परत ना, वैरी भई महतारी।
रोय रोय अँखिया मोर पोछत, घरवाँ से देत निकारी॥
गवन कराय पिया लै चाले, इत उत बाट निहारी।
छूटत गाँव नगर से नाता, छूटै महल अटारी॥
नदिया किनारे बलम मोर रसिया, दीन्ह घुँघट पट टारी।
थरथराय तन काँपन लागे, काहू न देख हमारी॥
कहै कबीर सुनो भाई साधो, यह पद लेहु विचारी।
अबके गौना बहुरि नहिं औना, करि ले भेंट अँकवारी॥

यहाँ पर शब्द इतने शक्तिशाली हैं कि भावों को हृदयंगम कराके पाठक पर अपना व्यापक प्रभाव हर प्रकार से डालते हैं।

भाषा की उत्तमता

उत्तम भाषा वही है, जो भावों में तीव्रता लाकर उसकी उत्तमता को प्रकट कर दे। जहाँ भाषा में क्लिष्टता होती है, क्लिष्ट शब्दों से लदी हुई होती है, जहाँ पर कवि द्वारा गढ़े हुए असंगत शब्दों की भरमार होती है, वहाँ भाषा की वाक्य-योजना विशृंखल और शैली जटिल होती है। ऐसे ही प्रसंगों के लिए प्रसिद्ध है कि 'काव्यं श्रुतम् अर्थो नागवतः', अर्थात् 'काव्य सुना पर समझा नहीं।' कविता की भाषा को भावानुगामिनी और मनोहारिणी होना चाहिए। उसमें कहीं माधुर्य हो, कहीं प्रसाद और कहीं ओज गुण की योजना हुई हो। ऐसी कविता पाठकों पर अपना प्रभाव डालती है। किसी अंग्रेज कवि ने कहा है कि मैं कविता को पहले नाद-सौन्दर्य के लिए और पुनः अर्थ-बोध के लिए सुनना चाहता हूँ।[१]

अब सन्त-साहित्य पर आइए। सन्तों ने दो प्रकार के साहित्य की रचना की है। प्रथम वह, जिसकी रचना जनता के सामान्य वर्गों के लिए की गई है। द्वितीय वह है, जो सम्प्रदायों के विशेष अधिकारियों के लिए विरचित हुआ है। प्रथम कोटि के साहित्य की विशेषताएँ हैं सरलता, सहजता, सजीवता और प्रभावित करने की अद्वितीय शक्ति। द्वितीय कोटि का साहित्य गूढ़ आध्यात्मिक तत्त्वों से परिपूर्ण होने के कारण क्लिष्ट है और चमत्कार की प्रधानता है। प्रथम कोटि का वह साहित्य, जो जनता के लिए लिखा गया है, निश्चय ही बड़ा सुन्दर, मनोरम और सरल है। सन्तों की भाषा में माधुर्य और प्रसाद गुण मिलते हैं। ओज के दर्शन वहाँ पर होते हैं, जहाँ सन्त कवि सूरमा की प्रशंसा करते हैं या पंच विकारों से युद्ध करने की बात का उल्लेख करते हैं। सन्तों की रचनाओं में नाद-सौन्दर्य के साथ-ही-साथ रस की अभिव्यक्ति भी सुस्पष्ट है। क्षेमेन्द्र ने सत्य ही कहा था कि कविता छन्द-योजना, रसों और वर्णनीय विषयों के अनुकूल ही करनी चाहिए, जिससे नाद-सौन्दर्य के साथ-ही-साथ रस की अभिव्यक्ति सुस्पष्ट हो :

काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित्॥

---

१. Repeat me verses again... for I always love to hear poetry twice, first time for sound and the latter time for sense.

—*The Rudiments of Criticism.*

राजकमल के आलोचनात्मक प्रकाशन

नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक :	डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृथ्वीनाथ द्विवेदी	१०.००
बिहारी सतसई :	डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त	३.२५
रस सिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण :	डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित	११.००
हिन्दी उपन्यास :	डॉ० सुषमा धवन	११.००
हिन्दी काव्य में अन्योक्ति :	डॉ० संसारचन्द्र	१२.५०
आलोचना के सिद्धान्त :	शिवदानसिंह चौहान	३ ५०
कवि प्रसाद :	डॉ० भोलानाथ तिवारी	४.००
कबीर और उनका काव्य :	,,	४.५०
प्रेमचन्द : एक विवेचन :	डॉ० इन्द्रनाथ मदान	३.५०
पृथ्वीराज रासो में कथानक रूढ़ियाँ :	व्रजविलास श्रीवास्तव	३.५०
हिन्दी रीति-साहित्य :	डॉ० भगीरथ मिश्र	६.००
मध्यकालीन हिन्दी-गद्य :	हरिमोहन श्रीवास्तव	३.००
मुन्शीजी और उनकी प्रतिभा :	सीताराम चतुर्वेदी	३.००
प्रेमचन्द और गोर्की :	सं० शचीरानी गुर्टू	७.००

राजकमल प्रकाशन

८, फ़ैज बाजार, दिल्ली-६ साइंस कालेज के सामने, पटना-६